Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ॐ

श्री वीतरागाय नमः।

पञ्चाध्यायी-

सुबोधिनी टीका समेत।

टीकाकार—

चावली (आगरा) निवासी पंडित मक्खनलालजी
शास्त्री (वादीभकेसरी न्यायालंकार)
प्रधानाध्यापक ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम,
हस्तिनापुर। (मेरठ)

प्रकाशक—

चावली (आगरा) निवासी लालाराम जैन।
मालिक, ग्रंथप्रकाश कार्यालय, इंदोर।

प्रथमावृत्ति] वी० नि० सं० २४४४. [न्योछावर ५॥) रु०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशक—
पंडित लालाराम जैन ।
मालिक, ग्रन्थप्रकाश कार्यालय,
मल्हारगंज, इन्दौर ।



मुद्रक—
मूलचन्द्र किसनदास कापड़िया,
"जैनविजय" प्रिन्टिंग प्रेस,
खपाटिया चकला, सूरत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्री अर्हद्भ्यो नमः ।

भूमिका ।



यह पञ्चाध्यायी ग्रन्थ जैन सिद्धान्तके उच्चतम कोटिके ग्रन्थोंमेंसे एक अद्वितीय ग्रन्थ है। वर्त्तमान समयके विद्वान् तो इस ग्रन्थको असाधारण और गम्भीर समझते ही हैं, किन्तु ग्रन्थकर्त्ताने स्वयं इसे ग्रन्थराज कहते हुए इसके बनानेकी प्रतिज्ञा की है। जैसा कि "पञ्चाध्यायावयवं मम कर्तुर्ग्रन्थराजमात्मवशात्" इस आदि श्लोकार्धसे प्रकट होता है।

इस ग्रन्थमें जिन महत्व पूर्ण विषयोंका विस्तृत विवेचन किया गया है, उन सबका परिज्ञान पाठकोंको इसके स्वाध्याय और मनन करनेसे ही होगा, तथापि संक्षेपमें इतना कहना अनुचित न होगा कि यह ग्रन्थ जितना उपलब्ध है, दो भागोंमें बँटा हुआ है। (१) द्रव्य विभाग (२) सम्यक्त्व विभाग। द्रव्य क्या पदार्थ है ? वह गुणोंसे भिन्न है या अभिन्न ? उसमें उत्पत्ति स्थिति विनाश ये तीन परिणाम प्रतिक्षण किस प्रकार होते हैं ? गुण पर्यायोंका क्या लक्षण है ? इत्यादि बातोंका अनेक शंका समाधानों द्वारा स्पष्ट विवेचन पहले विभागमें (पहले अध्यायमें) किया गया है। इसी विभागमें प्रमाण, नय, निक्षेपोंका विवेचन भी बहुत विस्तारसे किया गया है। दूसरे विभाग (द्वितीय अध्याय) में जीवस्वरूप, सम्यक्त्व, अष्ट अंग, और अष्ट कर्मोंका विवेचन किया गया है। यह विभाग अध्यात्म विषय होनेके कारण प्रथम विभागकी अपेक्षा सर्व साधारणके लिये विशेष उपयोगी है।

इस ग्रन्थके अवलोकनसे जैनेतर विद्वान् भी जैन सिद्धान्तके तत्त्वविचार और अध्यात्मचर्चाके अपूर्व रहस्यको समझ सकेंगे।

ग्रन्थकारने पांच अध्यायोंमें पूर्ण करनेके उद्देश्यसे ही इस ग्रन्थका पञ्चाध्यायी नाम रक्खा है और इसी लिये अनेक स्थलोंपर कतिपय उपयोगी विषयोंको आगे निरूपण करनेकी उन्होंने प्रतिज्ञा की है। जैसे—' उक्तं दिङ्मात्रतोप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतं, वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशात् सविस्तरम्, तथा ' उक्तं दिङमात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणं, शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ' इत्यादि प्रतिज्ञावाक्योंसे विदित होता है कि ग्रन्थकारका आशय इस ग्रंथको बहुत विस्तृत बनाने और उसमें समग्र जैन सिद्धान्तरहस्यके समावेश करनेका था, परन्तु कहते हुए हृदय कंपित होता है कि श्रेयांसि बहु विघ्नानि,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस लोकोक्तिके अनुसार ग्रन्थकारका मनोरथ पूर्ण न हो सका और कुछ कम दो अध्याय रचकर ही उन्हें किसी भारी विघ्नका सामना करना पड़ा जिसके विषयमें हम सर्वथा अज्ञात हैं। वर्त्तमानमें यह ग्रन्थ इतना ही (१९१३ श्लोक प्रमाण) सर्वत्र उपलब्ध होता है।

यह टीका कोल्हापुर यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित मूल प्रतिके आधारपर की गई है, जिसे हमने पूज्यवर गुरुजीसे अध्ययन करते समय शुद्ध किया था, और जब हमारा शास्त्रार्थके समय अजमेर जाना हुआ तब वहांकी लिखित प्रतिसे छूटे हुए पाठोंको भी ठीक किया, तथा गतवर्ष यात्रा करते हुए जैनबद्री (श्रवणबेलगुल) में श्रीमद्राजमान्य दौर्बलि शास्त्रीके प्राचीन ग्रन्थभण्डारसे प्राप्त लिखित प्रतिसे भी अपनी प्रतिको मिलाया। इस भांति इसग्रन्थके संशोधनमें यथासाध्य यत्न किया गया है, किन्तु फिर भी २–३ स्थलोंपर छन्दोभंग तथा चरण भंग अब भी रह गये हैं, जो कि विना आश्रयके संशोधित न कर ज्योंके त्यों रख दिये गये हैं।

इस ग्रन्थके रचियता कौन हैं ? इसका कोई लिखित प्रमाण हमारे देखनेमें नहीं आया है, संभव है कि ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारका कुछ परिचय मिलता, खेद है कि ग्रन्थके अधूरे रह जानेके कारण इसके कर्त्ताके विषयमें इस ग्रन्थसे कुछ निश्चय नहीं होता है। ऐसी विकट समस्यामें ग्रन्थकारका अनुमान उसके रचे हुए अन्य ग्रन्थोंकी कथन शैली, मङ्गलाचरण, विषय समता, पद समता आदिसे किया जाता है। इसी आधार पर हमारा अनुमान है कि इस ग्रन्थराज–पञ्चाध्यायीके कर्त्ता वे ही स्वामी अमृतचन्द्राचार्य हैं, जो कि समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय ग्रन्थोंके टीकाकार, तथा नाटक समयसार कलशा, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसारके रचयिता हैं। इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि उपर्युक्त ग्रन्थ आचार्य वर्य–अमृतचन्द्र सूरि कृत हैं, कारण उनमेंसे कतिपय ग्रन्थोंके अन्तमें उक्त सूरिने अपना नामोल्लेख किया है। पुरुषार्थ सिद्ध पाय और तत्त्वार्थसार इन दो ग्रन्थोंमें ग्रन्थकर्त्ताका नामोल्लेख नहीं है, तो भी समस्त जैन विद्वान् इन ग्रन्थोंको स्वामी अमृतचन्द्र सूरि कृत ही मानते हैं, यह बात निर्विवाद है। हमारा अनुमान है कि उक्त दोनों ग्रन्थोंके रचयिताका अनुमान जैन विद्वानोंने उनकी रचना शैलीसे किया होगा, अतः हम भी इसी रचना शैलीकी समता पर अनुमान करते हैं कि इस पञ्चाध्यायीके कर्त्ता भी उक्त आचार्य हैं।

अब हम पाठकोंको पञ्चाध्यायी और श्रीमत् अमृतचन्द्र सूरि कृत अन्य ग्रन्थोंकी समताका यहां पर कुछ दिग्दर्शन कराते हैं, साथ ही आशा करते हैं कि जिन विद्वानोंने उक्त आचार्यके बनाये हुए ग्रन्थोंके साथ ही पञ्चाध्यायीका अवलोकन किया है अथवा करेंगे तो वे भी हमसे अवश्य सहमत होंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क—स्वामी अमृतचन्द्रसूरि विरचित हरएक ग्रन्थके मङ्गलाचरणोंमें अनेकान्त—जैन शासन और केवलज्ञान ज्योतिको ही नमस्कार करनेकी प्रधानता पाई जाती है, जैसा कि निम्न लिखित मङ्गलाचरणोंके वाक्योंसे स्पष्ट है—

(१) **जीयाज्जैनं शासनमनादिनिधनम्** (पञ्चाध्यायी) (२) **जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धतिः** (पञ्चास्तिकाय टीका) (३) **अनन्तधर्मणस्तत्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः अनेकान्तमयी मूर्तिः** (नाटक समयसार कलशा) (४) **अनेकान्तमयं महः** (प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति) (५) **अर्थालोकनिदानं यस्य वचः** (पञ्चाध्यायी) (६) **जयत्यशेषतत्त्वार्थप्रकाशि** (तत्त्वार्थसार) (७) **तज्जयति परं ज्योतिः** (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय) (८) **ज्ञानानन्दात्मने नमः** (प्रवचनसार टीका)

ख—निम्न लिखित श्लोकोंसे शब्द रचना तथा भावोंकी समता भी मिलती है—

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः ।
अज्ञानमयभावानां नावकाशः सुदृष्टिषु ॥ (पञ्चाध्यायी)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेप्यज्ञाननिर्वृता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥ (नाटकसमयसारकलशा)

निश्चयव्यवहाराभ्यामविरुद्धयथात्मशुद्ध्यर्थम् ।
अपि निश्चयस्य नियतं हेतुः सामान्यमात्रमिह वस्तु ॥ (पञ्चाध्यायी)

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ (तत्त्वार्थसार)

लोकोयं मेहि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोर्थतः ।
नापरो लौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोस्ति मे ॥ (पञ्चाध्यायी)

चिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
लोको यन्न तवापरस्तदपरस्तस्यापि तद्भीः कुतः *
(नाटकसमयसारकलशा)

ग—पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें सिद्ध किया गया है कि रत्नत्रय कर्मबन्धका कारण नहीं है, किन्तु रागद्वेष और कर्मबन्धकी व्याप्ति है । इसी प्रकार पञ्चाध्यायीमें भी शब्दान्तरोंसे उसी बातका निरूपण किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित श्लोकोंसे सिद्ध होता है—

---

* यद्यपि इस प्रकारकी समता भिन्न २ ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है, परन्तु यहां पर दिये हुए अन्य अनुमानोंके साथ उपर्युक्त अनुमान भी प्रकृत विषयका साधक प्रतीत होता है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रत्नत्रयमिदं हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोयमपराधः ॥
येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

यत्पुनः श्रेयसोबन्धो बन्धश्चाऽश्रेयसोपि वा ।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यान्नोपयोगसात् ॥
पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।
सम्यक्त्वे स कुतो न्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥
व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाऽव्याप्तिर्विकल्पैरिव ।
विकल्पैरस्यचाव्याप्ति र्न व्याप्तिः किल तैरिव ॥ (पञ्चाध्यायी)

घ—उक्त सूरिने हरएक विषयको युक्ति पूर्ण लिखनेके साथ ही उसे बहुत प्रकारसे समझानेका प्रयत्न किया है। जैसा कि पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि ग्रन्थोंके हिंसानिषेध, रात्रि भुक्ति निषेधादि प्रकरणोंसे प्रसिद्ध है। पञ्चाध्यायीमें भी हरएक विषयका विवेचन बहुत विस्तृत मिलता है। ऐसी ऐसी बातें भी कथन शैलीमें समताबोधक हैं।

च—श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्यने प्रत्येक ग्रन्थमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण, पर्याय, प्रमाण, निश्चयनय, व्यवहारनय, और अनेकान्त कथनकी ही सर्वत्र प्रधानता रक्खी है, यह बात समयसार प्रवचनसारादि ग्रन्थोंकी टीकाओंसे और पुरुषार्थसिद्ध्युपायादि स्वतन्त्र ग्रन्थोंसे भली भांति निर्णीत है। यद्यपि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और तत्त्वार्थसारको उन्होंने दूसरे २ विषयों पर रचा है, तथापि उक्त ग्रन्थोंके आदि अन्तमें अनेकान्तका ही प्रतिपादन किया है। इस प्रकार जो उनका प्रधान लक्ष्य (उत्पाद व्यय ध्रौव्य, निश्चय व्यवहार नय, प्रमाण, अनेकान्त आदि) था, उसीका उन्होंने पञ्चाध्यायीमें स्वतन्त्र निरूपण किया है। इस तत्त्वकथन शैलीसे तो हमें पूरा विश्वास होता है कि पञ्चाध्यायीके कर्त्ता अनेकान्त प्रधानी आचार्यवर्य—अमृतचन्द्र सूरि ही हैं *। उक्त सूरि विक्रम सम्वत् ९६२ में हुए हैं।

जिन दिनों (सन् १९१९ में) जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी सम्पादक "जैनमित्र" श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रमके अधिष्ठाता नियत होकर यहां ठहरे थे उन्होंने कुछ काल तक इस ग्रन्थको हमारे साथ विचारा और साथ ही इसकी हिन्दी टीका लिखनेके लिये हमें

* हमारे गुरुवर्य पूज्यवर पं० गोपालदासजीका भी ऐसा ही अनुमान था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रेरित किया, उन्हींकी प्रेरणाके प्रतिफलमें आज हम इस महान् ग्रन्थकी हिन्दी–सुबोधिनी टीका बनाकर पाठकोंके समक्ष रखनेमें समर्थ हुए हैं। इसके लिये हम माननीय ब्रह्मचारीजीके अति कृतज्ञ हैं, और इस कृतज्ञताके उपलक्ष्यमें आपको कोटिशः धन्यवाद देते हैं। साथ ही मित्रवर पं० उमरावसिंहजी न्यायतीर्थ प्रधानाध्यापक दि० जैन महाविद्यालय मथुराको भी हम धन्यवाद दिये बिना न रहेंगे, आपसे जब कभी हमने पत्रद्वारा कुछ शङ्काओंका समाधान चाहा तभी आपने स्वबुद्धि कौशलसे तत्काल ही उत्तर देकर हमें अनुगृहीत किया।

इस टीकाका संशोधन विद्वद्वर श्रीमान् पं० लालारामजी शास्त्रीने किया है, आप हमारे पूज्यवर सहोदर हैं तथा विद्यागुरु भी हैं। इसलिये हम आपको सविनय प्रणामाञ्जलि समर्पित करते हैं।

इस अनुवादके लिखनेमें हमको किसी ग्रन्थ विशेषकी सहायता नहीं मिली, कारण कि मूल ग्रन्थके सिवा इस ग्रन्थकी कोई संस्कृत अथवा हिन्दी टीका अभी तक हमारे देखने सुननेमें नहीं आई है, अतः हम नहीं कह सकते कि हमारा प्रयत्न कहां तक सफल हुआ होगा, विद्वद्वर्ग इसका स्वयं अनुभव कर सकेंगे।

तत्त्वविवेचन तथा अध्यात्म सम्बन्धी ग्रन्थोंके अनुवादमें पदार्थकी अपेक्षा भावार्थकी मुख्यता रखना विशेष उपयोगी होता है, ऐसा समझ कर हमने इस टीकामें पद २ का अर्थ न लिखकर अर्थमें पूरे श्लोकका मिश्रित अर्थ लिखा है और भावार्थमें उसी विषयको विस्तारसे लिखा है। यद्यपि भावार्थ सर्वत्र ग्रन्थानुसार ही लिखा गया है, परन्तु कहीं २ पर उसी विषयको विशेष स्फुट करनेके लिये ग्रन्थसे बाहरकी युक्तियां भी लिखी गई हैं तथा अष्टसहस्री, गोम्मट्टसारादि ग्रन्थोंके आशयोंका भी जहां कहीं टिप्पणीमें उल्लेख किया गया है जो श्लोक सरल समझे गये हैं, उनका अर्थ मात्र लिखा गया है।

हमने सर्व साधरणके समझने योग्य भाषामें इस टीकाके लिखनेका भरसक प्रयत्न किया है। संभव है विषयकी कठिनताके कारण हम कहीं २ अपने इस उद्देश्यसे च्युत हुए हों, तथा भावज्ञानसे भी स्खलित हुए हों, इसके लिये हमारा प्रथम प्रयास समझ कर सज्जन-विद्वज्जन हमें क्षमा प्रदान करनेमें थोड़ा भी संकोच नहीं करेंगे ऐसी पूर्ण आशा है।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

२४–९–१९१८
श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम
हस्तिनापुर (मेरठ)

निवेदक—
चावली (आगरा) निवासी,
मक्खनलाल शास्त्री।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय-सूची।

उत्तरार्ध।

विषय।	पृष्ठ।
सामान्य विशेषका स्वरूप	१
जीव अजीवकी सिद्धि	४
मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्यका विवेचन	५
सुखादिक अजीवमें नहीं है	८
लोक और अलोकका भेद	९
पदार्थोंमें विशेषता	१०
क्रिया और भावका लक्षण	११
जीव निरूपण	१२
जीव कर्मका संबंध अनादिसे है....	१४
जीवकी अशुद्धताका कारण	१७
बंधका मूल कारण	१९
बंधके तीन भेद....	२०
भावबंध और द्रव्य बन्ध....	२१
उभयबंध	२१
जीव और कर्मकी सत्ता....	२१
ज्ञान मूर्त्त भी है	२५
वैभाषिक शक्ति आत्माका गुण है	२६
अबद्ध ज्ञानका स्वरूप	२८
बंधका स्वरूप	२९
बंधका भेद	३८
बंधके कारणपर विचार....	३९
शुद्ध ज्ञानका स्वरूप	४३
अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप	४४
बंधका लक्षण	४६
अशुद्धता बंधका कार्य भी है और कारण भी है....	४७
जीव शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है	४८

विषय।	पृष्ठ।
जीव और पुद्गल दोनों ही नौ पदार्थ हैं	५३
जीवकी ही नौ अवस्थाएं है	५३
दृष्टान्तमाला	५४
एकान्त कथन और परिहार	५८
नौ पदार्थोंके कहनेका प्रयोजन	५९
सूत्रका आशय....	६१
३ चेतनाके भेद	६२
ज्ञान चेतनाका स्वामी	६४
मिथ्यादर्शनका माहात्म्य....	६४
आत्मोपलब्धिमें हेतु	६९
अशुद्धोपलब्धिका स्वामी	६९
अशुद्धोपलब्धि बंधका कारण है....	६७
मिथ्यादृष्टिका वस्तु स्वाद	७०
ज्ञानी और अज्ञानीका क्रियाफल....	७१
ज्ञानीका स्वरूप....	७२
सम्यग्ज्ञानीके विचार	७३
सांसारिक सुखका स्वरूप	७४
कर्मकी विचित्रता	७५
सम्यग्दृष्टिकी अभिलाषायें शान्त हो चुकी हैं....	७९
अनिच्छा पूर्वक भी क्रिया होती है	८२
इन्द्रिय जन्य ज्ञान	८४
ज्ञानोंमें शुद्धिका विचार....	८६
उपयोगात्मकज्ञान	८७
क्षयोपशमका स्वरूप	८९
कर्मोदय उपाधि दुःखरूप है	९०
अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्धिमें अनुमान	९२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय।	पृष्ठ।
सुख गुण क्या वस्तु है....	९५
अनेकान्तका स्वरूप	९७
दुःखका कारण	९८
वास्तविक सुख कहांपर है	१००
जड़ पदार्थ ज्ञानके उत्पादक नहीं है	१०२
नैयायिक मतके अनुसार मोक्षका स्वरूप	१०५
निज गुणका विकाश दुःखका कारण नहीं है	१०५
सम्यग्दर्शनका स्वरूप	१०७
सम्यग्दर्शनके लक्षणोंपर विचार....	११०
ज्ञानका स्वरूप....	११३
स्वानुभूतिका स्वरूप	११५
श्रद्धादिकोंके लक्षण	११७
श्रद्धादिकोंके कहनेका प्रयोजन....	११८
प्रशमका लक्षण....	१२१
संवेगका लक्षण....	१२२
अनुकंपाका लक्षण	१२५
आस्तिक्यका लक्षण	१२६
निःशंकितका लक्षण	१३२
भय कब होता है और भयका लक्षण व उनके सात नाम....	१३६
निःकांक्षित अंग....	१४६
कर्म और कर्मका फल अनिष्ट क्यों है	१५०
निर्विचिकित्साका लक्षण	१५२
अमूढ़ दृष्टिका लक्षण....	१५५
अरहंत और सिद्धका स्वरूप	१५७
गुरूका स्वरुप	१६०
आचार्यका स्वरूप	१६४

विषय।	पृष्ठ।
आदेश और उपदेशमें भेद	१६४
गृहस्थाचार्य भी आदेशदेनेका अधिकारी है	१६५
आदेशदेनेका अधिकारी अव्रती नहीं है	१६५
गृहस्थोंके लिये दान पूजन विधान	१६६
अन्यदर्शन	१६८
उपाध्यायका स्वरूप	१६९
साधुका स्वरूप....	१७०
आचार्यमें विशेषता	१७२
चारित्रकी क्षति और अक्षतिमें कारण	१७३
शुद्धआत्माके अनुभवमें कारण....	१७४
चारित्रमोहनीयका कार्य....	१७४
आचार्य उपाध्यायमें साधुकी समानता	१७५
बाह्य कारणपर विचार....	१७७
आचार्यकी निरीहता	१७८
धर्म	१८१
अणुव्रतका स्वरूप	१८१
महाव्रतका स्वरूप	१८२
गृहस्थोंके मूलगुण	१८२
अष्ट मूल गुण जैनमात्रके लिये आवश्यक हैं....	१८३
सप्त व्यसनके त्यागका उपदेश	१८३
अतीचारोंके त्यागका उपदेश	१८४
दान देनेका उपदेश	१८४
जिनपूजनका उपदेश	१८६
गुरु पूजाका उपदेश	१८६
जिनचैत्य गृहका उपदेश	१८६
तीर्थयात्राका उपदेश	
जिन बिम्बोत्सवमें संमिलित होनेका उपदेश	१८९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विषय।	पृष्ठ।
संयम धारण करनेका उपदेश	१८९
यतियोंके मूलगुण	१९०
उत्तर क्रियारूप व्रतोंका फल	१९१
व्रतका लक्षण	१९१
व्रतका स्वरूप	१९२
भावहिंसासे हानि	१९३
परका रक्षण भी स्वात्म रक्षण है	१९३
शुद्ध चारित्र ही निर्जराका कारण है	१९४
यथार्थ चारित्र	१९५
सम्यग्दर्शनका माहात्म्य	१९९
बंध मोक्ष व्यवस्था	२००
उपगूहन अंगका लक्षण....	२०२
कर्मोंके क्षयमें आत्माकी विशुद्धि....	२०४
स्थितिकरण अंगका लक्षण	२०५
स्वोपकारपूर्वक परोपकार	२०८
वात्सल्य अंगका लक्षण....	२०९
प्रभावना अंगका स्वरूप	२१०
बाह्य प्रभावना	२११
किन्हीं नासमझोंका कथन	२१२
ध्यानका स्वरूप	२१६
छद्मस्थोंका ज्ञान संक्रमणात्मक है....	२१७
उपयोगात्मक ज्ञानचेतना सदा नहीं रहती	२१९
सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण	२२६
राग और उपयोगमें व्याप्ति नहीं है	२२८
राग सहित ज्ञान शांत नहीं है....	२३५
बुद्धिपूर्वक राग	२३५
अबुद्धिपूर्वक राग	२३६
ज्ञान चेतनाको राग नष्ट नहीं कर सक्ता है	२३८
सिद्धान्त कथन....	२३९

विषय।	पृष्ठ।
सम्यक्त्वके भेद....	२४२
चारों बंधोंका स्वरूप	२४३
अनुभाग बंधमें विशेषता....	२४८
चेतना तीन प्रकार हैं	२४९
सर्व पदार्थ अनंत गुणात्मक हैं	२४९
वैभाविक शक्ति....	२५१
विकृतावस्थामें वास्तवमें जीवकी हानि है	२५३
पांच भावोंके स्वरूप	२५६
गतिकर्मका विपाक	२५९
मोहनीय कर्मके भेद	२६२
अज्ञान औदयिक नहीं है	२६५
कर्मोंके भेद प्रभेद	२६६
एक गुण दूसरेमें अंतर्भूत नहीं है	२६९
औदयिक अज्ञान	२७३
अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी सिद्धि	२७५
आलापोंके भेद....	२७८
बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वके दृष्टान्त	२८०
नोकषाकके भेद....	२९०
नाम कर्मका स्वरूप	२९२
द्रव्य वेदसे भाव वेदमें सार्थकता नहीं आती है....	२९४
अज्ञानका स्वरूप....	२९७
सामान्य शक्तिका स्वरूप	३००
वेदनीय कर्म सुखका विपक्षी नहीं है	३०१
असंयत भाव	३०१
संयमके भेद व स्वरूप	३०२
कषायोंका कार्य	३०५
कषाय और असंयमका लक्षण	३०७
असिद्धत्व भाव....	३०९
सिद्धत्व गुण	३१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्धिपत्र ।

प्रथम अध्याय ।

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
७४	११	पर्यायनिपेक्ष	पर्यायनिरपेक्ष
७७	११	अमाव	अभाव
७८	२९	चूकी हैं	चुका है
९०	१०	तस्मद्विधि	तस्माद्विधि
९५	१	पक्षात्मो	पक्षात्मा
९६	१	०	अर्थ
१०५	१९	ह	है
१२०	२	वीर्त	वर्तित
१२१	१	दृष्टांतभास	दृष्टांताभास
१२१	११	अद्वैत्	अद्वैत
१२३	२७	सन्नप	सन्नय
१२५	८	निरोध	विरोध
१२९	२९	किश्चित्	किंचित्
१३८	११	खंडन	खंड न
१३८	१४	गुंफिकतैक	गुंफितैक
१५४	१८	(स्त्र)	(शस्त्र)
१५६	४	दूसरे	दूसरा
१५९	९	इससिये	इसलिये
१६०	२	विमाव	विभाव
१६२	२२	उपयुक्त	उपर्युक्त
१६३	९	वस्तुका	वस्तुका गुण
१६४	१	सिद्धात्वात्	सिद्धत्वात्
१६५	२४	मावमय	भावमय
१६९	२८	आवयवी	अवयवी
१७१	२५	नाशंकयं	नांशंक्यं
१७३	१७	कतृता	कर्तृता

पृष्ठ.	पंक्ति.	शुद्ध.	अशुद्ध.
१८५	२९	त य	न पर्यय
१८५	२९	द्रव्यं गुणो न य	द्रव्यं गुणो न पर्यय
१९०	१०	निश्चयन यस्य	निश्चयनयस्य
१९१	१४	विभणिमं	विमणियं
१९२	१०	(मैंसा)	(भेंसा)
१९६	२८	अधीम	आधीन
१९४	१८	निश्चन	निश्चयनय
१९५	२	धत्तः	धतः
१९६	२८	अनुत	अनुगत
१९६	२९	प्रतीत	प्रतीति
१९८	१९	सायान्य	सामान्य
१९८	१९	सायान्य	सामाम्य
२११	७	स्यान्मतिज्ञाने	स्यान्मतिज्ञानं
२१३	१८	साफल्प	साकल्य
२१६	१	तल्लक्षण	तल्लक्षणं
२१८	२२	मधुसूदनः	मधुसूदनः
२१८	२७	विनिसूता	विनिसूताः
२२०	११	नाम	नाममें
२२५	१६	व्यवहारन्तर्भूतो	व्यवहारान्तर्भूतो
२२५	१८	अनय	अनन्व
२२५	२८	पयायें	पर्यायें
२२६	२२	भोज्यं	योज्यं

द्वितीय अध्याय ।

२	८	सामाम्य	सामान्य
३	२६	मिताण	मित्ताण
६	२२	इंद्रि?यों	इंद्रियों
७	१०	उसक	उसका

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पृष्ठ.	पंक्ति.	अशुद्ध.	शुद्ध.
१०	११	ने	न
१७	२२	जावकी	जीवकी
२७	२९	कम	कर्म
१८	२८	कर्मों	कर्मो
१९	२७	प्रत्थर	पत्थर
२२	१	उपर	ऊपर
२३	२३	दार्ष्टात	दार्ष्टांत
३०	४	ग	न
३०	२९	कीय	कार्य
३५	८	अर्पक्षा	अपेक्षा
४१	२८	उत्	उक्त
५४	१४	अलमोनियम	एल्यूमीनियम
६१	१४	श्रीमद्भवान्	श्रीमदद्भगवान्
८३	२१	आग्राह्य	अग्राह्य
८६	२४	मेद	भेद
८७	१२	क्षयोमशम	क्षयोपशम
८८	२७	शरिर	शरीर
९९	२२	शारिरिक	शारीरिक
१०४	२४	भून्द्रान्ति	भूद्भ्रांति
१०५	२	पीताग्वादि	पीतत्वादि
११६	५	घूआं	धूआं
१२६	२५	इसकिये	इसलिये
१४९	२२	ज्ञकाकार	शंकाकार
१५२	२६	अदर्शन	सद्दर्शन
१५२	२६	निर्विकित्सा	निर्विचिकित्सा
१७७	१२	शसान	शासन
१८०	५	प्राट	प्रगट
१९१	२५	नदेकस्य	तदेकस्य
२११	२१	विधीयतामू	विधीयताम्

पृष्ट.	पंक्ति.	शुद्ध.	अशुद्ध.
२१२	१७	ज्ञान चतना	ज्ञान चेतना
२१३	१६	यावच्छुताभ्यास	यावच्छूताभ्यास
२१६	५	ऐकां	एकां
२१६	१६	प्राप्ति	व्याप्ति
२४६	१	योके	योगके
२४८	३	पाबंध	पापबंध
२४९	१८	धरी	धारी
२७१	१२	भी	ही
२७२	४	भी	ही
२७३	१७	ज्ञान	अज्ञान
३००	१५	मी	भी
३०२	१२	मेद	भेद
३०२	१८	समक्	सम्यक्
३०३	१८	असंमय	असंयम
३०३	२०	संमय	संयम
३०३	२२	इंद्रियों	इंद्रियोंकी
३०३	२८	संयमका	संयमको
३१६	२७	अचिंत्यऽस्वा	अचिंत्यस्वा
३१७	१३	अर्हन्ट	अरहंत
३१७	१८	णिवासिगो	णिवासिणो
३१८	२६	करता	करतापना
३१९	१३	सुद्दिट्ठं	समुद्दिट्ठं
३२०	५	इस	रस
३२२	२७	सीलोचय धर्म	सीलोयधम्म
३२२	२८	लक्कखण	लक्खण
३२२	३०	धण्णे	धण्णे
३३६	२१	लग	लगा

* कहीं कहीं मात्राओंके टूटनेसे शब्दोंकी शुद्धिमें अन्तर आगया है। ऐसे शब्दोंको पाठक महोदय कृपा करके सुधार कर पढ़ें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रीः।

समर्पण।

स्याद्वाद वाराधि, वादिगजकेशरी, न्यायवाचस्पति-

श्रीमान् पं० गोपालदासजी।

गुरुवर!

जैन समाजमें तो आप सर्वमान्य मुकुट थे ही, पर अन्य विद्वत्समाजमें भी आपका प्रतिभामय प्रखर पाण्डित्य प्रख्यात था। आपके उद्देश्य बहुत उदार थे, परन्तु सामायिक प्रगतिके समान धार्मिक सीमाके कभी बाहर न हुए। जैसे अकिंचिनताने आपका साथ नहीं छोड़ा वैसे ही स्वावलम्बन और निरीहताका साथ आपने भी कभी नहीं छोड़ा।

ऐसे समयमें जब कि उच्चतम कोटिके सिद्धान्त ग्रंथोंके पठन पाठनका मार्ग रुका हुआ था, आपने अपने असीम पौरुषसे उन ग्रंथोंके मर्मी १५-२० गण्य मान्य विद्वान् तैयार कर दिये, इतना ही नहीं; किन्तु न्याय सिद्धान्त विज्ञताका प्रवाह बराबर चलता रहे इसके लिये मोरेनामें एक विशाल जैन सिद्धान्त विद्यालय भी स्थापित कर दिया, जिससे कि प्रतिवर्ष सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् निकलते रहते हैं। जैनधर्मकी वास्तविक उन्नतिका मूल कारण यह आपकी कृति जैन समाज हृदय मन्दिरपर सदा अंकित रहेगी।

पश्चाध्यायी एक अपूर्व सिद्धान्त ग्रन्थ होनेपर भी बहुत कालसे लुप्त प्राय था, आपने ही अपने शिष्योंको पढ़ाकर इसका प्रसार किया। कभी २ इसके आधार पर अनेक तात्विक-गम्भीर भाषणोंसे श्रोतृ समाजको भी इस ग्रन्थके अमृतमय रससे तृप्त किया।

पूज्यपाद! आपके प्रसादसे उपलब्ध हुए इस ग्रंथकी आपके आदेशानुसार की हुई यह टीका आज आपके ही कर कमलोंमें टीकाकार द्वारा सादर-सप्रेम-सविनय समर्पित की जाती है।

यदि आपके समक्ष ही इसके समर्पणका सौभाग्य मुझे प्राप्त होता तो आपको भी इस बालकृतिसे सन्तोष होता और मुझे आपकी हार्दिक समालोचनासे विशेष अनुभव तथा परम हर्ष होता, परन्तु लिखते हुए हृदय विदीर्ण होता है कि इस अनुवादकी समाप्तिके पहले ही आप स्वर्गीय रत्न बन गये। आपके इस असमय स्वर्गारोहणसे प्रतीत होता है कि आपको अपनी निष्काम कृतिका फल देखना अभीष्ट नहीं था। अन्यथा कुछ काल और ठहरकर आप अपने शिष्यवर्गका अनुभव बढ़ाते हुए उसकी कार्य परिणतिसे निज कृतिकी सफलता पर सन्तुष्ट होते।

आपका प्रिय शिष्य—

मक्खनलाल शास्त्री।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org



श्रीमान् स्वर्गीय पंडित गोपालदासजी बरैया ।

जन्म सं० १९२३. स्वर्गारोहण सं० १९७४.

यद्युक्तिपंचाननभीसघोषाद्वादीभयूथा विसृजंति दर्पम् ।
विद्वत्सु चाद्यः परिगीयते यो गोपालदासो गुरुरेक एव ॥
सर्वशास्त्ररहस्यज्ञो सर्वतात्त्विकतोषदः ।
सर्वविद्याजुषामग्र्यो गुरुर्गोपालदासकः ॥

'जैनविजय' प्रेस, सूरत ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

सुबोधिनी हिंदी भाषाटीका सहित

पञ्चाध्यायी।

उत्तरार्द्ध वा दूसरा अध्याय-

सामान्य सद्गुण द्रव्य पर्यय व्ययोत्पादन ध्रौव्यकी,
व्यवहार निश्चय नय कथनकी अनेकांत प्रमाणकी।
अतिविशद्व्याख्या हो चुकी पूर्वार्द्धमें अब ध्यानसे,
सम्यक्त्वकी व्याख्या पढ़ो भव हरो सम्यग्ज्ञानसे॥

सिद्धं विशेषवद्वस्तु सत्सामान्यं स्वतो यथा।
नासिद्धो धातुसंज्ञोपि कश्चित् पीतः सितोऽपरः॥१॥

अर्थ—जिस प्रकार वस्तुका सामान्य धर्म स्वयं सिद्ध है उसी प्रकार वस्तुका विशेष धर्म भी स्वतः सिद्ध है। जिसमें सामान्य धर्म पाया जाता है उसीमें विशेष धर्म भी पाया जाता है यह बात असिद्ध नहीं हैं। जिस प्रकार किसी वस्तुकी "धातु" संज्ञा रखदी जाती है यह तो सामान्य है, चांदी भी धातु कहलाती है, सोना भी धातु कहलाता है इसलिये धातु शब्द तो सामान्य है परन्तु कोई धातु पीली है और कोई सफेद है। यह पीले और सफेदका जो कथन है वह विशेषकी अपेक्षासे है।

भावार्थ—संसारमें जितने पदार्थ हैं सभीमें सामान्य धर्म भी पाया जाता है और विशेष धर्म भी पाया जाता है। वस्तुको केवल सामान्य धर्मवाली मानना अथवा केवल विशेष धर्मवाली मानना यह मिथ्यात्व है। यदि सामान्य तथा विशेष दोनों रूपोंसे भी वस्तुका स्वरूप माना जाय, परन्तु निरपेक्ष माना जाय, तो वह भी मिथ्या ही है। इसलिये परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा लिये हुए सामान्य विशेषात्मक उभयात्मकरूप ही वस्तु है। इसी बातको प्रमाणका विषय बतलाते हुए स्वामी माणिक्यनंदि आचार्यने भी कहा है कि "सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः" इसका आशय यह है कि द्रव्य पर्याय स्वरूप उभयात्मक (सामान्य विशेषात्मक) ही वस्तु प्रमाणका विषय है केवल द्रव्य रूप या केवल पर्याय रूप नयका विषय है और वह नय वस्तुके एक देशको विषय करता है। प्रमाण सम्पूर्ण वस्तुको विषय करता है, इसलिये वस्तुका पूर्ण रूप द्रव्य पर्यायात्मक है। इसी कारण द्रव्य दृष्टिसे वस्तु सदा रहती है उसका कभी नाश नहीं होता

परन्तु पर्याय दृष्टिसे वस्तुका नाश हो जाता है क्योंकि पर्यायें सदा एकसी नहीं रहतीं उत्तरोत्तर बदलती रहती हैं। द्रव्यपर्यायकी अपेक्षासे ही वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है।

सामान्य विशेषमें अंतर—

बहुव्यापकमेवैतत् सामान्यं सदृशत्वतः
अस्त्यल्पव्यापको यस्तु विशेषः सदृशेतरः ॥ २ ॥

अर्थ—सामान्य बहुत वस्तुओंमें रहता है। क्योंकि अनेक वस्तुओंमें रहनेवाले समान धर्मको ही सामान्य कहते हैं। विशेष बहुत वस्तुओंमें नहीं रहता, किंतु खास२ वस्तुओंमें जुदा जुदा रहता है। जो बहुत देशमें रहे उसे व्यापक कहते हैं और जो थोड़े देशमें रहे उसे व्याप्य कहते हैं। सामान्य व्यापक है और विशेष व्याप्य है।

भावार्थ—सामान्य दो प्रकारका है। एक तिर्यक् सामान्य, दूसरा ऊर्ध्वता सामान्य। वस्तुओंके समान परिणाम (आकार) को ही तिर्यक् सामान्य कहते हैं। जिस प्रकार काली, पीली, नीली, सफेद, चितकबरी, खण्डी, मुण्डी आदि सभी तरहकी गौओंमें सबका एकसा ही गौरूपी परिणमन है इसलिये सभीको गौ कहते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो काली गौका परिणमन कालीमें ही है। पीलीका पीलीमें ही है। इसीतरह सभी गौओंका परिणमन जुदा जुदा है। परन्तु जुदा जुदा होनेपर भी समान है इसलिये उस समानताके कारण सबोंको गौ शब्दसे पुकारते हैं। इसीका नाम गोत्व सामान्य है। समान परिणामको छोड़कर गोत्व जाति और कोई वस्तु नहीं है।

पूर्व और उत्तर पर्यायमें रहनेवाले द्रव्यको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। जिस प्रकार कि एक मिट्टीके घड़ेको फोड़ देनेसे उसके दो टुकड़े हो जाते हैं। फिर छोटे छोटे अनेक टुकड़े हो जाते हैं? उन टुकड़ोंकी धूलि हो जाती है। इसी प्रकार और भी कई अवस्थायें हो जाती हैं परन्तु मिट्टी सब अवस्थाओंमें पाई जाती है।

इस श्लोकमें "सदृशत्वतः" ऐसा जो सामान्यकी व्यापकतामें हेतु दिया है वह नैयायिक दर्शनमें मानी हुई सामान्य जातिका निराकरण करता है। नैयायिकोंने सामान्य जातिको एक स्वतंत्र पदार्थ माना है उसे नित्य और व्यापक भी माना है, वे लोग सामान्यको दो प्रकारसे मानते हैं। एक महासत्ता, दूसरी अवान्तर (अंतर्गत) सत्ता। महासत्ता द्रव्य गुण कर्म तीनोंमें रहती है अवान्तर सत्तायें बहुतसी हैं। संसारभरके सभी घटोंमें एक ही घटत्व जाति है और वह नित्य है ऐसा उनका सिद्धांत है परन्तु यह सिद्धांत युक्त नहीं है। यदि सभी घटोंमें एक ही घटत्व जाति मानी जाय तो वह रस्सीकी तरह एकरूपसे सर्वत्र फैलेगी, ऐसी अवस्थामें जहां घट नहीं है वहां भी वह पाई जायगी और उसके संबंधसे

घटसे भिन्न पदार्थ भी घट कहलाने लगेंगे इसी प्रकार उसके नित्य माननेमें घटका कभी नाश नहीं होना चाहिये। इसी तरह और भी अनेक दोष आते हैं इसलिये वस्तुके सदृश परिणमनको छोड़कर उससे भिन्न सामान्य नामक कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है।

विना व्यक्तिके सामान्यसे कोई प्रयोजन भी तो नहीं निकलता है। गौसे ही दूध दुहा जाता है । गोत्वसे दूध कोई नहीं दुह सकता है। इसी बातको स्वामी विद्यानंदिने अष्टसहस्रीमें लिखा है कि " न खलु सर्वात्मना सामान्यं वाच्यं तत्प्रतिपत्तेरर्थक्रियां प्रत्यनुपयोगात् नहि गोत्वं वाहदोहादौ उपयुज्यते " इसलिये स्वतन्त्र गोत्व जाति कोई चीज नहीं हैं। केवल समान धर्मको ही सामान्य समझना चाहिये।

इसी प्रकार विशेष भी दो प्रकार है एक पर्याय दूसरा व्यतिरेक। एक द्रव्यमें क्रमसे होने वाले परिणामोंको पर्याय कहते हैं। जिस प्रकार आत्मामें कभी हर्ष होता है कभी विषाद होता है कभी दुःख होता है, कभी सुख होता है।

एक पदार्थकी अपेक्षा दूसरे पदार्थमें जो विलक्षण परिणाम है उसे व्यतिरेक कहते हैं। जिस प्रकार गौसे भिन्न परिणाम भैंसका होता है। पुस्तकसे भिन्न परिणाम चौकीका हैं, इसी लिये गौसे भैंस जुदी है तथा पुस्तकसे चौकी जुदी है

जिस प्रकार * सामान्य स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार विशेष भी वस्तुके परिणमन विशेषको छोड़ कर और कोई वस्तु नहीं है। जो लोग सर्वथा विशेषको द्रव्यसे भिन्न ही मानते हैं वे भी युक्ति और अनुभवसे शून्य हैं।

विशेष द्रव्योंका स्वरूप—

जीवाजीवविशेषोस्ति द्रव्याणां शब्दतोर्थतः।
चेतनालक्षणो जीवः स्यादजीवोप्यचेतनः ॥ ३ ॥

अर्थ—द्रव्यके मूलमें दो भेद हैं जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य। ये दोनों भेद शब्दकी अपेक्षासे भी हैं और अर्थकी अपेक्षासे भी हैं। जीव और अजीव ये दो बाचक रूप शब्द हैं। इनके वाच्य भी दो प्रकार हैं एक जीव और दूसरा अजीव। इस प्रकार शब्दकी अपेक्षासे दो भेद हैं। अर्थकी अपेक्षासे भी दो भेद हैं। जिसमें ज्ञान दर्शनादिक गुण पाये जांय, वह जीव द्रव्य है और जिसमें ज्ञान दर्शन आदिक गुण न पाये जांय वह अजीव द्रव्य है।

भावार्थ—" जित्तियमित्ता सद्दा तित्तियमिताण होंति परमत्था " जितने शब्द होते हैं उतने ही उनके वाच्य रूप अर्थ भी होते हैं। जीव, अजीव ये दो शब्द हैं इसलिये जीव

* सामान्य और विशेषका विशेष कथन " अष्टसहस्री "में " सत्सामान्यात्तु सर्वैक्य पृथग्द्रव्यादि भेदतः । भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् " इस कारिकाकी व्याख्यामें विस्तारसे किया है।

अजीव रूप द्रव्य इनके अर्थ हैं। सामान्य रीतिसे दो ही द्रव्य हैं एक जीव और दूसरा अजीव, परन्तु विशेष रीतिसे अजीवके ही पांच भेद हैं—पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इस प्रकार कुल छह द्रव्य हैं। इनमें जीव द्रव्य तो ज्ञान दर्शन वाला है बाकीके द्रव्य ज्ञान दर्शन रहित (जड़) हैं। इसीलिये जीवको छोड़कर सब अजीवमें ग्रहण कर लिये जाते हैं।

जीव अजीवकी सिद्धि—

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्ताच्चेतनाऽचेतनद्वयम् ।
जीवद्वपुर्घटादिभ्यो विशिष्टं कथमन्यथा ॥ ४ ॥

अर्थ—जीव और अजीव अथवा चेतन और अचेतन ये दो पदार्थ हैं यह बात असिद्ध नहीं है प्रसिद्ध दृष्टान्तसे जीव और अजीव दोनोंकी सिद्धि हो जाती है। यदि जीव और अजीव दोनोंको जुदे जुदे न मानकर एक रूप ही मान लिया जाय तो जीते हुए शरीर-में और घट वस्त्र आदिक जड़ पदार्थोंमें प्रत्यक्ष अन्तर दीखता है वह नहीं दीखना चाहिये इस प्रत्यक्ष भेदसे ही जीव और अजीवकी भिन्न भिन्न सिद्धि हो जाती है।

भावार्थ—यद्यपि आत्मा अनन्त गुणात्मक अमूर्त पदार्थ है। इसलिये उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सक्ता है। तथापि अनादिकालसे मूर्त कर्मोंका सम्बन्ध होनेसे संसारी आत्मा शरीरमें अनुमान प्रमाण और स्वानुभवसे जाना जाता है। प्रत्येक संसारी आत्मा जैसा शरीर पाता है उसी प्रमाण रहता है। जिस शरीरमें आत्मा है वही शरीर जीवित शरीर कहलाता है। जीवित शरीरमें जो जो क्रियायें होती हैं वे ही क्रियायें आत्माकी सिद्धिमें प्रमाण हैं। किसी बातके विषयमें प्रश्न करनेपर ठीक ठीक उत्तर मिलनेसे तथा समझ पूर्वक काम करनेसे, चतुरता पूर्वक बोलनेसे आदि सभी बातोंसे भले प्रकार सिद्ध होता है कि शरीर विशिष्ट आत्मा जुदा पदार्थ है और घट पटादिक जड़ पदार्थ जुदे हैं।

जीव सिद्धिमें अनुमान—

अस्ति जीवः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
यो नैवं स न जीवोस्ति सुप्रसिद्धो यथा घटः ॥ ५ ॥

अर्थ—जीव एक स्वतन्त्र पदार्थ है इस विषयमें सुखादिकोंका स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रमा-ण है जो सुखादिकका अनुभव नहीं करता है वह जीव भी नहीं है, जिस प्रकार कि एक घड़ा।

भावार्थ—मैं सुखी हूं अथवा मैं दुःखी हूं, इस प्रकार आत्मामें मानसिक स्वसंवेदन (ज्ञान) प्रत्यक्ष होता है। सुख दुःखका अनुभव ही आत्माको जड़से भिन्न सिद्ध करता है। घट वस्त्र आदिक जड़ पदार्थोंमें सुख दुःखकी प्रतीति नहीं होती है इसलिये वे जीव भी नहीं हैं। इस व्यतिरेक व्याप्तिसे सुख दुःखादिकका अनुभव करनेवाला जीव पदार्थ सिद्ध होता है।

इति हेतुलक्षनाथेन प्रत्यक्षेणावधारितः ।
साध्यो जीवस्त्वसिद्ध्यर्थमजीवश्च ततोऽन्यथा ॥ ६ ॥

अर्थ—जीवः अस्ति स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात्" पूर्वोक्त श्लोकके अनुसार इस अनुमानसे जीवकी सिद्धि होती है। ऊपरके अनुमान वाक्यमें स्वसंवेदन हेतु प्रत्यक्षरूप है। जीवका अस्तित्व (सत्ता) साध्य है। जिसमें पूर्वोक्त स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप हेतु नहीं है वह जीवसे भिन्न अजीव पदार्थ ह।

मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यका विवेचन–

मूर्तामूर्तविशेषश्च द्रव्याणां स्यान्निसर्गतः।
मूर्तं स्यादिन्द्रियग्राह्यं तदग्राह्यममूर्तिमत् ॥ ७ ॥

अर्थ—छहों द्रव्योंमें कुछ द्रव्य तो मूर्त हैं और कुछ अमूर्त हैं द्रव्योंमें यह मूर्त और अमूर्तका भेद स्वभावसे ही है किसी निमित्तसे किया हुआ नहीं है। जो इन्द्रियोंसे जाना जाय उसे मूर्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके गोचर न हो उसे अमूर्त कहते हैं।

भावार्थ—द्रव्योंमें मूर्त और अमूर्त व्यवस्था स्वाभाविक है। जिसमें रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श पाया जावे उसे ही मूर्त कहते हैं। इसी लिये दूसरी रीतिसे मूर्तका लक्षण यह बतलाया है कि जो इन्द्रियोंसे ग्रहण हो सके वही मूर्त है मूर्तद्रव्यके उपर्युक्त दोनों लक्षण अविरुद्ध हैं। वास्तवमें वही इन्द्रियोंसे ग्रहण हो सकता है जिसमें कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पाया जाता है। क्योंकि इन्द्रियोंके ही विषय, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श पड़ते हैं। चक्षुका रूप विषय है, रसनाका रस विषय है, नाकका गन्ध विषय है, स्पर्शनेन्द्रियका स्पर्श विषय है। कर्णेन्द्रियका विषय शब्द भी रूप रस गन्ध स्पर्शात्मक ही है। इसलिये विषय विषयीकी अपेक्षासे ही मूर्तका लक्षण इन्द्रिय विषय कहा गया है। जो इन्द्रियगोचर है वह तो मूर्त अवश्य है परन्तु जो इंद्रियगोचर नहीं है वह भी मूर्त है जैसे कि पुद्गलका एक परमाणु। इंद्रियगोचर होनेमें स्थूलता कारण है परमाणु सूक्ष्म है इसलिये वह इंद्रियगोचर नहीं है। परंतु वही परमाणु स्थूल स्कंधमें मिल जानेसे स्थूल रूपमें परिणत होकर इंद्रियगोचर होने लगता है। हां स्पर्शनादि प्रत्यक्ष परमाणु अवस्थामें भी हो सकता है। इसलिये इंद्रियगोचरता मूर्तमात्रमें व्यापक है जो इंद्रियगोचर नहीं है वह अमूर्त है।

मूर्तकी तरह अमूर्त भी यथार्थ है–

न पुनर्वास्तवं मूर्तममूर्तं स्यादवास्तवम् ।
सर्वशून्यादिदोषाणां सान्निपातात्तथा सति ॥ ८ ॥

अर्थ—मूर्त पदार्थ ही वास्तविक है अमूर्त पदार्थ वास्तविक नहीं है यह बात भी नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे सब पदार्थोंकी शून्यताका प्रसंग आ जायगा।

भावार्थ—कितने ही पुरुष प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थोंको ही मानते हैं परोक्ष पदार्थोंको

नहीं मानते । परंतु परोक्ष पदार्थोंके स्वीकार किये विना पदार्थोंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती परोक्ष पदार्थोंकी सत्ता अनुमान और आगमसे मानी जाती है । अविनाभावी हेतुसे अनुमान प्रमाण माना जाता है और स्वानुभवन, अखंडयुक्ति तथा अवाधकपनेसे आगम प्रमाण माना जाता है ।

मूर्तका लक्षण—

स्पर्शो रसश्च गन्धश्च वर्णोऽमी मूर्तिसंज्ञकाः ।
तद्योगान्मूर्तिमद्द्रव्यं तदयोगादमूर्तिमत् ॥ ९ ॥

अर्थ—रूप, रस, गन्ध, वर्णका नाम ही मूर्ति है । जिसमें मूर्ति पाई जाय वही मूर्त द्रव्य कहलाता है और जिसमें रूप, रस, गन्ध, वर्णरूप मूर्ति नहीं पाई जाय वही अमूर्त द्रव्य कहलाता है ।

भावार्थ—पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध वर्णरूप मूर्ति पाई जाती है इसलिये वह मूर्त कहलाता है । बाकी द्रव्योंमें उपर्युक्त मूर्ति नहीं पाई जाती इसलिये वे अमूर्त हैं ।

मूर्तका ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है—

नासंभवं भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा ।
सन्निकर्षोस्ति वर्णाद्यैरिन्द्रियाणां न चेतरैः ॥ १० ॥

अर्थ—इन्द्रियोंका *रूपादिकके साथ ही सम्बन्ध होता है और दूसरे पदार्थोंके साथ नहीं होता यह बात असंभव नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष और अनुभवसे सिद्ध है ।

अमूर्त पदार्थ है इसमें क्या प्रमाण है ?

नन्वमूर्तार्थसद्भावे किं प्रमाणं वदाद्य नः ।
यद्विनापीन्द्रियार्थाणां सन्निकर्षात् खपुष्पवत् ॥ ११ ॥

अर्थ—यहां पर शङ्काकार कहता है कि अमूर्त पदार्थ भी हैं इसमें क्या प्रमाण है - क्योंकि जितने पदार्थ हैं उन सबका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध होता है । अमूर्त पदार्थका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता है इसलिये उसका मानना ऐसा ही है जिस प्रकार कि आकाशके फूलोंका मानना ।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाशके फूल वास्तवमें कोई पदार्थ नहीं है, इसलिये उनका इन्द्रिय प्रत्यक्ष भी नहीं होता । इसी प्रकार जब अमूर्त पदार्थ भी कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है, यदि अमूर्त पदार्थ वास्तवमें होता तो घट वस्त्र आदि पदार्थोंकी तरह उसका भी इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता ।

---

* मूर्तिमान पदार्थ ।

यहांपर शङ्काकारका आशय यही है कि जिन पदार्थोंका इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है वे ही तो वास्तवमें हैं उनसे अलग कोई पदार्थ नहीं है ।

शङ्काकारका उत्तर—

नैवं यतः सुखादीनां संवेदनसमक्षतः ।
नासिद्धं वास्तवं तत्र किंत्वसिद्धं रसादिमत् ॥ ११ ॥

अर्थ—अमूर्त पदार्थकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है ऐसा शङ्काकारका कहना ठीक नहीं है । क्योंकि सुख दुःखादिकका स्वसंवेदन होनेसे आत्मा भले प्रकार सिद्ध है सुख दुःखादिकका प्रत्यक्ष करनेवाला आत्मा असिद्ध नहीं है परन्तु उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श मानना असिद्ध है ।

वास्तवमें इन्द्रियज्ञान मलिन ज्ञान है और इसीलिये यथार्थ दृष्टिसे वह परोक्ष है । उसका विषय भी बहुत थोड़ा और मोटा है । सूक्ष्म पदार्थोंका विशद बोध अतीन्द्रिय प्रत्यक्षसे ही होता है । इसलिये जिनका इन्द्रिय ज्ञान होता है वे ही पदार्थ ठीक हैं बाकी कुछ नहीं, ऐसा मानना किसी तरह युक्ति सङ्गत नहीं है । *

आत्मा रसादिकसे भिन्न है—

तथथा तद्रसज्ञानं स्वयं तन्न रसादिमत् ।
यस्माज्ज्ञानं सुखं दुःखं यथा स्यान्न तथा रसः ॥ १३ ॥

अर्थ—ऊपरके श्लोकमें रसादिक आत्मासे भिन्न ही बतलाये हैं । उसी बातको यहाँपर खुलासा करते हैं । आत्मामें जो रसका ज्ञान होता है वह ज्ञान ही है । रस ज्ञान होनेसे ज्ञान रसवाला नहीं हो जाता है क्योंकि रस पुद्गलका गुण है वह जीवमें किस तरह आसकता है । यदि रस भी आत्मामें पाया जाता तो जिस प्रकार ज्ञान, सुख, दुःखका अनुभव होनेसे ज्ञानी सुखी दुःखी आत्मा बन जाता है उसी प्रकार रसमयी भी होजाता परन्तु ऐसा नहीं है ।

सुखदुःखादिक ज्ञानसे भिन्न नहीं है—

नासिद्धं सुखदुःखादि ज्ञानानर्थान्तरं यतः ।
चेतनत्वात् सुखं दुःखं ज्ञानादन्यत्र न क्वचित् ॥ १४ ॥

अर्थ—सुख दुःख आदिक जो भाव हैं वे ज्ञानसे अभिन्न हैं अर्थात् ज्ञान स्वरूप ही हैं । क्योंकि चेतन भावों में ही सुख दुःखका अनुभव होता है ज्ञानको छोड़कर अन्यत्र कहीं सुख दुःखादिकका अनुभव नहीं हो सक्ता ।

* जो लोग इन्द्रिय प्रत्यक्षको ही मानते हैं उनके परलोक गत जनकादिककी भी सिद्धि नहीं हो सक्ती है जनकादिककी असिद्धतामें जन्यजनक सम्बन्ध भी नहीं बनता ।

सुखादिक अजीवमें नहीं हैं—

न पुनः स्वैरसञ्चारि सुखं दुःखं चिदात्मनि ।
अचिदात्मन्यपि व्याप्तं वर्णादौ तदसम्भवात् ॥ १५ ॥

अर्थ—ऐसा नहीं है कि सुख दुःख भाव जीव और अजीव दोनोंमें ही स्वतन्त्रतासे व्याप्त रहें । किन्तु ये भाव जीवके ही हैं । वर्णादिकमें इन भावोंका होना असंभव है ।

भावार्थ—द्रव्योंमें दो प्रकारके गुण होते हैं सामान्य और विशेष । सामान्य गुण समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं परन्तु विशेष गुणोंमें यह बात नहीं है । वे जिस द्रव्यके होते हैं उसीमें असाधारण रीतिसे रहते हैं दूसरेमें कदापि नहीं पाये जाते । सुख दुःखादिक जीव द्रव्यके ही असाधारण वैभाविक तथा स्वाभाविक भाव हैं । इसलिये वे जीव द्रव्यको छोड़ कर अन्य पुद्गल आदिक में नहीं पाये जा सकते ।

सारांश—

ततः सिद्धं चिदात्मादि स्यादमूर्तं तदर्थवत् ।
प्रसाधितसुखादीनामन्यथाऽनुपपत्तितः ॥ १६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि आत्मा आदि अमूर्त पदार्थ भी वास्तविक हैं इनको न माननेसे स्वानुभव सिद्ध सुखदुःख आदिकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

शङ्काकार—

नन्वसिद्धं सुखादीनां मूर्तिमत्वादमूर्तिमत् ।
तद्यथा यद्रसज्ञानं तद्रसो रसवद्यतः ॥ १७ ॥
तन्मूर्तत्वे कुतस्त्यं स्यादमूर्तं कारणाद्विना
यत्साधनाविनाभूतं साध्यं न्यायानतिक्रमात् ॥ १८ ॥

अर्थ—सुख दुःख आदि मूर्त हैं इसलिये उनको अमूर्त मानना असिद्ध है । जैसे रसका ज्ञान होता है वह रस स्वरूप ही है क्योंकि वह ज्ञान रसवाला है इसी तरह सुखादिकमें मूर्तता सिद्ध हो जाने पर विना कारण उनमें अमूर्तता किस तरह आ सकती है ? अविनाभावी साधनसे ही साध्यकी सिद्धि होती है ऐसा न्यायका सिद्धांत है ।

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय है कि जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह ज्ञान उसी रूप हो जाता है । जिस समय ज्ञान रूप, रस, गन्ध स्पर्शको जान रहा है उस समय ज्ञान रूप रस गन्ध स्पर्शात्मक ही है ।

उत्तर—

नैवं यतो रसाद्यर्थं ज्ञानं तन्न रसः स्वयम् ।
अर्थाज्ज्ञानममूर्तं स्यान्मूर्तं मूर्तोपचारतः ॥ १९ ॥

अर्थ—ऊपर जो शङ्का उठाई गई है वह ठीक नहीं है । क्योंकि जो रसादि पदार्थोंका ज्ञान होता है वह स्वयं रस रूप नहीं हो जाता अर्थात् ज्ञान ज्ञान ही रहता है और वह अमूर्त ही है । यदि उस ज्ञानको मूर्त कहा जाता है तो उस समय केवल उपचारमात्र ही समझना चाहिये ।

भावार्थ—यदि जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह स्वयं उसी रूप होजाय तो देव या मनुष्य जिस समय नारकियोंके स्वरूपका ज्ञान करते हैं तो क्या उस समय वे नारक स्वरूप हो जाते हैं ? इसलिये ज्ञान परपदार्थको जानता है परन्तु उस पदार्थ रूप स्वयं नहीं होजाता । जो क्षयोपशम ज्ञान है वह भी वास्तव दृष्टिसे अमूर्त ही है । क्योंकि आत्माका गुण है । ज्ञान मूर्त पदार्थोंको विषय करता है इसलिये उसे मूर्त मानना यह केवल मूर्तका उपचार है । ज्ञानमें कोई मूर्तता नहीं आती है ।

ज्ञानको मूर्त माननेमें दोष—

न पुनः सर्वथा मूर्तं ज्ञानं वर्णादिमत्यतः ।
स्वसंवेद्याद्य भावः स्यात्तज्जडत्वानुषङ्गतः ॥ २० ॥

अर्थ—ज्ञान उपचार मात्रसे तो मूर्त है परन्तु वास्तवमें मूर्त नहीं है । वह वर्णादिकको विषय करनेवाला है इसीलिये उसमें उपचार है । यदि वास्तवमें ज्ञान मूर्त हो जाय तो पुद्गलकी तरह ज्ञानमें जड़पना भी आ जायगा, और ऐसी अवस्थामें स्वसंवेदन आदिकका अभाव ही हो जायगा ।

भावार्थ—जहांपर मुख्य पदार्थ न हो परन्तु कुछ प्रयोजन या निमित्त हो वहांपर उस मुख्यका उपचार किया जाता है । जिसप्रकार लोग बिल्लीको सिंह कह देते हैं । बिल्ली यद्यपि सिंह नहीं है तथापि क्रूरता, आकृति आदि निमित्तवश बिल्लीमें सिंहका उपचार कर लिया जाता है । उसी प्रकार वर्णादिके आकार ज्ञान हो जाता है इसी लिये उस ज्ञानको उपचारसे मूर्त कह देते हैं, वास्तवमें ज्ञान मूर्त नहीं है अन्यथा वह जड़ हो जायगा ।

निश्चित सिद्धान्त—

तस्माद्वर्णादिशून्यात्मा जीवाद्यर्थोस्त्यमूर्तिमान् ।
स्वीकर्तव्यः प्रमाणाद्वा स्वानुभूतेर्यथागमात् ॥ २१ ॥

अर्थ—इसलिये वर्णादिकसे रहित जीवादिक पदार्थ अमूर्त हैं ऐसा उपर्युक्त प्रमाणसे स्वीकार करना चाहिये अथवा स्वानुभवसे स्वीकार करना चाहिये । आगम भी इसी बातको बतलाता है कि वर्णादिक पुद्गलके गुण हैं और बाकी जीवादिक पांच द्रव्य अमूर्त हैं ।

लोक और अलोकका भेद—

लोकालोकविशेषोस्ति द्रव्याणां लक्षणाद्यथा ।
षड्द्रव्यात्मा स लोकोस्ति स्यादलोकस्ततोऽन्यथा ॥ २२ ॥

अर्थ—द्रव्योंके लक्षणकी अपेक्षासे ही लोक और अलोकका विभाग होता है । जहां पर छह द्रव्य पाये जाँय अथवा जो छह द्रव्य स्वरूप हो उसे लोक कहते हैं । और जहां छह द्रव्य नहीं पाये जाँय उसे अलोक कहते हैं ।

भावार्थ—लोक शब्दका यही अर्थ है कि " लोक्यन्ते षट्पदार्था यत्र असौ लोकः " अर्थात् जहांपर छह पदार्थ पाये जाँय या देखे जायँ उसे लोक कहते हैं । जहांपर छह पदार्थ नहीं किन्तु केवल आकाश ही पाया जाय उसे अलोक कहते हैं । तात्पर्य यह है कि सभी द्रव्योंका आश्रय आकाश द्रव्य है । जिस आकाशमें अन्य पांच द्रव्य हैं उसे लोकाकाश कहते हैं और जहां केवल आकाश ही है, उसे अलोकाकाश कहते हैं । एक आकाशके ही उपाधिभेदसे (निमित्त भेदसे) दो भेद हो गये हैं ।

अलोकका स्वरूप—

सोप्यलोको न शून्योस्ति षड्भिर्द्रव्यैरशेषतः ।
व्योममात्रावशेषत्वाद्व्योमात्मा केवलं भवेत् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो अलोक है वह भी छह द्रव्योंसे सर्वथा शून्य नहीं है । अलोकमें भी छह द्रव्योंमेंसे एक आकाश द्रव्य रहता है इसलिये अलोक केवल आकाशस्वरूप ही है ।

भावार्थ—अलोक भी द्रव्य शून्य नहीं है किन्तु आकाश द्रव्यात्मक है ।

पदार्थोंमें विशेषता—

क्रिया भावविशेषोस्ति तेषामन्वर्थतो यतः ।
भावक्रियाद्वयोपेताः केचिद्भावगताः परे ॥ २४ ॥

अर्थ—उन छहों द्रव्योंमें दो भेद हैं । कोई द्रव्य तो भावात्मक ही हैं और कोई भावात्मक भी हैं तथा क्रियात्मक भी हैं ।

भावार्थ—जो पदार्थ सदा एकसे रहते हैं जिनमें हलन चलन क्रिया नहीं होती वे पदार्थ तो भावरूप हैं, और जो पदार्थ कभी स्थिर भी रहते हैं और कभी क्रिया भी करते हैं वे भावस्वरूप भी हैं और क्रिया स्वरूप भी हैं । तात्पर्य यह है कि जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति है उनमें क्रिया होती है, जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति नहीं है उनमें हलन चलन रूप क्रिया नहीं होती है । वे केवल भाववती शक्तिवाले कहलाते हैं ।

कोई महाशय जिन पदार्थोंमें क्रियावती शक्ति नहीं है केवल भाववती शक्ति है उन्हें अपरिणामी न समझ लेवें । परिणमन तो सदा सभी पदार्थोंमें होता है परन्तु परिणमन दो तरहका होता है, जिसमें वस्तुके प्रदेशोंका एक देशसे दूसरा देश हो अर्थात् स्थानसे स्थानान्तर हो उसे तो क्रियारूप परिणमन कहते हैं और जिसमें प्रदेशोंका तो हलन चलन न हो परन्तु पहली अवस्थासे दूसरी अवस्था हो जाय उसे भाव परिणाम कहते हैं, दृष्टान्तके लिये

हजारी कलमको ले लीजिये, कलमका टूट जाना तो उसका क्रियारूप परिणमन है और विना किसी हरकतके रक्खी हुई नवीन कलमका पुराना हो जाना परिणाम है। निष्क्रिय-भावोंमें इसी प्रकारका परिणमन होता है।

भाववती और क्रियावती शक्तिवाले पदार्थोंके नाम—

भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीवपुद्गलौ ।
तौ च शेषचतुष्कं च षडेते भावसंस्कृताः ॥ २५ ॥

अर्थ—जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य भाववाले भी हैं और क्रियावाले भी हैं। तथा जीव, पुद्गल और शेष चारों द्रव्य भाव सहित हैं।

भावार्थ—जीव और पुद्गलमें तो क्रिया और भाव दोनों शक्तियां हैं परन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार द्रव्य केवल भाव शक्ति वाले ही हैं। इन चारोंमें क्रिया नहीं होती, ये चारों ही निष्क्रिय हैं।

क्रिया और भावका लक्षण—

तत्र क्रिया प्रदेशानां परिस्पंदश्चलात्मकः ।
भावस्तत्परिणामोस्ति धारावाह्येकवस्तुनि ॥ २६ ॥

अर्थ—प्रदेशोंके हिलने चलनेको क्रिया कहते हैं और भाव परिणामको कहते हैं जो कि प्रत्येक वस्तु में धारावाही (बराबर) से होता रहता है।

भावार्थ—प्रदेशोंका एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना आना तो क्रिया कहलाती है और वस्तुमें जो निष्क्रिय भाव हैं उन्हें भाव कहते हैं। इसका खुलासा चोबीसवें श्लोकमें कर चुके हैं।

परिणमन सदा होता है—

नासंभवामिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं ।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मकाः ॥ २७ ॥

अर्थ—यह बात असिद्ध नहीं है कि पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन करते रहते हैं। उसी परिणमनमें कभी २ किन्हीं किन्हीं पदार्थोंके प्रदेश भी हलन चलन करते हैं।

भावार्थ—सभी पदार्थ निरन्तर एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्था तो बदलते ही रहते हैं परन्तु कभी जीव और पुद्गलमें उनके प्रदेशोंकी हलन चलन रूप क्रिया भी होती है।

ग्रन्थकारकी प्रतिज्ञा—

तद्यथाचाधिचिद्द्रव्यदेशना रम्यते मया ।
युक्त्यागमानुभूतिभ्यः पूर्वाचार्यानतिक्रमात् ॥ २८ ॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि अब हम चेतन द्रव्यके विषयमें ही व्याख्यान करेंगे।

जो कुछ हम कहेंगे वह हमारी निजकी कल्पना नहीं समझना चाहिये, किन्तु युक्ति, आगम, अनुभव और पूर्वाचार्योंके कथनके अनुकूल ही हम कहेंगे । इनसे विरुद्ध नहीं ।

भावार्थ—पदार्थकी सिद्धि कई प्रकारसे होती है । कोई पदार्थ युक्तिसे सिद्ध होते हैं, कोई अनुभवसे सिद्ध होते हैं, और कोई आगमसे सिद्ध होते हैं । ग्रन्थकार कहते हैं कि जो हम चेतन पदार्थ (जीव) का स्वरूप कहेंगे उसमें युक्ति प्रमाण भी होगा, आगम प्रमाण भी होगा, और अनुभव प्रमाण भी होगा । साथ ही पूर्वके महर्षियोंकी विवेचना (कथन) से अविरुद्धता भी रहेगी । इसलिये जब हमारे कथनमें युक्ति, आगम, अनुभव और पूर्वाचार्योंके कथनसे अविरुद्धता है तो वह अग्राह्य किसी प्रकार नहीं हो सकता । इस कथनसे आचार्यने उत्सूत्रता और अयुक्तकथनका परिहार किया है ।

सप्त तत्वोंमें जीवकी मुख्यता—

प्रागुद्देश्यः स जीवोस्ति ततोऽजीवस्ततः क्रमात् ।
आस्रवाद्या यतस्तेषां जीवोधिष्ठानमन्वयात् ॥ २९ ॥

अर्थ—पहले जीवतत्त्वका निरूपण किया जाता है फिर अजीव तत्त्वका किया जायगा । उसके बाद क्रमसे आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्षका कथन किया जायगा । जीवका निरूपण सबसे प्रथम रखनेका कारण भी यही है कि सम्पूर्ण तत्वोंका आधार मुख्य रीतिसे जीव ही पड़ता है सातों तत्वोंमें जीवका ही सम्बन्ध चला जाता है ।

भावार्थ—वास्तव दृष्टिसे विचार किया जाय तो सातों ही तत्व जीव द्रव्यकी ही अवस्था विशेष है । इस लिये सातों तत्वोंमें जीवतत्व ही मुख्यता रखता है इसलिये सबसे प्रथम उसीका कथन किया जाता है ।

जीव निरूपण—

अस्ति जीवः स्वतस्सिद्धोऽनाद्यनन्तोप्यमूर्तिमान् ।
ज्ञानाद्यनन्तधर्मादि रूढत्वाद्द्रव्यमव्ययम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जीव द्रव्य स्वतः सिद्ध है । इसकी आदि नहीं है इसी प्रकार अन्त भी नहीं है । यह जीव अमूर्त है, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादिक अनन्त धर्मात्मक है इसी लिये यह नाशरहित द्रव्य है ।

भावार्थ—चार्वाक या अन्य कोई नास्तिक कहते हैं कि जीव द्रव्य स्वतन्त्र कोई नहीं है किन्तु पंचभूतसे मिलकर बन जाता है । इसका खंडन करनेके लिये आचार्यने स्वतः सिद्ध पद दिया है । यह द्रव्य किसीसे किया हुआ नहीं है किन्तु अपने आप सिद्ध है, इसी लिये इसकी न आदि है और न अन्त है । पुद्गल द्रव्यकी तरह इसकी रूपादिक मूर्ति भी नहीं है । यह द्रव्य ज्ञानादिक अनन्त गुण स्वरूप है । गुण नित्य होते हैं इस लिये जीव द्रव्य भी नि-

त्य है इसका कभी भी नाश नहीं होता है केवल अवस्था भेद होता रहता है ।

फिर भी जीवका ही निरूपण—

साधारणगुणोपेतोप्यसाधारणधर्मभाक् ।
विश्वरूपोप्यविश्वस्थः सर्वोपेक्षोपि सर्ववित् ॥ ३१ ॥

अर्थ—यह जीव साधारण गुण सहित है और असाधारण गुण सहित भी है । विश्व (जगत्) रूप है परन्तु विश्वमें ठहरा नहीं है । सबसे उपेक्षा रखनेवाला है, तो भी सबका जाननेवाला है ।

भावार्थ—यहांपर आचार्यने साहित्यकी छटा दिखाते हुए जीवका स्वरूप कहा है । विरोधालङ्कारमें एक बातको पहले दिखलाते हैं फिर उससे विपरीत ही कह देते हैं परन्तु वास्तवमें वह विपरीत नहीं होता । केवल विपरीत सरीखा दिखता है। जैसे यहांपर ही जीवका स्वरूप दिखाते हुए कहा है कि वह साधारण धर्मवाला है तो भी असाधारण धर्मवाला है । जो साधारण धर्मवाला होगा वह असाधारण धर्मवाला कैसे हो सक्ता है ऐसा विरोध सा दिखता है परन्तु वह विरोध नहीं है केवल अलंकारकी झलक है । यहां पर साहित्यकी न मुख्यता है और न आवश्यकता है इसलिये उसे छोड़कर श्लोकका आशय लिखा जाता है ।

प्रत्येक द्रव्यमें अनन्त गुण होते हैं अथवा यों कहना चाहिये कि वह द्रव्य अनन्त गुण स्वरूप ही है । उन गुणोंमें कुछ साधारण गुण होते हैं और कुछ विशेष गुण होते हैं । जो समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जांय उन्हें साधारण गुण कहते हैं । इन्हींका दूसरा नाम सामान्य गुण भी है । और जो खास २ वस्तुमें ही पाये जांय उन्हें विशेष गुण कहते हैं । जीव द्रव्यमें सामान्य गुण भी हैं और विशेष गुण भी है । अस्तित्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदिक सामान्य गुण हैं । ये गुण समान रीतिसे सभी द्रव्योंमें पाये जाते हैं, और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदिक जीवके विशेष गुण हैं, ये जीवको छोड़कर अन्यत्र नहीं पाये जाते । इसलिये जीवमें साधारण गुण और विशेष गुण दोनों हैं । लोक असंख्यात प्रदेशी है और जीव भी लोकके बराबर असंख्यात प्रदेशी है इसलिये यह जीव विश्वरूप है । अर्थात् लोक स्वरूप है तथापि लोकभरमें ठहरा हुआ नहीं है किन्तु लोकके असंख्यातवें भाग स्थानमें है । अथवा ज्ञानकी अपेक्षा विश्वरूप है परन्तु विश्वसे जुदा है । यह जीव सर्व पदार्थोंसे उपेक्षित है अर्थात् किसी पदार्थसे इसका सम्बन्ध नहीं है तथापि यह जीव सब पदार्थोंको जाननेवाला है ।

फिर भी जीवका स्वरूप—

असंख्यातप्रदेशोपि स्यादखण्डप्रदेशवान् ।
सर्वद्रव्यातिरिक्तोपि तन्मध्ये संस्थितोपि च ॥ ३२ ॥

अर्थ—यह जीव असंख्यात प्रदेशवाला है। तथापि अखण्ड द्रव्य है अर्थात् इसके प्रदेश सब अभिन्न हैं तथा सम्पूर्ण द्रव्योंसे यह भिन्न है तथापि उनके बीचमें स्थित है।

फिर भी जीवका स्वरूप—

अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धश्चैकविधोपि यः।
स्याद्द्विधा सोपि पर्यायाम्मुक्तामुक्तप्रभेदतः॥ ३३॥

अर्थ—शुद्ध नयकी अपेक्षासे यह जीव द्रव्य शुद्धस्वरूप है, एक रूप है, उसमें भेद कल्पना नहीं है, तथापि पर्याय दृष्टिसे यह जीव दो प्रकार है एक मुक्त जीव दूसरा अमुक्त जीव।

भावार्थ—निश्चय नय उसे कहते हैं जो कि वस्तुके स्वाभाविक भावको ग्रहण करे और व्यवहार नय वस्तुकी अशुद्ध अवस्थाको ग्रहण करता है। जो भाव पर निमित्तसे होते हैं उन्हें ग्रहण करनेवाला ही व्यवहार नय है। निश्चय नयसे जीवमें किसी प्रकारका भेद नहीं है इसलिये उक्त नयसे जीव सदा शुद्ध स्वरूप है तथा एक रूप है, परन्तु कर्मजनित अवस्थाके भेदसे उसी जीवके दो भेद हैं। एक संसारी, दूसरा मुक्त। जो कर्मोपाधि सहित आत्मा है वह संसारी आत्मा है और जो उस कर्मोपाधिसे रहित है वही मुक्त अथवा सिद्ध आत्मा कहलाता है। ये दो भेद कर्मोपाधिसे हुए हैं। और कर्मोपाधि निश्चयनयसे जीवका स्वरूप नहीं है इसलिये जीवमें द्रव्य दृष्टिसे भेद नहीं किन्तु पर्याय दृष्टिसे भेद है।

संसारी जीवका स्वरूप—

बद्धो यथा स संसारी स्यादलब्धस्वरूपवान्।
मूर्छितोनादिलोष्टाभिर्ज्ञानाद्यावृतिकर्मभिः॥ ३४॥

अर्थ—जो आत्मा कर्मोंसे बंधा हुआ है वही संसारी है। संसारी आत्मा अपने यथार्थ स्वरूपसे रहित है और अनादिकालसे ज्ञानावरणीय आदिक आठ कर्मोंसे मूर्छित हो रहा है।

भावार्थ—आत्माका स्वरूप शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध वीर्य आदि अनन्त गुणात्मक है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंने उन गुणोंको ढक दिया है। इन्हीं आठों कर्मोंमें जो मोहनीय कर्म है उसने उन्हें विपरीत स्वादु बना दिया है। इसी लिये संसारी आत्मा असली स्वभावका अनुभव नहीं करता है। जब यह दोष और आवरण मल आत्मासे हट जाता है तब वही आत्मा निज शुद्धरूप अनुभव करने लगता है।

जीव कर्मका सम्बन्ध अनादिसे है—

यथानादिः स जीवात्मा यथानादिश्च पुद्गलः।
द्वयोर्बन्धोप्यनादिः स्यात् सम्बन्धो जीवकर्मणोः॥ ३५॥

अर्थ—यह जीवात्मा भी अनादि है और पुद्गल भी अनादि है। इसलिये दोनोंका सम्बन्ध रूप बन्ध भी अनादि है।

भावार्थ—जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे है। यदि इनका सम्बन्ध सादि अर्थात् किसी काल विशेषसे हुआ माना जावे तो अनेक दोष आते हैं। इसी बातको ग्रन्थकार स्वयं आगे दिखलाते हैं।

द्वयोरनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः।
अन्यथा दोषएव स्यादितरेतरसंश्रयः॥ ३६॥

अर्थ—जीव और कर्म दोनोंका सम्बन्ध अनादि कालसे चला आरहा है। यह सम्बन्ध उसी प्रकार है जिस प्रकार कि कनकपाषाणका सम्बन्ध अनादिकालीन होता है। यदि जीव पुद्गलका सम्बन्ध अनादिसे न माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष आता है।

भावार्थ—एक पत्थर ऐसा होता है जिसमें सोना मिला रहता है, उसीको कनकपाषाण कहते हैं। कनकपाषाण खानिसे मिला हुआ ही निकलता है। जिस प्रकार सोनेका और पत्थरका हमेशासे सम्बन्ध है उसी प्रकार जीव और कर्मका भी हमेशासे सम्बन्धहै। यदि जीव कर्मका सम्बन्ध अनादिसे न माना जावे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। *

अन्योन्याश्रय दोष—

तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रागेव तादृशः।
बन्धाभावेथ शुद्धेपि बन्धश्चेन्निर्वृत्तिः कथम्॥ ३७॥

अर्थ—यदि जीव पहले कर्मरहित अर्थात् शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सकता, और यदि शुद्ध होनेपर भी उसके बन्ध मान लिया जाय तो फिर मोक्ष किस प्रकार हो सकती है?

भावार्थ—आत्माका कर्मके साथ जो बन्ध होता है वह अशुद्ध अवस्थामें होता है। यदि कर्मबन्धसे पहले आत्माको शुद्ध माना जाय तो बन्ध नहीं हो सक्ता? क्योंकि बन्ध अशुद्ध परिणामोंसे ही होता है। इसलिये बन्ध होनेमें तो अशुद्धताकी आवश्यकता पड़ती है और अशुद्धतामें बन्धकी आवश्यकता पड़ती है। विना पूर्वबन्धके शुद्ध आत्मामें अशुद्धता आ नहीं सक्ती। यदि बिना बन्धके शुद्ध आत्मामें भी अशुद्धता आने लगे तो जो आत्मायें मुक्त हो चुकीं हैं अर्थात् सिद्ध हैं वे भी फिर अशुद्ध हो जांयगीं और अशुद्ध होनेपर बन्ध भी करती होंगीं। फिर तो संसारी और मुक्त जीवमें कोई अन्तर नहीं रहेगा। इसलिये बन्धरूप कार्यके लिये अशुद्धता रूप कारणकी आवश्यकता है और अशुद्धता रूप कार्यके लिये पूर्वबन्ध रूप कारणकी आवश्यकता है। विना पूर्व कर्मके बंधे हुए अशुद्धता किसी प्रकार नहीं आसकती

* दो पदार्थोंमें परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षा रहनेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। इस दोषकी सत्तामें एक पदार्थकी भी सिद्धि नहीं हो पाती।

है । इसलिये अशुद्धतामें बन्धकी और बन्धमें अशुद्धताकी अपेक्षा पड़नेसे एक भी सिद्ध नहीं होता, बस यही अन्योन्याश्रय दोष है । यदि जीव कर्मका सम्बन्ध अनादि माना जाय तो यह दोष सर्वथा नहीं आता ।

दूसरी बात यह है कि सादि सम्बन्ध माननेसे पहले तो शुद्ध आत्मामें बन्ध हो नहीं सक्ता क्योंकि विना कारणके कार्य होता ही नहीं । थोड़ी देरके लिये यह भी मान लिया जाय कि विना रागद्वेष रूप कारणके शुद्ध आत्मा भी बन्ध करता है तो फिर विना कारणसे होनेवाला वह बन्ध किस तरह छूट सक्ता है ? यदि रागद्वेषरूप कारणोंसे बन्ध माना जाय तब तो उन कारणोंके हटनेपर बन्धरूप कार्य भी हट जाता है । परन्तु बिना कारणसे होनेवाला बन्ध दूर हो सक्ता है या नहीं ऐसी अवस्थामें इसका कोई नियम नहीं है । इसलिये मोक्ष होनेका भी कोई निश्चय नहीं है । इस तरह सादि बन्ध माननेमें और भी अनेक दोष आते हैं ।

पुद्गलको शुद्ध माननेमें दोष—

अथ चेत्पुद्गलः शुद्धः सर्वतः प्रागनादितः ।
हेतोर्विना यथा ज्ञानं तथा क्रोधादिरात्मनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि पुद्गल अनादिसे सदा शुद्ध ही रहता है, ऐसा कहने वालेके मतमें आत्माके साथ कर्मोंका सम्बन्ध भी नहीं बनेगा । फिर तो विना कारण जिस प्रकार आत्माका ज्ञान स्वाभाविक गुण है उसी प्रकार क्रोधादिक भी आत्माके स्वाभाविक गुण ही ठहरेंगे ।

भावार्थ—पुद्गलकी कर्म रूप अशुद्ध पर्यायके निमित्तसे ही आत्मामें क्रोधादिक होते हैं ऐसा माननेसे तो क्रोधादिक आत्माके स्वभाव नहीं ठहरते हैं । परन्तु पुद्गलको शुद्ध माननेसे आत्मामें विकार करने वाला फिर कोई पदार्थ नहीं ठहरता । ऐसी अवस्थामें क्रोधादिकका हेतु आत्मा ही पड़ेगा और क्रोध मान माया लोभ आदि आत्माके स्वभाव समझे जांयगे यह बात प्रमाण विरुद्ध है ।

एवं बन्धस्य नित्यत्वं हेतोः सद्भावतोऽथवा ।
द्रव्याभावो गुणाभावे क्रोधादीनामदर्शनात् ॥ ३९ ॥

अर्थ—यदि पुद्गलको अनादिसे शुद्ध माना जाय और शुद्ध अवस्थामें भी उसका आत्मासे बन्ध माना जाय तो वह बन्ध सदा रहेगा, क्योंकि शुद्ध पुद्गल रूप हेतुके सद्भावको कौन हटानेवाला है ? पुद्गलकी शुद्धता स्वाभाविक है वह सदा भी रह सक्ती है, और हेतुकी सत्तामें कार्य भी रहेगा ही ।

यदि बन्ध ही न माना जाय तो " ज्ञानकी तरह क्रोधादिक भी आत्माके ही गुण ठहरेंगे " वही दोष जो कि पहले श्लोकमें कह चुके हैं फिर भी आता है और क्रोधादिकको

आत्माका गुण स्वीकार करनेमें दूसरा दोष यह आता है कि जिन २ आत्माओंमें क्रोधादिकका अभाव हो चुका हैं उन २ आत्माओंका भी अभाव हो जायगा। क्योंकि जब क्रोधादिकको गुण मान चुके हैं तो गुणके अभावमें गुणीका अभाव होना स्वतः सिद्ध है, और यह बात देखनेमें भी आती है कि किन्हीं २ शांत आत्माओंमें क्रोधादिक बहुत थोड़ा पाया जाता है। योगियोंमें अति मन्द पाया जाता है, और बारहवें गुणस्थानमें तो उसका सर्वथा अभाव है। इसलिये अशुद्ध पुद्गलका अशुद्ध आत्मासे बन्ध मानना ही न्याय संगत है।

सारांश—

तत्सिद्धः सिद्धसम्बन्धो जीवकर्मोभयोर्मिथः।
सादिसिद्धेरसिद्धत्वात् असत्संदृष्टितश्च तत् ॥ ४० ॥

अर्थ—इसलिये जीव और कर्मका सम्बन्ध प्रसिद्ध है और वह अनादिकालसे बन्ध रूप है यह बात सिद्ध हो चुकी। जो पहले शङ्काकारने जीव कर्मका सम्बन्ध सादि (किसी समय विशेषसे) सिद्ध किया था वह नहीं सिद्ध हो सका। सादि सम्बन्ध माननेसे इतरेतर (अन्योन्याश्रय) आदि अनेक दोष आते हैं तथा दृष्टान्त भी कोई ठीक नहीं मिलता।

भावार्थ—कनक पाषाण आदि दृष्टान्तोंसे जीव कर्मका अनादि सम्बन्ध ही सिद्ध होता है। यहां पर यह शङ्का हो सकती है कि दो पदार्थोंका सम्बन्ध हमेशासे कैसा? वह तो किसी खास समयमें जब दो पदार्थ मिलें तभी हो सक्ता है? इस शङ्काका उत्तर यह है कि सम्बन्ध दो प्रकारका होता है, किन्हीं पदार्थोंका तो सादि सम्बन्ध होता है। जैसे कि मकान बनाते समय ईंटोंका सम्बन्ध सादि है। और किन्ही पदार्थोंका अनादि सम्बन्ध होता है, जैसे कि कनक पाषाणका, अथवा जमीनमें मिली हुई अनेक चीजोंका, अथवा बीज और वृक्षका, अथवा जगद्व्यापी महास्कन्धका अथवा सुमेरु पर्वतका। इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादि है।

जीवकी अशुद्धताका कारण—

जीवस्याशुद्धरागादिभावानां कर्म कारणम्।
कर्मणस्तस्य रागादिभावाः प्रत्युपकारिवत् ॥ ४१ ॥

अर्थ—जीवके अशुद्ध रागादिक भावोंका कारण कर्म है, उस कर्मके कारण जीवके रागादि भाव हैं। यह परस्परका कार्यकारणपन ऐसा ही है जैसे कि कोई पुरुष किसी पुरुषका उपकार कर दे तो वह उपकृत पुरुष भी उसका बदला चुकानेके लिये उपकार करनेवालेका प्रत्युपकार करता है।

भावार्थ—यह संसारी आत्मा अनादि कालसे कर्मोंका बन्ध कर रहा है, उस कर्म बन्धमें कारण आत्माके रागद्वेष भाव हैं। रागद्वेषके निमित्तसे ही संसारमें भरी हुई कार्माण

वर्गणाओंको अथवा विस्रसोपचयोंको यह आत्मा *खींचकर अपना सम्बन्धी बना लेता है। जिस प्रकार कि अग्निसे तपा हुआ लोहेका गोला अपने आसपास भरे हुए जलको खींचकर अपनेमें प्रविष्ट कर लेता है। जिन पुद्गल वर्गणाओंको यह अशुद्ध जीवात्मा खींचता है वे ही वर्गणायें आत्माके साथ एक क्षेत्रावगाह रूप (एकमएक) से बँध जाती हैं। बंध समयसे उन्हीं वर्गणाओंकी कर्मरूप पर्याय हो जाती है। फिर कालान्तरमें उन्हीं बांधे हुए कर्मोंके निमित्तसे चारित्रके विभाव भाव रागद्वेष बनते हैं फिर उन रागद्वेष भावोंसे नवीन कर्म बँधते हैं। उन कर्मोंके निमित्तसे फिर भी रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार पहले कर्मोंसे रागद्वेष और रागद्वेषसे नवीन कर्म होते रहते हैं। यही परस्परमें कार्य कारण भाव अनादिसे चला आता है।

इसी बातको नीचेके श्लोकोंसे पुष्ट करते हैं—

पूर्वकर्मोदयाद्भावो भावात्प्रत्यग्रसंचयः।
तस्य पाकात्पुनर्भावो भावाद्बन्धः पुनस्ततः॥ ४२॥
एवं सन्तानतोऽनादिः सम्बन्धो जीवकर्मणोः।
संसारः स च दुर्मोच्यो विना सम्यग्दृगादिना॥ ४३॥

अर्थ—पहले कर्मके उदयसे रागद्वेष–भाव पैदा होते हैं, उन्हीं रागद्वेष भावोंसे नवीन कर्मोंका संचय होता है, उन आये हुए कर्मोंके पाक (उदय) से फिर रागद्वेष भाव बनते हैं, उन भावोंसे फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है, इसी प्रकार प्रवाहकी अपेक्षासे जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादिसे चला आया है। इसी सम्बन्धका नाम संसार है, अर्थात जीवकी रागद्वेष रूप अशुद्ध अवस्थाका ही नाम संसार है। यह संसार विना सम्यग्दर्शन आदि भावोंके नहीं छूट सक्ता है।×

---

* कर्मके खींचनेमें योग कारण है और आये हुए कर्मोंके स्थिति अनुभाग बन्धमें कषाय कारण है।

×इसका अभिप्राय यह है कि जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता तबतक मिथ्यात्व कर्म आत्माके स्वाभाविक भावोंको ढके रहता है अथवा यों कहना चाहिये कि वह मिथ्यात्व उन भावोंको विपरीत रूपसे परिणमा देता है। उन भावोंके विपरीत होनेसे फिर नये कर्म आते हैं और उन कर्मोंके उदयसे फिर रागद्वेष रूप विपरीत भाव होते हैं परंतु जब वह मिथ्यात्व नष्ट होकर सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तब वे भाव विपरीत नहीं होते किंतु अपने स्वभावमें ही बने रहते हैं इसलिये फिर उनसे नये कर्मोंका आना भी बंद हो जाता है और संचय किये हुए कर्म भी धीरे धीरे नष्ट हो जाते हैं इस तरह सम्यग्दर्शन आदि भावोंसे ही संसार छूटता है।

भावार्थ—"संसरणं संसारः" परिभ्रमणका नाम संसार है। चारों गतियोंमें जीव उत्पन्न होता रहता है इसीको संसार कहते हैं। इस परिभ्रमणका कारण कर्म है। जैसा कर्मका उदय होता है उसीके अनुसार गति, आयु, शरीर आदि अवस्थायें मिल जाती हैं। उस कर्मका भी कारण आत्माके रागद्वेष भाव हैं। इसलिये संसारके कारणोंको ही आचार्यने संसार कहा है। यह संसार तभी छूट सक्ता है जब कि संसारके कारणोंको हटाया जाय। संसारके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, ये पांच हैं। इन पाचोंके प्रतिपक्षी भाव भी पांच हैं। मिथ्यादर्शनका प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शन है। इसी प्रकार अविरतिका विरतिभाव, प्रमादका अप्रमत्तभाव, कषायका अकषायभाव, और योगका अयोगभाव प्रतिपक्षी है। जब ये सम्यग्दर्शनादिक भाव आत्मामें प्रगट हो जाते हैं तो फिर इस जीवका संसार भी छूट जाता है।

न केवलं प्रदेशानां बन्धः सम्बन्धमात्रतः।
सोपि भावैरशुद्धैः स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति ॥ ४४ ॥

अर्थ—आत्मा और कर्मका जो बन्ध होता है, वह केवल दोनोंके सम्बन्ध मात्रसे ही नहीं हो जाता है, किन्तु आत्माके अशुद्ध भावोंसे होता है और वह परस्पर दोनोंकी अपेक्षा भी रखता है।

भावार्थ—बन्ध दो प्रकारका होता है। एक तो दो वस्तुओंके मेल हो जाने मात्रसे ही होता है। जैसे कि सूखी ईंटोंको परस्पर मिलानेसे होता है। सूखी ईंटोंका सम्बन्ध अवश्य है, परन्तु घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है। दूसरा ईंटोंका ही वह सम्बन्ध जो कि चूनेके लगानेसे वे सब ईंटें एकरूपमें हो जाती हैं। यद्यपि यह मोटा दृष्टान्त है तथापि एक देशमें घनिष्ट सम्बन्धमें घटता ही है। दूसरा दृष्टान्त जल और दूधका भी है। इसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध जीव और कर्मके प्रदेशोंके एक रूप हो जाने पर ही होता है। इस सम्बन्धमें कारण आत्माके अशुद्ध भाव ही हैं। कर्म सम्बन्ध और अशुद्ध भाव—इन दोनोंमें परस्पर अपेक्षा है, अर्थात् एक दूसरेमें परस्पर कार्य कारण भाव है।

बन्धका मूल कारण—

अयस्कान्तोपलाकृष्ट सूचीवत्तद्द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥ ४५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चुम्बक प्रत्थरमें सुईको खींचनेकी शक्ति है उसी प्रकार जीव और पुद्गल दोनोंमें वैभाविकी नामा एक शक्ति है जो कि दोनोंमें परस्पर बन्धका कारण है।

भावार्थ—जिस प्रकार चुम्बक पत्थरमें खींचनेकी शक्ति है उसी प्रकार लोहेमें खींचे जानेकी शक्ति है। यदि दोनोंमें खींचने और खींचे जानेकी शक्ति न मानी जाय तो

चुम्बक पत्थरके सिवा पीतल चांदी आदिसे लकड़ी पत्थर भी खिंचने चाहिये। इसलिये मानना पड़ता है कि दोनोंमें क्रमसे खींचने और खिंचनेकी शक्ति है। उसी प्रकार जीवमें कर्मके बांधनेकी शक्ति है और कर्ममें जीवके साथ बंधनेकी शक्ति है। जब जीव और कर्म दोनोंमें क्रमसे बांधने और बंधनेकी शक्ति है तब दोनोंका आत्मक्षेत्रमें बंध हो जाता है। आत्मामें ही बांधनेकी शक्ति है इसलिये आत्मामें ही कर्म आकर बंध जाते हैं। जीव और पुद्गल ही अपनी शुद्ध अवस्थाको छोड़कर बन्ध रूप अशुद्ध अवस्थामें क्यों आते हैं? धर्म अधर्म आदिक द्रव्य क्यों नहीं अशुद्ध होते। इसका यही कारण है कि वैभाविक नामा गुण इन दो (जीव, पुद्गल) द्रव्योंमें ही पाया जाता है इसलिये इन दोमें ही विकार होता है, शेष द्रव्योंमें नहीं होता।

बन्ध तीन प्रकारका होता है—

अर्थतास्त्रिविधो बन्धो भावद्रव्योभयात्मकः ॥
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयो द्वन्द्वजः क्रमात् ॥ ४६ ॥

अर्थ—वास्तवमें बन्ध तीन प्रकारका है। भावबंध द्रव्यबंध और उभयबंध। उनमें भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध तो अलग अलग स्वतन्त्र हैं, परन्तु तीसरा जो उभयबन्ध है वह जीव आदि पुद्गल दोनोंके मेलसे होता है।

भावार्थ—बन्धका लक्षण है कि "अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बन्धः" अर्थात् अनेक पदार्थोंमें एकत्व बुद्धिको उत्पन्न करनेवाले सम्बन्धका नाम बन्ध है। यहांपर बंध तीन प्रकारका बतलाया गया है उसमें उभय बन्ध तो जीवात्मा और पुद्गल-कर्म, इन दोनोंके सम्बन्ध होनेसे होता है। बाकीका जो दो प्रकारका बन्ध है वह द्वन्द्वज नहीं है किन्तु अलग अलग स्वतंत्र है। भावबन्ध तो आत्माका ही वैभाविक (अशुद्ध) भाव है और द्रव्य बन्ध पुद्गलका वह स्कन्ध है जिसमें कि बन्ध होनेकी शक्ति है। इन दोनों प्रकारके अलग अलग बन्धोंमें भी एकत्व बुद्धिको पैदा करनेवाला बन्धका लक्षण जाता ही है। क्योंकि रागात्मा जो भावबंध है वह भी वास्तवमें जीव और पुद्गलका ही विकार है यह राग पर्याय जीव और पुद्गल दोनोंके योगसे हुई है। आत्मांशकी अपेक्षासे राग पर्याय जीवकी बतलाई जाती है और पुद्गलांशकी अपेक्षासे वही पर्याय पुद्गलकी बतलाई जाती है। रागपर्याय दोनोंकी है इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव पुद्गलात्मक हो जाता है अथवा पुद्गल जीवात्मक हो जाता है किन्तु दोनोंके अंशोंके मेलसे रागपर्याय होती है। जो द्रव्य बन्ध है वह भी अनेक परमाणुओंका समुदाय है तथा उभय बन्धमें तो बन्धका लक्षण स्पष्ट ही है।

ऊपर कहे तीनों प्रकारके बन्धोंका स्वरूप ग्रन्थकार स्वयं आगेके श्लोकोंसे प्रगट करते हैं—

भावबन्ध और द्रव्य बन्धका स्वरूप—

रागात्मा भावबन्धः स जीवबन्ध इति स्मृतः ।
द्रव्यं पौद्गलिकः पिण्डो बन्धस्तच्छक्तिरेव वा ॥ ४७ ॥

अर्थ—जो आत्माका रागद्वेष रूप परिणाम है वही भावबन्ध कहलाता है। उसीको जीवबन्ध भी कहते हैं। 'द्रव्यबन्ध' इस पदमें पड़ा हुआ जो द्रव्य शब्द है उसका अर्थ तो पुद्गल पिण्ड है। उस पुद्गल पिण्डमें जो आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति है वही बन्ध शब्दका अर्थ है।

भावार्थ—आत्माका रागद्वेष रूप जो परिणाम है वह तो भावबन्ध है। और संसारमें भरी हुई वे पुद्गल वर्गणायें जो कि आत्माके साथ बँध जानेकी शक्ति रखती हैं द्रव्य बन्ध कहलाती हैं। सभी पुद्गलोंमें आत्माके साथ बन्ध होनेकी शक्ति नहीं है। पुद्गलके तेईस भेद बतलाये गये हैं। उनमें पांच वर्गणायें ऐसी हैं जिनसे कि जीवका सम्बन्ध है बाकी पुद्गलसे नहीं। वे वर्गणायें आहार वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माण वर्गणा, इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। ये ही पांचों आत्माके साथ बँध होनेकी शक्ति रखती हैं। रागद्वेष क्या वस्तु है इस विषयको स्वयं ग्रन्थकार आगे लिखेंगे।

उभय बन्ध—

इतरेतरबन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः ।
बन्ध्यबन्धकभावः स्याद्भावबन्धनिमित्ततः ॥ ४८ ॥

अर्थ—भावबन्धके निमित्तसे पुद्गल-कर्म और जीवके प्रदेशोंका जो परस्पर बन्ध्य-बन्धक भाव अर्थात् एक रूपसे मिल जाना है वही उभय बन्ध कहलाता है।

भावार्थ—जो बांधनेवाला है वह बन्धक कहलाता है। और जो बंधनेवाला है वह बन्ध्य कहलाता है। जब बांधनेवाला आत्मा और बंधनेवाला कर्म, दोनों मिल जाते हैं तभी बन्ध्य बन्धक भाव कहलाता है। इसीका नाम उभय बन्ध है। आत्माके प्रदेश और कर्मके प्रदेश, दोनों एक क्षेत्रावगाही अर्थात् एक रूपसे मिल जाते हैं उसीको उभय बन्ध कहते हैं। यह बन्ध भी राग द्वेष रूप भाव बन्धके निमित्तसे ही होता है।

जीव और कर्मकी सत्ता—

नाप्यसिद्धं स्वतस्सिद्धेरस्तित्वं जीवकर्मणोः ।
स्वानुभवगर्भयुक्तेर्वा समक्षोपलब्धितः ॥ ४९ ॥

अर्थ—जीव और कर्मकी सत्ता भी असिद्ध नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध है। जीव भी स्वतः सिद्ध है और कर्म भी स्वतः सिद्ध है। अथवा जीव और कर्मकी सत्तामें अनेक युक्तियां हैं जो कि अपने अनुभवमें आती हैं, अथवा जीव और कर्मकी सत्तामें प्रत्यक्ष प्रमाण भी है।

भावार्थ—उपरके श्लोक द्वारा जीव-कर्मका मिला हुआ उभय बन्ध बतलाया है, उसके विषयमें यदि कोई शंका करै कि उभय बन्ध किस तरह हो सक्ता है ? इस शंकाके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि जीव और कर्म दोनों ही अनेक अनुभव पूर्ण युक्तियोंसे सिद्ध हैं। दोनोंकी सत्ता स्वयं सिद्ध है। दोनों ही प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध हैं।

दोनोंकी सिद्धिमें प्रत्यक्ष प्रमाण—

अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।
एको दरिद्र एको हि श्रीमानिति च कर्मणः॥ ५०॥

अर्थ—इस शरीरके भीतर "मैं हूं, मैं हूं" ऐसा जो एक प्रकारका ज्ञान होता रहता है उस ज्ञानसे जाना जाता है कि इस शरीरके भीतर जीवरूप एक वस्तु स्वतन्त्र है। अथवा मैं-मैं इस बोधसे ही जीवात्माका मानसिक प्रत्यक्ष स्वयं होता है। इसी प्रकार कोई दरिद्र है, कोई धनाढ्य है कोई अन्धा है कोई गूंगा है आदि अनेक प्रकारके जीवोंके देखनेसे कर्मका बोध होता है।

भावार्थ—यदि आत्मा शरीरसे भिन्न स्वतः सिद्ध-स्वतन्त्र पदार्थ न होता तो शरीरसे भिन्न "मैं-मैं" ऐसी अन्तर्मुखाकार (अभ्यन्तर वचन) प्रतीति कभी न होती। यदि कर्म न होता तो जीवोंमें "कोई सुखी कोई दुःखी" आदि भेद कभी न पाया जाता।

जीव कर्मका सम्बन्ध—

यथास्तित्वं स्वतः सिद्धं संयोगोपि तथानयोः।
कर्तृभोक्त्रादिभावानामन्यथानुपपत्तितः॥ ५१॥

अर्थ—जिस प्रकार जीव और कर्मका अस्तित्व (सत्ता) स्वतः सिद्ध है उसी प्रकार इन दोनोंका संयोग भी स्वतः सिद्ध हैं। यदि जीव कर्मका सम्बन्ध नहीं माना जाय तो जीवमें कर्तापना तथा भोक्तापना नहीं आ सक्ता।

भावार्थ—जीव और कर्मका कार्य हम प्रत्यक्ष देखते हैं इसलिये जीव कर्मके सम्बन्धमें हमको कोई शंका नहीं रहती, यदि जीव कर्मका अनादिकालीन घनिष्ट सम्बन्ध न होता तो जीव कर्म करनेवाला और कर्तव्यानुसार फल भोगने वाला कभी सिद्ध न होता।

शङ्काकार—

ननु मूर्तिमता मूर्तो बध्यते द्व्यणुकादिवत्
मूर्तिमत्कर्मणा बन्धो नामूर्तस्य स्फुटं चितः॥ ५२॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि मूर्तिमान् पदार्थसे मूर्तिवाला पदार्थ ही बँध सक्ता है। जैसे कि द्व्यणुक, द्व्यणुक दो परमाणुओंके समूहको कहते हैं। दोनों ही परमाणु मूर्त

हैं इसी लिये उन दोनोंका मिलकर द्वयणुक कहलाता है। परन्तु मूर्तिवाले कर्मसे अमूर्त-आत्माका बन्ध कभी नहीं हो सक्ता ?

उत्तर—

नैवं यतः स्वतः सिद्धः स्वभावोतर्कगोचरः ।
तस्मादर्हति नाक्षेपं चेत्परीक्षां च सोर्हति ॥ ५३ ॥

अर्थ—कर्मका जीवात्माके साथ बन्ध नहीं हो सक्ता है ऐसी शङ्का करना ठीक नहीं है। क्योंकि जीव-कर्मका बंध अनादिसे स्वयं सिद्ध है यह एक स्वाभाविक बात है, और स्वभाव किसीका कैसा ही क्यों न हो, उसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती। जीव कर्मका बन्ध अनादिकालसे हो रहा है यह अशुद्ध जीवात्माका स्वभाव ही है और कर्मका भी यह स्वभाव है कि वह अशुद्ध जीवात्मासे संयुक्त हो जाता है तथा जीवकी अशुद्धता अनादि कालसे है, इसलिये इस स्वाभाविक विषयमें आक्षेप करना व्यर्थ है। यदि कोई इस बातकी (जीव-कर्मका बंध कैसे हुआ) परीक्षा ही करना चाहे तो उस अनादि-कालीन बंधरूप स्वभावकी परीक्षा भी हो सकती है।

स्वभावका उदाहरण—

अग्नेरौष्ण्यं यथा लक्ष्म न केनाप्यर्जितं हि तत् ।
एवं विधः स्वभावाद्वा न चेत्स्पर्शेन स्पृश्यताम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निका उष्ण लक्षण है। वह किसीने कहींसे लाकर नहीं रक्खा है। इस प्रकारका अग्निका स्वभाव ही है कि वह गर्म रहती है। यदि कोई यह शंका करे कि अग्नि क्यों गर्म है ? तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है। "ऐसा स्वभाव क्यों है" यदि ऐसी तर्कणा उठाई जाय तो यही कहना पडेगा कि नहीं मानते हो तो छूकर देखलो, स्पर्श करनेसे हाथ जलने लगता है इस लिये अग्नि गर्म है। यह निर्णीत अग्निका स्वभाव ही है।

दार्ष्टान्त—

तथानादिः स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणोः ।
कुतः केन कृतः कुत्र प्रश्नोयं व्योमपुष्पवत् ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निमें स्वयं सिद्ध उष्णता है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्मका भी अनादिसे स्वयं सिद्ध बन्ध हो रहा है। जिस प्रकार अग्निके उष्णपनेमें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सक्ती है उसी प्रकार जीव और कर्मके बन्धमें भी किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सक्ती है। फिर यह बन्ध कहांसे हुआ ? किसने किया ? कहां किया ? आदि

प्रश्न आकाशके पुष्पकी तरह सर्वथा निष्फल है । जिस प्रकार आकाशके पुष्प नहीं ठहरते उसी प्रकार यह प्रश्न भी नहीं ठहरता।

चेद् विभुत्सास्तिचित्ते ते स्यात्तथा वान्यथेति वा ।
स्वानुभूतिसनाथेन प्रत्यक्षेण विमृश्यताम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—कर्मोंका जीवके साथ बन्ध है अथवा नहीं है ? है तो किस प्रकार है ? इत्यादि जाननेकी यदि तुम्हारे हृदयमें आकांक्षा है तो स्वानुभूति प्रत्यक्षसे विचार लो ।

भावार्थ—जिस समय आत्मामें स्वानुभव होने लगेगा, उस समय इन बातोंका स्वयं परिज्ञान हो जायगा ।

अमूर्त आत्माका मूर्त पुद्गलके साथ किस प्रकार सम्बन्ध होता है इसीका खुलासा किया जाता है—

अस्त्यमूर्तं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च वस्तुतः ।
मद्यादिना समूर्तेन स्यात्तत्पाकानुसारि तत् ॥ ५७ ॥

अर्थ—वास्तवमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान-दोनों ही ज्ञान अमूर्त हैं, परन्तु मूर्त मद्य आदि पदार्थोंके योगसे उन ज्ञानोंका परिणमन बदल जाता है ।

भावार्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ही आत्माके ज्ञान गुणकी पर्यायरूप हैं । आत्मा अमूर्त है इसलिये ये दोनों भी अमूर्त ही हैं, परन्तु जब कोई आदमी मदिरा भंग आदि मादक पदार्थोंका पान कर लेता है तो उस आदमीका ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है, मदिरापान करनेवाला मनुष्य बेहोश हो जाता है। यह बेहोशी उसी मूर्त मदिराके निमित्तसे होती है। इस कथनसे आत्माका मूर्त कर्मसे किस तरह बंध हो जाता है ? इस प्रश्नका अच्छी तरह निराकरण हो जाता है ।

उसीका स्पष्टार्थ–

नासिद्धं तत्तथायोगात् यथा दृष्टोपलब्धितः ।
विना मद्यादिना यस्मात् तद्विशिष्टं न तद्द्वयम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—मदिराके निमित्तसे ज्ञान मंद हो जाता है यह बात असिद्ध नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध है । क्योंकि मदिरा आदिके विना मतिज्ञान, श्रुतज्ञान मूर्छित नहीं होते ।

भावार्थ—विना मदिराके ज्ञान निर्मल रहता है और मद्य पीनेसे मूर्छित हो जाता है इसलिये अमूर्त ज्ञानपर मूर्त मदिराका पूरा असर पड़ता है ।

वास्तवमें ज्ञान अमूर्त है–

अपि चोपचारतो मूर्तं तूक्तं ज्ञानद्वयं हि यत् ।
न तत्तत्त्वाद्यथा ज्ञानं वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ५९ ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कथंचित् मूर्त भी हैं, परन्तु उक्त दोनों ज्ञानोंमें मूर्त

पना उपचारसे है, वास्तवमें नहीं है। तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञान अमूर्त ही है और अमूर्त ज्ञान मूर्त कभी नहीं हो सक्ता है क्योंकि वस्तुकी सीमाका उल्लङ्घन कभी नहीं हो सक्ता है। जो मूर्त है वह सदा मूर्त ही रहता है और जो अमूर्त है वह सदा अमूर्त ही रहता है। इसलिये मतिज्ञान श्रुतज्ञान आत्माके गुण हैं वे वास्तवमें अमूर्त ही हैं केवल उपचारसे मूर्त कहलाते हैं।

ज्ञान मूर्त भी है—

नासिद्धश्चोपचारोयं मूर्ते यत्तत्त्वतोपि च।
वैचित्र्याद्वस्तुशक्तीनां स्वतः स्वस्यापराधतः॥ ६०॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञानको वास्तवमें अमूर्त कहा गया है और उपचारसे मूर्त कहा गया है, उस उपचारको कुछ न समझ कर या असिद्ध समझ कर जो कोई उक्त ज्ञानोंको सर्वथा अमूर्त ही समझते हों उनके लिये कहा जाता है कि जिस उपचारसे उक्त ज्ञानोंको मूर्त कहा गया है वह उपचार भी असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है। दूसरी तरहसे यह भी कहा जा सक्ता है कि वास्तवमें भी उक्त ज्ञान मूर्त हैं। यहां पर कोई शंका करै कि वास्तवमें अमूर्त पदार्थ मूर्त कैसे हो गया? इसके लिये आचार्य उत्तर देते हैं कि वस्तुओंकी शक्तियां विचित्र हैं किसी शक्तिका कैसा ही परिणमन होता है और किसीका कैसा ही। आत्माका ज्ञान गुण अमूर्त है वह मूर्त कैसे हो गया और वस्तुशक्तिका ऐसा विपरिणमन क्यों हुआ? इसमें किसीका दोष नहीं है, स्वयं आत्माने अपना अपराध किया है जिससे उसे मूर्त बनना पड़ा है।

भावार्थ—" मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते " जहां पर मूल पदार्थ न हो परन्तु किसी प्रकारका प्रयोजन उससे सिद्ध होता हो अथवा वह किसी कार्यमें निमित्त पड़ता हो तो ऐसे स्थल पर उपचारसे उसकी सत्ता स्वीकार की जाती है। जैसे किसी बालकमें तैजस्त्व गुण देख कर उसे अग्नि कह देते हैं वास्तवमें वह अग्नि नहीं है क्योंकि उसमें ऊष्णता आदि गुण नहीं है तथापि तैजस्त्व गुणके प्रयोजनसे उसे अग्नि कहते हैं इस लिये वह अग्निका उपचार बालकमें सर्वथा व्यर्थ नहीं है किन्तु किसी प्रयोजन वश किया गया है। इसी प्रकार कहीं पर निमित्त वश उपचार होता है। ज्ञानमें जो मूर्तताका उपचार किया गया है वह कर्मके निमित्तसे है। दूसरे—कर्मका आत्माके साथ अनादि कालसे अति घनिष्ट सम्बन्ध होनेसे आत्माका विपाक ही वैसा होने लगा है, इसलिये कहना पड़ता है कि आत्मा मूर्त है। मूर्ततामें एक हेतु यह भी है कि आत्माने अपना निज स्वभाव छोड़ दिया है।

जीवका परिणमन—

अप्यस्त्यनादिसिद्धस्य सतः स्वाभाविकी क्रिया ।
वैभाविकी क्रिया चास्ति पारिणामिकशक्तितः ॥ ६१ ॥

अर्थ—अनादि सिद्ध सत्ता रखनेवाले इस जीवात्माके दो प्रकारकी क्रिया होती है । एक स्वाभाविकी क्रिया और दूसरी वैभाविकी क्रिया । यह दोनों प्रकारकी क्रिया शक्तियोंके परिणमनशील होनेसे होती है ।

भावार्थ—सम्पूर्ण शक्तियां परिणमनशील हैं, एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थाको धारण करती रहती हैं। परिणमनके कारण ही जीवात्मामें स्वभाव परिणमन और विभाव परिणमन—दोनों प्रकारका परिणमन होता है ।

वैभाविकी शक्ति आत्माका गुण है—

न परं स्यात्परायत्ता सतो वैभाविकी क्रिया ।
यस्मात्सतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्यैर्न शक्यते ॥ ६२ ॥

अर्थ—यदि कोई वैभाविक शक्तिको पराधीन ही समझे, तो उसके लिये आचार्य कहते हैं कि वैभाविक शक्ति आत्माका ही निज गुण है क्योंकि जिसमें जो गुण नहीं है वह दूसरोंसे नहीं आ सक्ता ।

भावार्थ—आत्मामें अन्य गुणोंकी तरह एक वैभाविक गुण भी है उसी वैभाविक गुणका विभाव परिणमन और स्वभाव परिणमन होता है । यदि वैभाविक गुण आत्माका निज गुण न होता तो आत्मामें विभाव—स्वभाव रूप परिणमन भी नहीं हो सकता ।

शङ्काकार—

ननु वैभाविकभावाख्या क्रिया चेत्पारिणामिकी ।
स्वाभाविक्याः क्रियायाश्च कः शेषो हि विशेषभाक् ॥ ६३ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि यदि वैभाविक नामकी शक्ति ही परिणमन शील है तो उसीका विभाव और स्वभाव परिणमन होगा । फिर स्वभावकी शक्तिमें क्या विशेषता बाकी रहेगी ?

फिर भी शंकाकार—

अपि चार्थ परिच्छेदि ज्ञानं स्वं लक्षणं चितः ।
ज्ञेयाकारक्रिया चास्य कुतो वैभाविकी क्रिया ॥ ६४ ॥

अर्थ—शंकाकारका कहना है कि पदार्थको जाननेवाला जो ज्ञान है वह इस जीवात्माका निज लक्षण है । उस ज्ञानमें जो ज्ञेयके आकार क्रिया होती है वह क्रिया वैभाविकी कैसे कही जा सक्ती है ?

भावार्थ—इस श्लोकसे शंकाकारने वैभाविक शक्तिको अनुपयोगी समझकर उड़ा ही दिया है । वह कहता है कि वैभाविक उसे ही कहते हैं कि जो पर निमित्तसे हो, ज्ञान भी ज्ञेय पदार्थके निमित्तसे उस ज्ञेयके आकारको धारण करता है, परन्तु ज्ञेयाकारको धारण करनेवाला ज्ञान वैभाविक किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता है ?

इसी शंकाको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते हैं—

तस्माद्यथा घटाकृत्या घटज्ञानं न तद्घटः ।
मद्याकृत्या तथाज्ञानं ज्ञानं ज्ञानं न तन्मयम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि जिस समय ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञान ज्ञेयाकार हो जाता है, उस समय ज्ञान ज्ञान ही रहता है, वह ज्ञेय नहीं हो जाता । दृष्टान्तके लिये घटज्ञानको ले लीजिये । जिस समय ज्ञान घटाकार होता है उस समय घटज्ञान ज्ञान ही तो है, वह घट ज्ञान घट नहीं बन जाता । इसी प्रकार मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान मद्याकार अर्थात् मलिन तथा मूर्छित हो जाता है, वह भी ज्ञान ही है, ज्ञान मदिरामय (विकारी) कभी नहीं हो सकता है ।

भावार्थ—शंकाकारकी दृष्टिसे वैभाविक परिणमन कोई चीज नहीं है । वह कहता है कि जिस समय मदिराके निमित्तसे ज्ञान मालिन्य रूपमें आता है उस समय वह ज्ञान ही तो है, चाहे वह किसी रूपमें क्यों न हो । शंकाकारने ज्ञेयके निमित्तसे बदलनेवाले ज्ञानमें कुछ भी अन्तर नहीं समझा है इस लिये उसके कथनानुसार स्वाभाविक शक्ति ही मानना चाहिये । वैभाविक शक्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

उत्तर—

नैवं यतो विशेषोस्ति बद्धावबद्धबोधयोः ।
मोहकर्मावृतो बद्धः स्यादबद्धस्तदत्ययात् ॥ ६६ ॥

अर्थ—जो पहले शंकाकारकी तरफसे यह कहा गया था कि मदिराके निमित्तसे बदला हुआ ज्ञान भी ज्ञान ही है और ज्ञेयाकार होनेवाला भी ज्ञान ही है, ज्ञानपना दोनोंमें समान है । इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि यह बात नहीं है क्योंकि विना किसी अन्य निमित्तके (केवल ज्ञेयके निमित्तसे) ज्ञेयाकार होनेवाले ज्ञानमें और मदिराके निमित्तसे बदलने वाले ज्ञानमें बहुत अन्तर है । मदिराके निमित्तसे जो ज्ञान बदला है वह ज्ञान मलिन है, उस ज्ञानमें यथार्थता नहीं है । यथार्थता उसी ज्ञानमें है जो कि वस्तुको यथार्थ रीतिसे ग्रहण करता है । जो ज्ञान केवल ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञेयाकार होता है वह वस्तुको यथार्थ ग्रहण करता है इसलिये दोनों ज्ञानोंमें बड़ा अन्तर है ।

इसी प्रकार जीवोंका ज्ञान दो प्रकारका है, एक बद्ध ज्ञान दूसरा अबद्ध ज्ञान। जो ज्ञान मोहनीय कर्मसे ढका हुआ है अर्थात् जिसके साथ मोहनीय कर्म लगा हुआ है उसे तो बद्ध अर्थात् बँधा हुआ ज्ञान कहते हैं और जो ज्ञान मोहनीय कर्मसे रहित हो चुका है वह ज्ञान अबद्ध कहलाता है। बद्ध और अबद्ध ज्ञानमें बड़ा अन्तर है।

उसी अन्तरको नीचे दिखलाते हैं—

मोहकर्मावृतं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
इष्टानिष्टार्थसंयोगात् स्वयं रज्यद्द्विषद्यथा ॥ ६७ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मसे जो ज्ञान आवृत हो रहा है वह जिस २ पदार्थको जानता है उसी २ पदार्थमें इष्ट और अनिष्ट बुद्धि होनेसे स्वयं रागद्वेष करता है।

भावार्थ—यद्यपि प्रत्येक पदार्थको क्रम २ से जानना ऐसी योग्यता ज्ञानमें ज्ञानावरणीयके निमित्तसे होती है, परन्तु इष्टरूप या अनिष्टरूप जैसे पदार्थ मिलते हैं, उन पदार्थोंमें रागद्वेष रूप बुद्धिका होना यह बात ज्ञानमें मोहनीय कर्मके निमित्तसे आती है।

अबद्ध ज्ञानका स्वरूप—

तत्र ज्ञानमबद्धं स्यान्मोहकर्मातिगं यथा।
क्षायिकं शुद्धमेवैतल्लोकालोकावभासकम् ॥ ६८ ॥

अर्थ—जिस ज्ञानके साथ मोहनीय कर्मका सम्बन्ध नहीं रहा है वह अबद्ध ज्ञान कहलाता है। ऐसा ज्ञान परम शुद्ध क्षायिक ज्ञान है वही ज्ञान लोक अलोकका जाननेवाला है।

भावार्थ—चार घातिया कर्मोंका नाश करनेवाले तेरहवें गुणस्थानवर्ती अरहन्त भगवानके जो जगत्का प्रकाश करनेवाला केवलज्ञान है वही अबद्ध ज्ञान है।

क्षायिक ज्ञान अबद्ध क्यों है सो बतलाते हैं—

नासिद्धं सिद्धदृष्टान्तात् एतद्दृष्टोपलब्धितः।
शीतोष्णानुभवः स्वस्मिन् न स्यात्तज्ज्ञे परात्मनि ॥ ६९ ॥

अर्थ—क्षायिक ज्ञान अबद्ध है, उसमें इष्ट अनिष्ट रूप बुद्धि नहीं होती है यह बात असिद्ध नहीं हैं किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध है। हम शीत और गर्मीका अनुभव करते हैं, अर्थात हमें ठण्ड भी लगती है और गरमी भी लगती है, परन्तु दूसरा मनुष्य जो कि हमारे शीत उष्णका परिज्ञान करता है वह शीत उष्णका अनुभव नहीं करता है।

भावार्थ—हम किसी कष्टको भोग रहे हों तो दूसरा मनुष्य यह तो जानता है कि वह कष्ट भोग रहा है परन्तु उसे कष्ट नहीं है। कष्टका होना और कष्टका ज्ञान होना इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। सिद्धोंका ज्ञान सांसारिक पदार्थोंको तथा नरकादिक गतियोंको

जानता है परन्तु उन पदार्थोंमें किसी प्रकारकी रुचि अथवा अरुचिका उत्पादक नहीं हो सक्ता है । क्योंकि रुचि अथवा अरुचिका होना मोहनीयके निमित्तसे है वहां पर मोहनीयका सर्वथा अभाव हो चुका है इससे भली भांति सिद्ध होता है कि जो मोहनीय कर्मसे सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान है वही बद्ध है और उससे रहित अबद्ध है ।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धः सुदृष्टान्तो मूर्ते ज्ञानद्वयं यथा ।
अस्त्यमूर्तोपि जीवात्मा बद्धः स्यान्मूर्तकर्मभिः ॥ ७० ॥

अर्थ—इस लिये इतने कथनसे तथा मदिराके ज्वलन्त उदाहरणसे यह बात भले प्रकार सिद्ध हो गई कि जिस प्रकार मतिज्ञान और श्रुत ज्ञान अमूर्त होने पर भी मूर्त हो जाते हैं । उसी प्रकार अमूर्त भी जीवात्मा मूर्तिमान् कर्मोंसे बँध जाता है अर्थात् मूर्त कर्मोंके निमित्तसे अमूर्त आत्मा भी कथंचित् मूर्त हो जाता है ।

प्रश्न—

ननु बद्धत्वं किं नाम किमशुद्धत्वमर्थतः ।
वावदूकोथ संदिग्धो बोध्यः कश्चिदिति क्रमात् ॥ ७१ ॥

अर्थ—ऊपर कहा गया है कि जीव कर्मोंसे बँधा हुआ है । यहां पर यह बतलाइये कि बद्धता क्या वस्तु है ? तथा अशुद्धता भी वास्तवमें क्या वस्तु है ? जिस किसी अधिक बोलनेवालेको इस विषयमें संदेह है उसके संदेहको दूर कर उसे यथार्थ बोध करा दीजिये ?

बन्धका स्वरूप—

अर्थाद्वैभाविकी शक्तिर्या सा चेदुपयोगिनी ।
तद्गुणाकारसंक्रातिर्बन्धः स्यादन्यहेतुकः ॥ ७२ ॥

अर्थ—आत्मामें अन्य गुणोंकी तरह एक वैभाविक नामा शक्ति भी है । वह शक्ति जब उपयुक्त अवस्थामें आती है तब आत्माके गुणोंकी संक्रान्ति (च्युत) होती है । गुणोंका अपने स्वरूपसे च्युत होना ही बन्ध कहलाता है और वह बन्ध दूसरेके कारणसे होता है ।

भावार्थ—रागद्वेषके निमित्तसे वैभाविक शक्तिका परिणमन विभावरूप होता है । जो वैभाविक शक्तिका विभावरूप परिणमन है वही परिणमन वैभाविक शक्तिकी उपयोगी व्यवस्था है । उसी अवस्थामें आत्मा अपने स्वरूपसे गिर जाता है वही बन्धका यथार्थ स्वरूप है । इसी बातको नीचे स्पष्ट किया जाता है—

तत्र बन्धे न हेतुः स्याच्छक्तिर्वैभाविकी परम् ।
नोपयोगोपि तत्किन्तु परायत्तं प्रयोजकम् ॥ ७३ ॥

अर्थ—आत्माके गुणोंकी च्युति होने रूप बन्धमें केवल वैभाविकी शक्ति ही कारण नहीं है अथवा उसका केवल उपयोग भी कारण नहीं है किन्तु पराधीनता ही प्रयोजक है ।

भावार्थ—यदि बन्धका कारण वैभाविक शक्ति ही हो तो वह शक्ति नित्य है—सदा आत्मामें रहती है इस लिये आत्मामें सदा बन्ध ही होता रहेगा, आत्मा मुक्त कभी ग होगा । अथवा मुक्त आत्मा भी बंध करने लगेगा इस लिये केवल शक्ति ही बंधका कारण नहीं है । तथा केवल उपयोग भी नहीं है । उपयोग नाम शक्तिके परिणमनका है । वह उपयोग शक्तिकी स्वभाव अवस्थामें भी होता है और विभाव अवस्थामें भी होता है । यदि शक्तिका शुद्ध उपयोग भी बन्धका कारण हो तो भी वही दोष आता है जो कि ऊपर कहा जा चुका है । इस लिये पुद्गलके निमित्तसे जो वैभाविक शक्तिका विभाव रूप उपयोग है वही बन्धका कारण है । इस कथनसे बन्ध–कारणमें पुद्गलकी भी मुख्यता ली गई है । इसी बातको और भी स्पष्ट करते हैं ।

अस्ति वैभाविकी शक्तिस्तत्तद्द्रव्योपजीविनी ।
सा चेद्बन्धस्य हेतुः स्यादर्थान्मुक्तेरसंभवः ॥ ७४ ॥

अर्थ—जीव और पुद्गलका वैभाविक उपजीवी गुण है यदि वही बन्धका कारण हो तो जीवकी कभी मोक्ष ही नहीं हो सकती है ।

भवार्थ—जो गुण भाव रूप होते हैं उन्हींको उपजीवी गुण कहते हैं । ज्ञान, सुख, दर्शन, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुण सभी उपजीवी गुणहैं ये गुण अपनी सत्ता • रखते हैं । इसी प्रकारका गुण वैभाविक भी है । जो गुण भावरूप न हों केवल कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अवस्थाका अभाव हो जानेसे प्रगट हुए हों उन्हें प्रतिजीवीगुण कहते हैं । जैसे गोत्रके निमित्तसे आत्मा उच्च नीच कहलाता था । गोत्र कर्मके दूर हो जानेसे अब उच्च नीच नहीं कहलाता इसीका नाम अगुरुलघु है । वास्तवमें यह *अगुरुलघु गुण नहीं है किन्तु गुरु और लघुपनेके अभावको ही अगुरुलघु कहा गया है । यह भी आत्माका अभावात्मक धर्म है । वैभाविक आत्माका सत्‌रूप गुण है इसलिये वह बन्धका हेतु नहीं हो सकता ।

उपयोग भी बन्धका कारण नहीं है—

उपयोगः स्यादभिव्यक्तिः शक्तेः स्वार्थाधिकारिणी ।
सैव बन्धस्य हेतुश्चेत् सर्वो बन्धः समस्यताम् ॥ ७५ ॥

अर्थ—शक्तिकी स्वरूपात्मक व्यक्तताका नाम भी उपयोग है । यदि वही उपयोग बन्धका हेतु हो तो सभी बंध विशिष्ट हो जांयगे ।

* एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप न हो जाय जिसका यह कार्य है जिसमें षट् गुणी हानि वृद्धि होती रहती है वह अगुरुलघु उपजीवी गुण दूसरा ही है ।

भावार्थ—वैभाविक शक्तिका अपने स्वरूपको लिये हुए प्रगटपना शुद्ध अवस्थामें होता है। वह उक्त शक्तिका स्वभाव परिणमन कहलाता है। यह स्वभाव परिणमन बन्धका कारण नहीं है किन्तु दूसरा ही है। उसे ही बतलाते हैं।

तस्मात्तद्धेतुसामग्री सान्निध्ये तद्गुणाकृतिः।
स्वाकारस्य परायत्ता तया बद्धोऽपराधवान् ॥ ७६ ॥

अर्थ—इसलिये बन्धका कारण कलाप मिलनेपर यह स्वयं अपराधी आत्मा परतंत्र होता हुआ बँध जाता है उसी समय आत्माके निज गुणोंका स्वरूप अपनी अवस्थाको छोड़कर विभाव (विकार) अवस्थामें आ जाता है।

आत्माकी पराधीनता भी असिद्ध नहीं है—

नासिद्धं तत्परायत्तं सिद्धसंदृष्टितो यथा।
शीतमुष्णमिवात्मानं कुर्वन्नात्माप्यनात्मवित् ॥ ७७ ॥

अर्थ—संसारी आत्मा कर्मोंके परतन्त्र है यह बात भी असिद्ध नहीं है। प्रसिद्ध दृष्टान्तसे यह बात सिद्ध है। जिस समय यह आत्मा ठण्ड या गरमीका अनुभव करने लगता है उस समय यह मूर्ख आत्मा अपनी आत्माको ही ठण्ड या गरम समझने लगता है। यह मूर्खता इसकी कर्मोंकी परतन्त्रतासे ही होती है।

शीत और उष्ण क्या है ?

तद्यथा मूर्तद्रव्यस्य शीतश्चोष्णो गुणोखिलः।
आत्मनश्चाप्यमूर्तस्य शीतोष्णानुभवः क्वचित् ॥ ७८ ॥

अर्थ—शीत और उष्ण दोनों मूर्तद्रव्य (पुद्गल)के + गुण हैं। इन गुणोंका × कहीं २ अमूर्त आत्मामें भी अनुभव होता है।

भावार्थ—आत्मा यद्यपि अमूर्त है उसके न शीत है और न उष्ण है तथापि कर्मकी परतन्त्रतासे यह आत्मा अपने आपको ही ठण्डा और गरम मानता है।

शंकाकार—

ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगतः।
परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा ॥ ७९ ॥

अर्थ—क्या वैभाविक शक्तिका विभाव रूप परिणमन दूसरेके निमित्तसे ही होता है ? दूसरेके विना निमित्तके नहीं ही होता ? अथवा वैभाविक शक्ति वास्तवमें है या नहीं है ?

+ स्पर्शगुणकी पर्याय । × संसारी आत्मामें ।

उत्तर—

सत्यं नित्या तथा शक्तिः शक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत् ।
अथान्यथा सतो नाशः शक्तीनां नाशतः क्रमात् ॥ ८० ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि वैभाविक शक्ति वास्तवमें है और वह नित्य है क्योंकि जो २ शक्तियां होती हैं वे सब नित्य ही हुआ करती हैं जिस प्रकार आत्माकी शुद्ध शक्तियां ज्ञान दर्शनादिक नित्य हैं उसी प्रकार यह भी नित्य है । यदि इस वैभाविक शक्तिको नित्य नहीं माना जाय तो सत् पदार्थका ही नाश हो जायगा । क्योंकि शक्तियों (गुणों)का समूह ही तो पदार्थ है । जब शक्तियोंका ही क्रम २ से नाश होने लगे तो पदार्थ भी अवश्य नष्ट हो जायगा । अंग नाशसे अंगीका नाश अवश्यंभावी है । इस लिये वैभाविक शक्ति आत्माका नित्य गुण है ।

अशुद्धतामें हेतु—

किन्तु तस्यास्तथाभावः शुद्धादन्योन्यहेतुकः ।
तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भावः स्यात्केवलं स्वतः ॥ ८१ ॥

अर्थ—किन्तु उस वैभाविक शक्तिकी शुद्ध अवस्थासे जो अशुद्ध अवस्था होती है वह दूसरेके निमित्तसे होती है । वह निमित्त जब आत्मासे दूर हो जाता है तब उस शक्तिकी शुद्ध अवस्था हो जाती है ।

दृष्टान्त—

नासिद्धोसौ हि सिद्धान्तः सिद्धः संदृष्टितो यथा ।
वन्ह्रियोगाज्जलंचोष्णं शीतं तत्तदयोगतः ॥ ८२ ॥

अर्थ—दूसरेके निमित्तसे वैभाविक शक्तिका विभाव परिणमन होता है विना निमित्तके उसी शक्तिका स्वभाव परिणमन हो जाता है यह सिद्धान्त असिद्ध नहीं है । यह बात तो दृष्टान्त द्वारा भले प्रकार सिद्ध होती है । यथा अग्निके निमित्तसे जल गरम हो जाता है, और अग्निके दूर होनेपर वही जल अपनी स्वाभाविक शीत अवस्थामें आ जाता है ।

फिर भी शङ्काकार—

ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत् ।
एकः स्वाभाविको भावो भावो वैभाविकोऽपरः ॥ ८३ ॥
चेदवश्यं हि ते शक्ती सतः स्तः का क्षतिः सताम् ।
स्वाभाविकी स्वभावैः स्वैः स्वैर्विभावैर्विभावजा ॥ ८४ ॥
सद्भावेथाप्यसद्भावे कर्मणां पुद्गलात्मनाम् ।
अस्तु स्वाभाविकी शक्तिः शुद्धैर्भावैर्विराजिता ॥ ८५ ॥

अस्तु वैभाविकी शक्तिः संयोगात्पारिणामिकी ।
कर्मणामुदयाभावे न स्यात्सा पारिणामिकी ॥ ८६ ॥
दण्डयोगाद्यथा चक्रं बम्भ्रमत्यात्मनात्मनि ।
दण्डयोगादिना चक्रं चित्रं वा व्यवतिष्ठते ॥ ८७ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि ऊपरके कथनसे यह बात सिद्ध होती है कि एक वैभाविकी नामा शक्ति है, उसी एक शक्तिकी दो प्रकारकी अवस्थायें होती हैं, एक स्वाभाविक अवस्था, दूसरी वैभाविक अवस्था । यदि ऐसा ही है अर्थात् पदार्थमें स्वभाव-विभाव दोनों प्रकारके परिणमन होते हैं तो फिर पदार्थमें दो शक्तियां ही क्यों न मान ली जावें, इसमें पदार्थोंकी क्या हानि होती है ? एक शक्ति मानकर उसकी दो अवस्थायें माननेकी अपेक्षा दो स्वतन्त्र शक्तियां मान लेना ही ठीक है । आत्माके स्वाभाविक भावोंसे होनेवाली स्वाभाविकी शक्ति और आत्माके वैभाविक भावोंसे होनेवाली वैभाविकी शक्ति । इस प्रकार दोनों सिद्ध होती हैं।

चाहे आत्मामें कर्मोंका सम्बन्ध हो चाहे न हो आत्माके शुद्ध भावोंमें परिणमन करनेवाली स्वाभाविकी शक्ति सदा रहती है । वह शक्ति उन्हीं आत्माके अंशोंमें काम करती है जो शुद्ध हैं । तथा कर्मोंका जब तक आत्मासे सम्बन्ध रहेगा तबतक वैभाविक शक्तिका परिणमन होता रहेगा, जब कर्मोंका उदय न रहेगा अर्थात् जब कर्म शान्त हो जांयगे उस समय उस वैभाविक शक्तिका परिणमन भी नहीं होगा, उस समय वह बेकार ही पड़ी रहेगी। दृष्टान्त—कुम्हारके चाकको जब तक दण्डका निमित्त रहता है तब तक वह चाक अपने आप घूमता है, परन्तु जब दण्डका सम्बन्ध नहीं रहता तब वह चाक भित्तिमें बनाये हुए चित्रकी तरह अपने स्थानमें ही ठहरा रहता है ।

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय इतना ही है कि आत्मामें एक स्वाभाविक शक्ति और एक वैभाविक शक्ति ऐसी दो शक्तियां स्वतन्त्र मानो । ये दोनों शक्तियां नित्य हैं, परन्तु आत्माके स्वाभाविक गुणोंमें स्वाभाविकी शक्तिका परिणमन होता रहता है । कर्मोंके निमित्तसे जब आत्माके गुणोंका वैभाविक स्वरूप हो जाता है तब वैभाविक शक्तिका परिणमन होता रहता है । परन्तु कर्मोंके दूर होनेपर या अनुदय होनेपर वैभाविक शक्तिका परिणमन नहीं होता है ।

शङ्काकार दो शक्तियां मानकर उन्हें नित्य मानता है तथापि उनमें परिणमन वह सदा नहीं मानता । उसके सिद्धान्तानुसार अब दो शङ्कायें हो गईं । एक तो एक शक्तिके स्थानमें दो शक्तियां स्वीकार करना । दूसरे शक्तियोंको नित्य मानते हुए भी उनमें सदा परिणमन नहीं मानना । इन्हीं दोनों शङ्काओंका परिहार नीचे किया जाता है—

उत्तर—

नैवं यतोऽस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम् ।
कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वै पारिणामिकी ॥ ८८ ॥

अर्थ—शङ्काकारका यह कहना कि वैभाविक शक्ति विना कर्मोदयके चित्रकी तरह कूटस्थ–परिणाम शून्य रह जाती है, सर्वथा युक्ति–आगम शून्य है। क्योंकि जितना भी शक्ति समूह है सब परिणमन शील है। पदार्थमें ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो प्रतिक्षण अपनी अवस्थाको न बदलती हो। फिर वैभाविकी शक्ति परिणमन शील क्यों न होगी। जब वह परिणमन शील है तो "कर्मोके अनुदयमें चित्रकी तरह परिणाम रहित हो जाती है" यह शङ्काकारकी शङ्का नितान्त व्यर्थ है।

और ऐसा भी नहीं है कि कोई शक्ति परिणमनवाली हो और कोई न हो, सभी शक्तियां परिणमन शील हैं, इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

शक्तिको परिणाम रहित माननेमें कोई प्रमाण नहीं है—

परिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चाऽपारिणामिकी ।
तद्ग्राहकप्रमाणस्याऽभावात्सदृष्टयभावतः ॥ ८९ ॥

अर्थ—द्रव्यमें जितनी शक्तियां हैं सभी प्रतिक्षण परिणमन करती रहती हैं। किसी शक्तिको परिणमन शील माना जाय और किसीको नहीं माना जाय या कुछ कालके लिये परिणमन शील माना जाय, इसमें कोई प्रमाण नहीं है और न कोई दृष्टान्त ही है।

भावार्थ—वस्तुमें दो प्रकारकी पर्यायें होती हैं एक व्यञ्जन पर्याय, दूसरी अर्थ पर्याय। प्रदेशवत्त्व गुणके विकारको व्यञ्जन पर्याय कहते हैं, अर्थात् समग्र वस्तुके अवस्था भेदको व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। तथा उस द्रव्यमें रहनेवाले अनन्त गुणोंकी पर्यायको अर्थ पर्याय कहते हैं। उक्त दोनों प्रकारकी पर्यायें वस्तुमें प्रति समय हुआ करती हैं।

फलितार्थ—

तस्माद्वैभाविकी शक्तिः स्वयं स्वाभाविकी भवेत् ।
परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम् ॥ ९० ॥

अर्थ—जब उपर्युक्त कथनानुसार सभी शक्तियोंका परिणमन होता है। तब वैभाविकी शक्तिका भी प्रतिक्षण परिणमन सिद्ध हो चुका। इसलिये फलितार्थ यह हुआ कि वैभाविकी शक्तिही अवस्थाभेदसे स्वभाव विभावमें आया करती है। जब कर्मोका सम्बन्ध रहता है तब तो उस वैभाविकी शक्तिका विभावरूप परिणमन होता है और जब सम्पूर्ण कर्मोका अभाव होता है तथा आत्मा अपने स्वाभाविक शुद्धभावोंका अधिकारी हो जाता है, उस

समय उस वैभाविकी शक्तिका परिणमन स्वभावरूप होता है। इस प्रकार केवल एक वैभाविक शक्तिके ही स्वाभाविक और वैभाविक ऐसे दो अवस्था भेद हैं।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धं सतोऽवश्यं न्यायाच्छक्तिद्वयं यतः।
सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयोः ॥ ९१ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि पदार्थमें अवस्थाके भेदसे दो शक्तियां हैं। यह द्वैत अवस्था भेदसे ही है, स्वाभाविक और वैभाविक इन दो शक्तियोंकी अपेक्षासे युगपत् द्वैत नहीं है।

भावार्थ—वस्तुमें एक समयमें एकही पर्याय होती है इस नियमसे वैभाविक शक्तिकी क्रमसे होनेवाली दोनों अवस्थायें वस्तुमें रहती हैं। परन्तु कोई कहे कि स्वाभाविक और वैभाविक दोनों एक साथ रह जांय यह कभी नहीं हो सक्ता। क्योंकि यदि एक साथ एक कालमें दोनों रह जांय तो वे दो गुण कहे जांयगे, पर्यायें नहीं कही जांयगी। पर्याय तो एक समयमें एक ही होती है। इसलिये अवस्थाभेदसे क्रमसे ही स्वाभाविक और वैभाविक दोनों अवस्थायें पायी जाती हैं। एक कालमें नहीं।

दोनोंको एक समयमें माननेसे दोष—

यौगपद्ये महान् दोषस्तद्वैतस्य नयादपि।
कार्यकारणसंज्ञानां नाशः स्याद्बन्धमोक्षयोः ॥ ९२ ॥

अर्थ—यद्यपि वैभाविक शक्ति एक ही है और उसकी दो अवस्थायें क्रमसे होती हैं यह सिद्धान्त है। तथापि अवस्था भेदसे जो द्वैत है अर्थात् पर्यायकी अपेक्षासे जो स्वाभाविक और वैभाविक दो भेद हैं इन भेदोंको एक साथ ही कोई स्वीकार करे तो भी ठीक नहीं है। ऐसा माननेसे अनेक दोष आते हैं। एक तो कार्य कारण भाव इनमें नहीं रहेगा क्योंकि वैभाविक अवस्था पूर्वक ही स्वाभाविक अवस्था होती है। जिस प्रकार संसार पूर्वक ही मोक्ष होती है। इस लिये संसार मोक्ष प्राप्तिमें कारण है। इसी प्रकार वैभाविक अवस्थाके बिना स्वाभाविक अवस्था भी नहीं हो सक्ती है। एक साथ माननेमें यह कार्यकारणभाव नहीं बनेगा। दूसरे बन्ध और मोक्षकी भी व्यवस्था नहीं बनेगी, क्योंकि वैभाविक अवस्थाको पहले माननेसे तो बन्धपूर्वक मोक्षका होना सिद्ध होता है। परन्तु एक साथ दोनों अवस्थाओंकी सत्ता स्वीकार करनेसे बन्ध और मोक्ष एक साथ ही प्राप्त होंगी। अथवा बन्धकी सत्ता होते हुए मोक्ष कभी हो नहीं सक्ती, इसलिये इस आत्माकी कभी भी मोक्ष नहीं होगी। इसी बातको नीचे भी दिखाते हैं—

नैकशक्ते र्द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गतः ।
सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादवाञ्छितम् ॥ ९३ ॥

अर्थ—यद्यपि एक शक्ति (वैभाविक) के ही दो भेद होते हैं अर्थात् एक ही शक्ति दो रूप धारण करती है । परन्तु एक साथ ही एक शक्तिके दो भेद नहीं हो सक्ते । यदि दोनों भेद बराबर एक साथ ही होने लगें तो वैभाविक अवस्था भी नियमसे सदा बनी रहेगी और वैभाविक अवस्थाकी नित्यतामें आत्माका मोक्ष-प्रयास व्यर्थ हो जायगा । इसलिये एक गुणकी वैभाविक और स्वाभाविक अवस्थायें क्रमसे ही होती हैं । एक कालमें नहीं होती ।

शङ्काकार—

ननु चानादितः सिद्धं वस्तुजातमहेतुकम् ।
तथाजातं परं नाम स्वतः सिद्धमहेतुकम् ॥ ९४ ॥
तदवश्यमवश्यं स्यादन्यथा सर्वसङ्करः ।
सर्वशून्यादिदोषश्च दुर्वारो निग्रहास्पदम् ॥ ९५ ॥
ततः सिद्धं यथा वस्तु यत्किञ्चिच्चिज्जड़ात्मकम् ।
तत्सर्वं स्वस्वरूपाद्यैः स्यादनन्यगतिः स्वतः ॥ ९६ ॥
अयमर्थः कोपि कस्यापि देशमात्रं हि नाश्नुते ।
द्रव्यतः क्षेत्रतः कालाद्भावात् सीम्नोनतिक्रमात् ॥ ९७ ॥
व्याप्यव्यापकभावस्य स्यादभावेपि मूर्तिमत् ।
द्रव्यं हेतुर्विभावस्य तत्किं तत्रापि नापरम् ॥ ९८ ॥
वैभाविकस्य भावस्य हेतुः स्यात्सन्निकर्षतः ।
तत्रस्थोप्यपरो हेतु र्न स्यात्किंवा वतेति चेत् ॥ ९९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सभी पदार्थ अनादि सिद्ध हैं । पदार्थोंको पैदा करनेवाला कोई कारण नहीं है, वे सभी अपने आप ही अनादि सिद्ध हैं । उसी प्रकार उनके नाम भी अनादि सिद्ध हैं । यद्यपि एक वस्तुका पहले कुछ नाम और पीछे कुछ नाम भले ही हो जाय परन्तु वाच्यवाचक सम्बन्ध सदा ही रहता है । इसलिये जिस प्रकार पदार्थ अनादिसे हैं उसी प्रकार उनके वाचक नाम भी अनादिसे हैं । यह पदार्थों और उनके सङ्केतोंकी अनादिता अवश्य अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है । यदि ऐसा न माना जाय तो " सर्व सङ्कर " और " शून्यता " आदिक अनेक दोष आते हैं जो कि पदार्थोंके नाशके कारण हैं । इसलिये यह बात भलीभाँति सिद्ध है कि जो कोई भी चैतन्य या जड़ वस्तु है सभी अपने अपने स्वरूपको लिये हुए हैं । उसके स्वरूपका परिवर्तन (फेरफार) कभी नहीं हो सकता । उपर्युक्त कथनका सारांश यह निकला कि कोई भी पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके एक देशमात्रको भी

नहीं बिगाड़ सकता है । सभी पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे अपने २ स्वरूपमें ही स्थित हैं, यदि इन चारोंमेंसे किसी एककी अपेक्षासे भी पदार्थ दूसरे रूपमें आजाँय तो वह अपनी सीमासे बाहर हो जाँय । कोई भी पदार्थ क्यों न हो अपनी सीमाका उल्लङ्घन कभी किसी अंशमें नहीं कर सकता । जब ऐसा नियम है तो क्या कारण है कि जीव और पुद्गलमें व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध न होनेपर भी मूर्तिमान् पुद्गल द्रव्य जीवके वैभाविक भावोंमें कारण हो जाता है । यदि विना किसी प्रकारके सम्बन्धके भी पुद्गलकर्म जीवके वैभाविक भावमें कारण हो जाता है तो उसी स्थलपर रहनेवाला धर्मादिक अपर द्रव्यभी जीवके विकारका कारण क्यों न माना जाय ? इसके उत्तरमें यदि यह कहा जाय कि सन्निकर्ष—सम्बन्ध विशेष होनेसे पुद्गलद्रव्य ही जीवके विभावका कारण होता है, धर्मादिक नहीं होते, तो भी यह दोष आता है कि उसी स्थानपर रहनेवाला सन्निकर्ष सम्बन्ध विशिष्ट विस्रसोपचयरूप पुद्गलपिण्ड जीवके विकारका कारण क्यों नहीं हो जाता है ?

उत्तर—

सत्यं बद्धमबद्धं स्याच्चिद्द्रव्यं चाथ मूर्तिमत् ।
स्वीयसम्बन्धिभिर्बद्धमबद्धं परबन्धिभिः ॥ १०० ॥
बद्धाबद्धत्वयोरस्ति विशेषः पारमार्थिकः ।
तयोर्जात्यन्तरत्वेपि हेतुमद्धेतुशक्तितः ॥ १०१ ॥

अर्थ—आपने जो शंका उठाई है सो ठीक, परन्तु बात यह है कि सभी जीव पुद्गल बद्ध तथा अबद्ध नहीं होते किन्तु कोई बद्ध होते हैं और कोई अबद्ध होते हैं । संसारी जीव पुद्गल कर्मोंसे बँधे हुए हैं, मुक्त नहीं । इसी प्रकार पुद्गल द्रव्यमें भी ज्ञानावरणीय आदि कर्म परिणत पुद्गल द्रव्य ही जीवसे बँधे हुए हैं, अन्य (पांच प्रकारकी वर्गणाओंको छोड़कर) पुद्गल नहीं । और भी जो बन्ध योग्य जीव व पुद्गल द्रव्य हैं, उनमें भी सभी जीव संसारकी समस्त कर्मवर्गणाओंसे एक साथ नहीं बँध जाते, और न समस्त कर्मवर्गणायें ही प्रत्येक जीवके साथ प्रतिसमय बँध जाती हैं, किन्तु जिस समय जिस जीवके जैसी कषाय होती है उसीके योग्य कर्मोंसे जीव बँध जाता है अन्य प्रकारकी कषायसे बँधने योग्य कर्मोंके साथ नहीं बँधता । इसलिये कोई पुद्गलद्रव्य जीवमें विकार करता है कोई नहीं करता । ऐसा भी नहीं है कि सांख्यमतकी तरह पुरुष (जीवात्मा) को सर्वथा शुद्ध मान लिया जाय और बन्धको केवल प्रकृति (कर्म)का ही धर्म मान लिया जाय तथा बद्धजीव और मुक्तजीवमें वास्तवमें कुछ अन्तर ही न माना जाय । और ऐसा भी नहीं है कि किसी द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके निमित्तसे विकार सर्वथा हो ही नहीं सकता । ऐसा माननेसे पदार्थोंका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध ही उड़जाता है । और निमित्त नैमित्तिक संबंधके अभावमें किसी कार्यकी

सिद्धि नहीं हो सकती है। इस लिये बद्ध जीव और मुक्त जीवमें वास्तविक भेद है। तथा जीव और पुद्गलमें विजातीयपना होने पर भी परस्पर इस प्रकारका निमित्त नैमित्तिक भाव है जिससे कि संसारी जीवोंकी कषायका निमित्त पाकर पुद्गल कर्म जीवोंके साथ बन्धको प्राप्त हो जाता है, और उन बंधे हुए कर्मोंके परिपाक कालमें जीवोंमें कषायादि रूप विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

बद्ध और मुक्तका स्वरूप—

बद्धःस्याद्बद्धयोर्भावः स्याद्बद्धोप्यबद्धयोः।
सानुकूलतया बन्धो न बन्धः प्रतिकूलयोः॥ १०२॥

अर्थ—बँधे हुए दो पदार्थोंकी अवस्था विशेषको बद्ध कहते हैं। इसी प्रकार नहीं बँधे हुए दो पदार्थोंकी अवस्थाको अबद्ध कहते हैं। बन्ध वहीं होता है जहां पर कि अनुकूलता होती है। प्रतिकूल पदार्थोंका बन्ध नहीं होता है।

भावार्थ—जहां अनुकूल योग्य सामग्री जुट जाती है वहीं पर बन्ध होता है, जहां योग्य सामग्री नहीं मिलती वहां बन्धकी योग्यता भी नहीं है।

बन्ध—भेद—

अर्थतस्त्रिविधो बन्धो वाच्यं तल्लक्षणं त्रयम्।
प्रत्येकं तद्द्वयं यावत्तृतीयस्तूच्यतेऽधुना॥ १०३॥

अर्थ—वास्तवमें बन्ध तीन प्रकारका होता है इसी लिये उन तीनोंके जुदे जुदे तीन लक्षण भी हैं। तीनों प्रकारोंके बन्धोंमें दो बंधोंका स्वरूप तो एक एक स्वतन्त्र है। परन्तु तीसरे बन्धका स्वरूप जो कि दो के मिलनेसे होता है कहा जाता है—

भावार्थ—पहले कहा जा चुका है कि भाव बन्ध, द्रव्य बन्ध और उभय बन्ध, इस प्रकार बन्धके तीन भेद हैं। उनमें भाव बन्ध और द्रव्य बन्ध में तो मोटी रीतिसे एक एक ही पदार्थ पड़ता है। क्योंकि राग द्वेषादि भावही भाव बन्ध कहलाते हैं इन भावोंमें आत्माकी ही मुख्यता रहती है। कर्मके निमित्तसे आत्माके चारित्र गुणके विकारको राग द्वेष कहते हैं। द्रव्य बन्धमें केवल पुद्गल ही पड़ता है। इस लिये ये दोनों बन्ध तो प्रत्येक स्वतन्त्र हैं परन्तु तीसरा बन्ध जो उभय बन्ध है वह आत्मा और पुद्गल इन दो द्रव्योंके सम्बन्धसे होता है। इस लिये उसीका स्वरूप कहा जाता है।

जीवकर्मोभयोर्बन्धः स्यान्मिथः साभिलाषुकः।
जीवः कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत्॥ १०४॥

अर्थ—परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षाको लिये हुए जो जीव और कर्म दोनोंका सम्बन्ध है वही उभयबन्ध कहलाता है। जीव तो कर्मोंसे बँधा हुआ है और कर्म जीवसे बँधे हुए हैं।

बन्धके कारणपर विचार—

तद्गुणाकारसंक्रान्ति र्भावो वैभाविकश्चितः ।
तन्निमित्तं च तत्कर्म तथा सामर्थ्यकारणम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—जीवके गुणोंका अपने स्वरूपसे बदलकर दूसरे रूपमें आ जाना, इसीका नाम वैभाविक भाव है । यही जीवका भाव कर्मके बन्ध करनेमें कारण है, और वैभाविक भावके निमित्तसे होनेवाला वही कर्म उसी वैभाविक भावके पैदा करनेकी सामर्थ्यका कारण है ।

भावार्थ—कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली रागद्वेष रूप आत्माकी अवस्थाका नाम ही वैभाविक है । वही अशुद्धभाव पुद्गलोंको कर्मरूप बनानेमें कारण है, और वह कर्म भी उस वैभाविक भावकी उत्पत्तिका कारण है इसलिये इन दोनोंमें परस्पर कारणता है । इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं—

अर्थोयं यस्य कार्यं तत् कर्मणस्तस्य कारणम् ।
एको भावश्च कर्मैकं बन्धोयं द्वन्द्वजः स्मृतः ॥ १०६ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यही आशय है कि जिस कर्मका यह वैभाविक भाव कार्य है, उसी कर्मका कारण भी है । इसलिये एक तो भाव और एक कर्म इन दोनोंसे ही उभय बन्ध होता है ।

भावार्थ—यहांपर यह शङ्का उपस्थित हो सक्ती है कि एक ही कर्मका वैभाविक भाव कार्य है और उसी एक कर्मका कारण भी है । उसीका कार्य और उसीका कारण यह बात एक अनबनसी प्रतीत होती है । परन्तु सजातीयताको ध्यानमें रखनेसे यह शङ्का सर्वथा निर्मूल हो जाती है । वैभाविक भावको जिस कर्मने पैदा किया है उसी कर्मका कारण वैभाविक भाव नहीं है किन्तु नवीन कर्मके लिये वह कारण है । अर्थात् वैभाविक भावसे नवीन कर्म बँधते हैं और उन कर्मोंसे नवीन २ भाव पैदा होते हैं । सजातीयकी अपेक्षासे ही " उसी कर्मका कारण उसीका कार्य " ऐसा कहा गया है ।

यदि कोई दूसरे सजातीय कर्मको भी कर्मत्व धर्मकी अपेक्षासे एक ही कर्म समझकर शङ्का उठावे कि कर्मही स्वयं कार्य और कर्मही स्वयं कारण कैसे हो सक्ता है ? इस शङ्काका उत्तर भी एक ही पदार्थमें कार्य कारण भाव दिखाने वाले दृष्टान्त द्वारा स्फुट करते हैं—

तथाऽऽदर्शे यथा चक्षुः स्वरूपं संदधत्पुनः ।
स्वाकाराकारसंक्रान्तं कार्यं हेतुः स्वयं च तत् ॥ १०७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्पणमें मुख देखनेसे चक्षुका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड़ता है । उस

अपने प्रतिबिम्बमें कारण स्वयं चक्षु है, प्रतिबिम्ब कार्य है। परन्तु वही चक्षुके आकारको धारण करनेवाला चक्षुका प्रतिबिम्ब अपने दिखानेमें कारण भी है।

भावार्थ—जब चक्षुसे दर्पण देखते हैं तब चक्षुका आकार दर्पणमें पड़ता है। इसलिये तो वह आकार चक्षुका कार्य हुआ, क्योंकि चक्षुसे पैदा हुआ है। परन्तु उसी आकारको जब चक्षुसे देखते हैं तब अपने दिखानेमें वह आकार कारण भी होता है। इसलिये एकही पदार्थमें कार्य कारण भावभी उपर्युक्त दृष्टान्त द्वारा सुघटित हो जाता है।

अपि चाचेतनं मूर्तं पौद्गलं कर्म तद्यथा।

*** .....॥ १०८ ॥**

जीवभावविकारस्य हेतुः स्याद्द्रव्य कर्म तत्।
तद्धेतुस्तद्विकारश्च यथा प्रत्युपकारकः ॥ १०९ ॥

अर्थ—अचेतन, पौद्गलिक, मूर्त द्रव्य कर्म तो जीवके भावोंके विकारका कारण है। और उस द्रव्य कर्मका कारण वह वैभाविक भाव है। यह परस्पर कारणपना इसी प्रकार है कि मानों एक दूसरेके उपकारका परस्पर बदला ही चुकाते हों।

इन दोनोंमें क्यों कारणता हुई ?

यद्विकाराकृतिस्तस्य भावो वैभाविकः स्मृतः।
तन्निमित्तात्पृथग्भूतोप्यर्थः स्यात्तन्निमित्तकः ॥ ११० ॥

अर्थ—जीवकी शुद्ध अवस्थासे बिगड़कर जो विकार अवस्था है वही जीवका वैभाविक भाव है उसी वैभाविक भावके निमित्तसे जीवसे सर्वथा भिन्न भी पुद्गल द्रव्य उस वैभाविक भावके लिये निमित्त कारण होता है।

भावार्थ—यद्यपि पुद्गलकार्माण द्रव्य जीवसे सर्वथा भिन्न जड़ पदार्थ है, परन्तु जीवके अशुद्ध भावोंसे वह खिंचकर कर्मरूप हो जाता है। फिर वही जड़कर्म चेतनके भावोंके बिगाड़नेमें कारण होता है। इसमें परस्परकी निमित्तता ही कारण है।

ऐसा होनेमें भी उभयबन्ध ही कारण है—

तद्धि नोभयबन्धाद्वै बहिर्बद्धाश्चिरादपि।
न हेतवो भवन्त्येकक्षेत्रस्याप्यबद्धवत् ॥ १११ ॥

अर्थ—वह कर्म चेतन-भावोंके बिगाड़नेका कारण हो जाता है इसमें भी उभयबन्ध ही कारण है। क्योंकि जब तक वह पुद्गल द्रव्य कर्मरूप परिणत न होगा तब तक वह आत्माके भावोंको विकारी बनानेमें कारण नहीं हो सकता है। यदि विना कर्मरूप अवस्थाको धारण किये ही पुद्गल द्रव्य जीवके बिकार भावोंका कारण हो जाय तो जीवके साथ ही उसी क्षेत्रमें चिरकालसे लगे हुए विस्रसोपचय भी कारण हो जांयगे, परन्तु विस्रसोपचय विकारमें कारण

* मूल पुस्तकमें भी इस श्लोकके दो चरण नहीं मिले।

होते नहीं, किन्तु कर्म ही कारण हैं और कर्म-अवस्था पुद्गलकी तभी होती है जब कि वह उभयबन्ध रूपमें परिणत हो जाता है ।

भावार्थ—विस्रसोपचय उन्हें कहते हैं कि जो पुद्गल परमाणु (कार्माण स्कन्ध) कर्मरूप परिणत तो नहीं हुए हों किन्तु आत्माके आसपास ही कर्मरूप परिणत होनेके लिये सन्मुख हों। इन पुद्गल परमाणुओंकी बन्धरूप अवस्था नहीं है । जिस समय आत्मा रागद्वेषादि कषाय भावोंको धारण करता है उसी समय अन्य संसारमें भरी हुई कार्माण वर्गणायें अथवा ये विस्रसोपचय संज्ञा धारण करनेवाले परमाणु झट आत्माके साथ बँध जाते हैं । बंधनेपर ही उनकी कर्म संज्ञा हो जाती है । उससे पहले २ कार्माण (कर्म होनेके योग्य) संज्ञा है । ये विस्रसोपचय आत्मासे बँधे हुए कर्मोंसे भी अनन्त गुणे हैं और जीव राशिसे भी अनन्त गुणे हैं । क्योंकि पहले तो आत्माके साथ बंधे हुए कर्म परमाणु ही अनन्तानन्त हैं । उन कर्मरूप परमाणुओंमेंसे प्रत्येक परमाणुके साथ अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणु (विस्रसोपचय) लगे हुए हैं ।

अशुद्धता—

तद्बद्धत्वाविनाभूतं स्यादशुद्धत्वमक्रमात् ।
तल्लक्षणं यथा द्वैतं स्यादद्वैतात्स्वतोन्यतः ॥ ११२ ॥

अर्थ—आत्माकी बद्धताकी अविनाभाविनी अशुद्धता भी उसी समय आ जाती है । उस अशुद्धताका यही लक्षण है कि स्वयं अद्वैत आत्मा अन्य पदार्थके निमित्तसे द्वैत हो जाता है ।

भावार्थ—जिस समय आत्मा कर्मोंसे बद्ध होता है उसी समय अशुद्ध भी है । बिना अशुद्धताके बद्धता आ ही नहीं सक्ती है । इसी प्रकार विना बद्धताके अशुद्धता भी नहीं आ सक्ती । इसलिये बद्धता और अशुद्धता ये दोनों अविनाभाविनी हैं । एकके विना दूसरा न होवे इसीका नाम अविनाभाव है । यद्यपि आत्मा स्वयं (अपने आप) अद्वैत अर्थात् अमिल-एक है । तथापि अशुद्धताको धारण करनेसे (पर पदार्थके निमित्तसे) वही आत्मा द्वैत अर्थात् दो रूपधारी (दुरंगा) बना हुआ है ।

आत्मामें द्विरूपता किस प्रकारकी है—

तत्राऽद्वैतेपि यद्द्वैतं तद्द्विधाप्यौपचारिकम् ।
तत्राद्यं स्वांशसंकल्पश्चेत्सोपाधि द्वितीयकम् ॥ ११३ ॥

अर्थ—आत्मा अशुद्ध अवस्थामें द्विरूपता धारण करता है अर्थात् उसमें दो प्रकारके अंशोंका मेल हो जाता है । यह दोनों ही प्रकारका मेल औपचारिक (उपचारसे) है । उन दोनों अंशोंमें एक अंश तो स्वयं आत्माका ही है, और दूसरा उपाधिसे होनेवाला अर्थात् परपदार्थका है ।

भावार्थ—आत्मा और कर्म, इन दोनोंके स्वरूपका जब विकाररूप परिणमन होता है, दोनों ही जब अपने स्वरूपको छोड़ देते हैं उसीका नाम अशुद्धता है। यह अशुद्धता व्यवहार दृष्टिसे है। वास्तव दृष्टिसे आत्मा अमूर्त है। अशुद्धता कर्म और आत्माका भाव दोनों ही के मेलसे होती है, इसलिये अशुद्धतामें दो भाग होते हैं। उन दोनों भागोंका यदि विचार करें तो एक भाग तो आत्माका है। क्योंकि अशुद्धता आत्माके ही गुणकी विकार अवस्था है परन्तु दूसरा भाग कर्मका है। इसी लिये रागद्वेषादि वैभाविक अवस्थायें जीवात्मा और पुद्गल कर्म दोनोंकी हैं।

शङ्काकार—

ननु चैकं सत्सामान्यात् द्वैतं स्यात्सद्विशेषतः।
तद्विशेषेपि सोपाधि निरुपाधि कुतोर्थतः॥ ११४॥
अपिचाभिज्ञानमत्रास्ति ज्ञानं यद्रूपरूपयोः।
न रूपं न रसो ज्ञानं ज्ञानमात्रमथार्थतः॥ ११५॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि हर एक पदार्थकी दो अवस्थायें होती हैं। एक सामान्य अवस्था, दूसरी विशेष अवस्था। सामान्य रीतिसे पदार्थ एक ही है, और विशेष रीतिसे दो प्रकार है। ऐसा विशेष खुलासा होने पर भी सोपाधि और निरुपाधि भेद कैसा? और ऐसा अनुभव भी होता है कि जो ज्ञान रस रूपको जानता है वह ज्ञान कहीं रूप, रस रूप स्वयं नहीं हो जाता है। वास्तवमें ज्ञान ज्ञान ही है और रूप, रस पुद्गल ही हैं।

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय यह है कि सामान्य और विशेषात्मक उभय रूप पदार्थ है। सामान्य दृष्टिसे एक है और विशेष दृष्टिसे उसमें द्विरूपता है, अर्थात् द्रव्यार्थिक-नयसे पदार्थ सदा एक है और पर्यायकी अपेक्षासे वही पदार्थ अनेक रूप है। जब ऐसा सिद्धान्त है तो फिर अशुद्ध-आत्मामें जो द्विरूपता है वह पर निमित्तसे क्यों मानी जावे? ऊपर जो यह कहा गया है कि एक अंश आत्माका है और दूसरा पुद्गलका है यह कहना व्यर्थ है। अशुद्ध आत्माकी जो द्विरूपता है वह आत्माकी ही विशेष अवस्था है। इस लिये आत्मामें सोपाधि और निरुपाधि, ऐसे दो भेद करना ठीक नहीं है। हम जानते भी हैं कि रूप रसादिको जाननेवाला ज्ञान उन रूपादि पदार्थोंसे सर्वथा जुदा है जाननेसे ज्ञानमें किसी प्रकारकी अशुद्धता नहीं आती है। शङ्काकारका अभिप्राय है कि अशुद्धता कोई चीज नहीं है?

उत्तर—

नैवं यतो विशेषोस्ति सद्विशेषेपि वस्तुतः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यां वै सिद्धसाधनात्॥ ११६॥

अर्थ—सङ्काकारका यह कहना कि ज्ञानमें अज्ञानता आती ही नहीं है। अथवा अशुद्धता कोई चीज ही नहीं है सर्वथा मिथ्या है। क्योंकि पदार्थके सामान्य और विशेष ये दो भेद होनेपर भी कुछ और भी विशेषता है। वह विशेषता अन्वय, व्यतिरेकके द्वारा सिद्ध होती है। किस प्रकार ? सो नीचे दिखाते हैं—

तत्रान्वयो यथा ज्ञानमज्ञानं परहेतुतः ।
अर्थाच्छीतमकीतं स्याद्वन्हियोगादि वारिवत् ॥ ११७ ॥

अर्थ—" यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः " जिसके होनेपर जो हो इसीका नाम अन्वय है। पर पदार्थकी निमित्तसे ज्ञान अज्ञान हो जाता है यह अन्वय यहां पर ठीक घटता है। जिस प्रकार ठण्डा जल अग्निके सम्बन्धसे गरम हो जाता है।

यह बात असिद्ध भी नहीं है—

नासिद्धोऽसौ हि दृष्टान्तो ज्ञानस्याज्ञानतः सतः ।
अस्त्यवस्थान्तरं तस्य यथाजातप्रमात्वतः ॥ ११८ ॥

अर्थ—यह दृष्टान्त असिद्ध भी नहीं है। जिस समय ज्ञान अज्ञानरूपमें आता है उस समय पदार्थकी यथार्थ प्रमिति नहीं हो पाती है किन्तु अवस्थान्तर ही हो जाता है।

व्यतिरेक—

व्यतिरेकोऽस्त्यात्मविज्ञानं यथास्वं परहेतुतः ।
मिथ्यावस्थाविशिष्टं स्याच्छुद्धमेव तत् ॥ ११९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञानमें अन्वय घटता है उसी प्रकार व्यतिरेक भी घटता है। व्यतिरेक उसे कहते हैं कि जिसके न होने पर जो न हो। जिस प्रकार आत्माका ज्ञान दूसरेके निमित्तसे मिथ्या-अवस्था सहित हो जाता है उसी प्रकार उस परहेतुके विना शुद्ध ही है। अर्थात् कर्मके निमित्तसे ज्ञान अज्ञानरूप, और कर्मके अभावमें ज्ञान शुद्ध ज्ञानरूप रहता है। इसीका नाम अन्वय व्यतिरेक है।

भावार्थ—इस अन्वय व्यतिरेकसे आत्मामें अशुद्धता पर निमित्तसे होती है यह बात अच्छी तरह बतला दी गई है। जो बात अन्वय व्यतिरेकसे सिद्ध होती है वह अवश्यंभावी अथवा नियमितरूपसे सिद्ध स्वीकार की जाती है। इस लिये आत्माकी अशुद्धता अवश्य माननी पड़ती है।

शुद्ध ज्ञानका स्वरूप—

तद्यथा क्षायिकं ज्ञानं सार्थं सर्वार्थगोचरम् ।
शुद्धं स्वजातिमात्रत्वात् अवश्यं निरुपाधितः ॥ १२० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष करनेवाला जो क्षायिक ज्ञान (केवलज्ञान) है वह

शुद्धज्ञान है। क्योंकि उसमें परनिमित्तता नहीं है। वह केवल स्वस्वरूप मात्र ही है। वही ज्ञान अबद्ध भी है। क्योंकि उसमें किसी पर पदार्थरूप उपाधिका सम्बन्ध नहीं है।

अशुद्ध ज्ञानका स्वरूप—

क्षायोपशमिकं ज्ञानमक्षयात्कर्मणां सताम् ।
आत्मजातेश्च्युतेरेतद्बद्धं चाशुद्धमक्रमात् ॥ १२१ ॥

अर्थ—सर्व घाति कर्मोंका उदयाभावी क्षय होनेसे और उन्हीं सर्व घाति कर्मोंके उदय होनेसे क्षायोपशमिक कहलाता है। यह क्षायोपशमिक ज्ञान कर्म सहित है, क्योंकि सत्कर्मोंका अभी क्षय नहीं हुआ है। इसलिये यह ज्ञान अपने स्वरूपसे च्युत है अतएव बद्ध कहलाता है तथा अशुद्ध भी है।

शुद्धता तथा अशुद्धता दोनों ही ठीक हैं—

नस्याच्छुद्धं तथाऽशुद्धं ज्ञानं चेदिति सर्वतः ।
न बन्धो न फलं तस्य बन्धहेतोरसंभवात् ॥ १२२ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि ज्ञान न तो शुद्ध ही है, और न अशुद्ध ही है, जैसा है वैसा ही है। तो उसके उत्तरमें यही कहा जा सक्ता है कि आत्मामें बन्ध भी नहीं है, और न उसका फल ही है। क्योंकि बन्धका कारण ही कोई नहीं है।

भावार्थ—बन्धका कारण अशुद्धता है यह बात पहले अच्छी तरह कही जा चुकी है। यदि अशुद्धताको न माना जावे तो बन्ध भी नहीं ठहरता, और बन्धके अभावमें बन्धका फल भी नहीं बनता।

अथचेद्बन्धस्तदा बन्धो बन्धो नाऽबन्ध एव यः ।
न शेषश्चिच्छिशेषाणां निर्विशेषादबन्धभाक् ॥ १२३ ॥

अर्थ—यदि अशुद्धताके विना ही बन्ध हो जाय तो फिर बन्ध ही रहेगा। बन्ध-अबन्ध अवस्थामें कभी नहीं आ सक्ता। ऐसी अवस्थामें कोई भी जीव सम्पूर्ण रीतिसे मुक्त नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—यदि बन्धका कारण अशुद्धता मानी जाय तब तो यह बात नहीं बनती कि बन्ध ही सदा रहेगा, अबन्ध हो ही नहीं सक्ता। क्योंकि कारणके सद्भावमें ही कार्य होता है। कारणके न रहने पर कार्य भी नहीं रह सक्ता। जब तक अशुद्धता है तभी तक बन्ध रहेगा। अशुद्धताके अभावमें बन्धका भी अभाव अवश्यंभावी है। इसलिये अशुद्धता माननी ही चाहिये।

यदि ऊपरके श्लोक द्वारा ही अशुद्धताकी सिद्धि हो चुकी ऐसा कहा जाय तो इस श्लोकका दूसरा अर्थ शुद्धता-साधक भी हो जाता है। वह इस प्रकार है कि यदि अशुद्धता

ही मानी जावे, शुद्धता नहीं मानी जावे, तो सदा बन्ध ही रहेगा, अबन्ध कभी होगा ही नहीं। ऐसी अवस्थामें सभी आत्मायें बद्ध ही रहेंगी। मुक्त कोई भी कभी न होगा। इस लिये शुद्धता भी माननी ही पड़ती है।

सारांश—शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही ठीक हैं। पहले आत्मा अशुद्ध रहता है। फिर तप आदि कारणों द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करने पर शुद्ध हो जाता है। इसी बातको नीचेके श्लोकसे बतलाते हैं—

माभूद्वा सर्वतो बन्धः स्यादबन्धप्रसिद्धितः।
नाबन्धः सर्वतः श्रेयान् बन्धकार्योपलब्धितः ॥ १२४ ॥

अर्थ—न तो सब आत्माओंके सदा बन्ध ही रहता है, क्योंकि अबन्धकी भी प्रसिद्धि है अर्थात् मुक्त जीव भी प्रसिद्ध है, तथा न सर्वथा सदा अबन्ध ही मानना ठीक है क्योंकि बन्ध रूप कार्य अथवा बन्धका कार्य भी पाया जाता है।

अबद्धका दृष्टान्त—

अस्तिचित्सार्थसर्वार्थसाक्षात्कार्यविकारभुक्।
अक्षयि क्षायिकं साक्षादबद्धं बन्धव्यत्ययात् ॥ १२५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात् (प्रत्यक्ष) करनेवाला, सदा अविनश्वर, ऐसा जो क्षायिक ज्ञान–केवल ज्ञान है वह निर्विकार है, शुद्ध है, तथा बन्धका नाश होनेसे अबद्ध अर्थात् मुक्त है।

बद्धका दृष्टान्त—

बद्धः सर्वोपि संसारकार्यत्वे वैपरीत्यतः।
सिद्धं सोपाधि तद्धेतोरन्यथानुपपत्तितः ॥ १२६ ॥

अर्थ—संसारी जीवोंका ज्ञान बद्ध है, क्योंकि उसके कार्यमें विपरीतता पाई जाती है, इसलिये ज्ञान उपाधि सहित भी होता है यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है। उपाधि पदसे यहां कर्मोपाधिका ग्रहण करना चाहिये। यदि संसारियोंके ज्ञानको सोपाधि न माना जावे तो उसमें विपरीतता रूप हेतु नहीं बन सकता।

फलितार्थ—

सिद्धमेतावता ज्ञानं सोपाधि निरुपाधि च।
तत्राशुद्धं हि सोपाधि शुद्धं तन्निरुपाधि यत् ॥ १२७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि ज्ञान दो प्रकारका है एक तो उपाधि सहित है और दूसरा उपाधि रहित है। कर्मोपाधि सहित ज्ञान अशुद्ध है। कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध है।

शङ्काकार—

ननु कस्के विशेषोस्ति बद्धाबद्धत्वयोर्द्वयोः ।
अस्त्यनर्थान्तरं यस्मादर्थादेक्योपलब्धितः ॥ १२८ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि बद्धता और अबद्धतामें क्या विशेषता है ? क्योंकि इन दोनों अवस्थाओंमें कोई भी भेद नहीं पाते हैं अर्थात् दोनों अवस्थायें एक ही हैं ?

उत्तर—

नैवं यतो विशेषोस्ति हेतुमद्धेतुभावतः ।
कार्यकारणभेदाद्वा द्वयोस्तल्लक्षणं यथा ॥ १२९ ॥

अर्थ—बद्धता और अबद्धताको एक ही मानना सर्वथा मिथ्या है । इन दोनोंमें हेतु और हेतुमान् अथवा कार्यकारणके भेदसे विशेषता है ।

भावार्थ—मुक्त अवस्थाके लिये बद्ध अवस्था कारण है इसलिये बद्धता और अबद्धता दोनोंमें कार्य कारणका भेद है । अब उन दोनोंका लक्षण कहा जाता है ।

बन्धका लक्षण—

बन्धः परगुणाकारा क्रिया स्यात्पारिणामिकी ।
तस्यां सत्यामशुद्धत्वं तद्द्वयोः स्वगुणच्युतिः ॥१३०॥

अर्थ—जीव और पुद्गलके गुणोंका परगुणाकार परिणमन होनेका नाम ही बन्ध है । जिस समय जीव और पुद्गलमें पर गुणाकार परिणमन होता है उसी समय उनमें अशुद्धता आती है, अशुद्धतामें उन दोनोंके गुणोंकी च्युति हो जाती है अर्थात् दोनों ही अपने अपने स्वरूपको छोड़कर विकार अवस्थाको धारण कर लेते हैं ।

भावार्थ—जिस बन्धका स्वरूप यहां पर कहा गया है वह कर्मोंके रस दान कालमें होता है । जिस समय कर्मोंका विपाक काल आता है उस समय आत्माका चारित्र गुण अपने स्वरूपसे च्युत होता है और कर्म अपने स्वरूप*से च्युत हो जाते हैं । दोनोंकी मिली हुई रागद्वेषात्मक तीसरी ही अवस्था उस समय हो जाती है । रागद्वेष अवस्था न केवल आत्माकी है और न केवल कर्मोंकी है, किन्तु दोनोंकी है । जिस प्रकार चूना और हल्दीको साथ २ घिसनेसे चूना अपने स्वरूपको छोड़ देता है और हल्दी अपने स्वरूपको छोड़ देती है, दोनोंकी तीसरी लाल अवस्था हो जाती है । यह मोटा दृष्टान्त है, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि जीव पुद्गलस्वरूप हो जाता हो अथवा पुद्गल जीवस्वरूप हो जाता

* पुद्गलमें अशुद्धता पुद्गलसे भी आती है और जीवके निमित्तसे भी आती है परन्तु जीवमें अशुद्धता पुद्गलके निमित्तसे ही आती है पुद्गलके स्वतन्त्र बन्धमें स्निग्धता और रूक्षता कारण है उसीसे पुद्गलमें परगुणाकारता आती है ।

हो, ऐसा होना तो असंभव ही है, और न उपर्युक्त कथनका ऐसा आशय ही है, उपर्युक्त कथनका आशय यही है कि रागद्वेष जीव और पुद्गल दोनोंकी वैभाविक अवस्था है। जिस समय रागद्वेष जीवका वैभाविक भाव कहा जाता है उस समय उक्त कथनमें जीवांश ही विवक्षित होता है, अर्थात् जीवके अंशोंकी अपेक्षासे रागद्वेषको जीवका ही भाव कह दिया जाता है। इसी प्रकार पुद्गलके अंशोंकी अपेक्षासे रागद्वेष कर्मोंका भी कहा जाता है, और इसलिये उसका सिद्धोंमें निषेध बतलाया जाता है, यदि रागद्वेष भाव जीवका ही होता तो सिद्धोंमें भी उसका होना अनिवार्य होता। यदि यह कहा जाय कि पुद्गलके निमित्तसे जीवका रागद्वेष भाव है तो यहांपर निमित्त कारणका ही विचार कर लेना चाहिये। निमित्तता दो प्रकारसे आती है, एक तो मूल पदार्थमें अपने गुण दोष न लाकर केवल सहायकपनसे आती है। जैसे—चकला वेलनके निमित्तसे आटेकी रोटी बनना। रोटीमें चकला वेलनका निमित्त अवश्य है परन्तु चकला वेलनके गुण रोटीमें नहीं आते हैं, केवल उनके निमित्तसे आटेमें एक आकारसे दूसरा आकार हो जाता है। दूसरी निमित्तता आनेसे उपकृत पदार्थमें अपने गुण दोषोंसे आती है। जैसे—आटेमें नमक। नमकके निमित्तसे रोटीका स्वाद ही बदल जाता है। रागद्वेषमें पहले प्रकारकी निमित्तता तो कही नहीं जा सकती, क्योंकि वह तो गुण च्युतिमें कारण ही नहीं पड़ती है, इसलिये दूसरी ही माननी पड़ेगी, दूसरी निमित्तता स्वीकार करनेसे उक्त कथनमें विरोध भी नहीं आता है। रागद्वेषमें आटे और नमकका दृष्टान्त केवल घनिष्ठ सम्बन्धमें ही घटित करना चाहिये विपरीत स्वादुके लिये कडुवी तूंबी और दूधका दृष्टान्त ठीक है कडुवी तूंबीके अंश मिलनेसे ही दूध विपरीत स्वादु होता है।

अशुद्धता बन्धका कार्य भी है और कारण भी है—

बन्धहेतुरशुद्धत्वं हेतुकार्यमिति निर्णयः।
यस्माद्बन्धं विना न स्यादशुद्धत्वं कदाचन ॥ १३१ ॥

अर्थ—बन्धका कारण अशुद्धता है, और बन्धका कार्य भी है, क्योंकि बन्धके बिना अशुद्धता कभी नहीं होती।

इस श्लोकमें बन्धकी कारणता ही मुख्य रीतिसे बतलाई है। नीचेके श्लोक द्वारा बन्धकी कार्यता बतलाते हैं—

कार्यरूपः स बन्धोस्ति कर्मणां पाकसंभवात्।
हेतुरूपमशुद्धत्वं तद्बन्धस्यार्जनात्तः ॥ १३२ ॥

अर्थ—बन्ध कार्य रूप भी है। क्योंकि कर्मोंके विपाक होनेसे होता है। अशुद्धता उसका कारण है। अशुद्धताके द्वारा ही नवीन २ कर्म खिंचकर आता है और फिर बन्धको प्राप्त होता है।

जीव शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है—

जीवः शुद्धनयादेशादस्ति शुद्धोपि तत्त्वतः ।
नासिद्धश्चाप्यशुद्धोपि बद्धाबद्धनयादिह ॥ १३३ ॥

अर्थ—शुद्धनय (निश्चयनय) से जीव वास्तवमें शुद्ध है परन्तु व्यवहार नयसे जीव अशुद्ध भी है। व्यवहारमें यह जीव कर्मोंसे बंधा हुआ भी है और मुक्त भी होता है इसलिये इसकी अशुद्धता भी असिद्ध नहीं है ।

निश्चय नय और व्यवहार नयमें भेद—

एकः शुद्धनयः सर्वो निर्द्वन्द्वो निर्विकल्पकः ।
व्यवहारनयोऽनेकः सद्वन्द्वः सविकल्पकः ॥ १३४ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण शुद्धनय एक है वह निर्द्वन्द्व है, उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं है, वह निर्विकल्प है अर्थात् यह शुद्धनय न तो किसी दूसरे पदार्थसे मिश्रित ही है और न इसमें किसी प्रकार भेदकल्पना है इसीलिये इसका स्वरूप वचनातीत है । क्योंकि वचनोंद्वारा जितना स्वरूप कहा जायगा वह सब खण्डशः होगा, इसलिये वह कथन शुद्ध नयसे गिर जाता है । परन्तु व्यवहार नय शुद्ध नयसे प्रतिकूल है । वह अनेक है, उसमें दूसरे पदार्थोंका मिश्रण है, उसके अनेक भेद हैं, वह सविकल्प है । इस नयके द्वारा वस्तुका असली रूप नहीं कहा जा सक्ता । यह नय वस्तुको खण्डशः प्रतिपादन करता है और इस नयसे वस्तुके शुद्धांशका कथन नहीं होता ।

शुद्ध और व्यवहारसे जीवस्वरूप—

वाच्यः शुद्धनयस्यास्य शुद्धो जीवश्चिदात्मकः ।
शुद्धादन्यत्र जीवाद्याः पदार्थास्ते नव स्मृताः ॥ १३५ ॥

अर्थ—शुद्ध नयकी अपेक्षासे जीव सदा शुद्धचैतन्य स्वरूप है, इस नयसे जीव सदा एक और अखण्ड द्रव्य है, परन्तु व्यवहार नयसे जीव अनेक स्वरूप है । व्यवहार नयकी अपेक्षासे ही जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सँवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ कहलाते हैं।

भावार्थ—ये नौ पदार्थ भी जीवकी ही अशुद्ध अवस्थाके भेद हैं । अशुद्ध जीव ही नौ अवस्थाओंको धारण करता है इसी लिये व्यवहार नयसे नौ पदार्थ कहे गये हैं ।

शङ्काकार—

ननु शुद्धनयः साक्षादस्तिसम्यक्त्वगोचरः ।
एको वाच्यः किमन्येन व्यवहारनयेन चेत् ॥ १३६ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वगोचर एक शुद्ध नय ही है । इस लिये उसीका कथन करना चाहिये, बाकी व्यवहार नयसे क्या लाभ है ?

भावार्थ—व्यवहार नय मिथ्या है । इसलिये उसके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है । सम्यग्दर्शनका विषय साक्षात् शुद्ध नय ही है । इस लिये उसे ही मानना चाहिये ?

उत्तर—

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नयः ।
अपि न्यायबलादस्ति नयः श्रेयानितरः ॥ १३७ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि शुद्ध नय उत्तम है, उसीसे वास्तविक वस्तुबोध होता है और यह भी ठीक है कि व्यवहार नय वास्तविक नहीं है । परन्तु शुद्ध नयके समान अशुद्ध नय भी न्यायके बलसे मानना ही पड़ता है ।

भावार्थ—शुद्ध और अशुद्ध ये दोनों ही प्रतिपक्षी हैं इसलिये शुद्ध कहनेसे ही अशुद्धका ग्रहण हो जाता है । अतः व्यवहार नय चाहे अयथार्थ और लाभकारी न भी हो तथापि न्यायदृष्टिसे मानना ही पड़ता है । दूसरी बात यह भी है कि व्यवहारके बिना स्वीकार किये निश्चय भी नहीं बनता है । यही बात नीचे बतलाते हैं—

तथाऽनादिसन्तानबन्धपर्यायमात्रतः ।
एको विवक्षितो जीवः स्मृता नव पदा अमी ॥ १३८ ॥

अर्थ—एक ही जीव अनादि सन्तान रूपसे प्राप्त बन्धपर्यायकी अपेक्षासे जब कहा जाता है तब वही जीव नव पदार्थ रूपसे स्मरण किया जाता है ।

भावार्थ—व्यवहार नयसे ही जीवका अनादि कालसे बन्ध हो रहा है और उसी बन्धकी अपेक्षासे इस एक जीवकी ही नौ अवस्थायें हो जाती हैं । उन अवस्था विशेषोंका नाम ही नौ पदार्थ है । इसीको नीचे पुनः दिखलाते हैं—

किञ्च पर्यायधर्माणो नवामी पद संज्ञकाः ।
उपराक्तिरुपाधिः स्यान्नात्र पर्यायमात्रता ॥ १३९ ॥

अर्थ—अथवा ये नौ पदार्थ जीवकी पर्यायें हैं । इतना विशेष है कि ये केवल जीवकी पर्यायें ही नहीं है किन्तु इन पर्यायोंमें उपराग (कर्ममल) रूप उपाधि लगी हुई है। उपरागोपाधि सहित पर्यायोंको ही नौ पदार्थ कहते हैं ।

उपरागोपाधि असिद्ध नहीं है—

नात्रासिद्धमुपाधित्वं सोपरक्तेस्तथा स्वतः ।
यतो नव पदव्याप्तमव्याप्तं पर्ययेषु तत् ॥ १४० ॥

अर्थ—संसारी जीवके उपराग रूप उपाधि असिद्ध नहीं है किन्तु स्वतः सिद्ध है ।

इस उपाधिका सम्बन्ध इन नौ पदार्थों (अशुद्ध जीवकी पर्यायों) में ही है । जीवकी सभी पर्यायोंमें नहीं है । क्योंकि जीवकी शुद्ध पर्यायमें इसका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है ।

उपाधि मानना आवश्यक है—

सोपरक्तेरुपाधित्वान्नादरश्चेद्विधीयते ।
क्व पदानि नवामूनि जीवः शुद्धोनुभूयते ॥ १४१ ॥

अर्थ—व्यवहार दृष्टिसे जीव उपराग-उपाधिवाला है । यदि उपाधि होनेसे उसका अनादर किया जाय अर्थात् उसे न माना जाय, तो ये जीवकी नौ अवस्थायें भी नहीं हो सक्ती हैं । सदा शुद्ध जीवका ही अनुभव होना चाहिये । अथवा नौ पदार्थोंके असिद्ध होनेपर शुद्ध जीवका भी अनुभव नहीं हो सक्ता है ।

भावार्थ—शुद्धता प्राप्त करनेके लिये अशुद्धता कारण है । यदि अशुद्धताको स्वीकार न किया जाय तो शुद्धता भी नहीं हो सक्ती । इसलिये व्यवहार नयको मानते हुए ही निश्चय-मार्गका बोध होता है । जिन्होंने व्यवहारको सर्वथा कुछ नहीं समझा है वास्तवमें वे निश्चय तक भी नहीं पहुंच सके हैं । व्यवहार और निश्चय नयके विषयमें पहले अध्यायमें इसी ग्रन्थमें बहुत खुलासा किया गया है । संक्षिप्त स्वरूप यही पड़ता है कि व्यवहार नयका जो विषय है उसमेंसे यदि सभी विकल्पजालोंको दूर कर दिया जाय तो वही निश्चय नयका विषय हो जाता है ।

जिस प्रकार तृणकी अग्नि, काष्ठकी अग्नि, कोयलेकी अग्नि, पत्तोंकी अग्नि, ये अग्नि विकल्प व्यवहार नयका विषय है । इसमेंसे सभी विकल्पोंको दूर कर शुद्ध अग्नि स्वरूप लिया जाय तो निश्चयका विषय हो जाता है । इसलिये व्यवहारको सर्वथा मिथ्या समझना नितान्त भूल है । हां अन्तमें निश्चय ही उपादेय अवश्य है ।

शङ्काकार—

ननूपरक्तिरस्तीति किंवा नास्तीति तत्त्वतः ।
उभयं नोभयं किंवा तत्क्रमेणाक्रमेण किम् ॥ १४२ ॥
अस्तीति चेत्तदा तस्यां सत्यां कथमनादरः ।
नास्तीति चेदसत्त्वेस्याः सिद्धो नानादरो नयात् ॥ १४३ ॥
सत्यामुपरक्तौ तस्यां नादेयानि पदानि वै ।
शुद्धादन्यत्र सर्वत्र नयस्यानधिकारतः ॥ १४४ ॥
असत्यामुपरक्तौ वा नैवामूनि पदानि च ।
हेतुशून्याविनाभूतकार्यशून्यस्य दर्शनात् ॥ १४५ ॥

उभयं चेक्रमेणेह सिद्धं न्यायाद्विवक्षितम् ।
शुद्धमात्रमुपादेयं हेयं शुद्धेतरं तदा ॥ १४६ ॥
यौगपद्येपि तद्द्वैतं न समीहितसिद्धये ।
केवलं शुद्धमादेयं नादेयं तत्परं यतः ॥ १४७ ॥
नैकस्यैकपदे स्तो द्वे क्रिये वा कर्मणी ततः ।
यौगपद्यमसिद्धं स्याद्द्वैताद्वैतस्य का कथा ॥ १४८ ॥
ततोऽनन्यगतेर्न्यायाच्छुद्धः सम्यक्त्वगोचरः ।
तद्वाचकश्च यः कोपि वाच्यः शुद्धनयोपि सः ॥ १४९ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि निश्चयनयसे (वास्तवमें) उपराग इस जीवात्वामें है या नहीं है ? अथवा उपराग और अनुपराग (शुद्धता) दोनों है ? अथवा क्या दोनों ही नहीं है ? दोनों है तो क्रमसे हैं या एक साथ ? यदि वास्तवमें उपराग है तो फिर उसमें अनादर (अग्राह्यता) क्यों किया जाता है ? यदि वास्तवमें व्यवहारनयका विषय भूत उपराग कोई वस्तु नहीं है, तो उसमें अनादर भी सिद्ध नहीं होता । क्योंकि अनादर उसीका किया जाता है जो कि कुछ चीज हो । जब निश्चय नयसे उपराग कोई चीज ही नहीं है तो अनादर किसका ? दूसरी बात यह है कि यदि उपराग माना भी जाय तो भी नौ पदार्थोंमें ग्राह्यता नहीं आती, क्योंकि शुद्ध पदार्थके सिवाय दूसरी जगह नयका अधिकार ही नहीं है ? (शङ्काकारकी यह शङ्का केवल शुद्ध नयको ध्यानमें रखकर ही की गई है) यदि उपराग नहीं माना जाय तब तो ये जीवके नौ स्थान किसी प्रकार भी नहीं बन सक्ते हैं क्योंकि जिसका कारण ही नहीं है उसका कार्य भी नहीं हो सक्ता है ।

यदि शुद्धता और अशुद्धता (उपराग) दोनोंहीको माना जावे, परन्तु क्रमसे माना जावे तो भी न्यायसे शुद्ध मात्र ही उपादेय (ग्राह्य) सिद्ध होगा, और शुद्धसे भिन्न अशुद्ध त्याज्य होगा ?

यदि शुद्धता और उपराग जन्य अशुद्धता, इन दोनोंको एक साथ ही माना जावे तो भी दोनोंसे हमारा अभीष्ट सिद्ध न होगा, उस समय भी शुद्ध ही ग्राह्य होगा और अशुद्ध अग्राह्य होगा ?

एक बात यह भी है कि एक पदार्थके एक स्थानमें दो क्रियायें अथवा दो कर्म रह भी नहीं सकते हैं इसलिये जीवमें एक साथ शुद्धता और अशुद्धता नहीं बन सक्ती, फिर " दोनोंमेंसे शुद्ध ही ग्राह्य होगा " इत्यादि द्वैताद्वैतकी कथा तो पीछे है।

इसलिये अनन्य गति न्यायसे अर्थात् अन्यत्र गति न होनेसे अथवा घूम फिरकर वहीं

आजानेसे शुद्ध ही एक पदार्थ मानना चाहिये, वही सम्यग्दर्शनका विषय है। उसी पदार्थका कहनेवाला यदि कोई नय है तो केवल शुद्धनय (निश्चयनय) है ?

भावार्थ—उपर्युक्त कथनसे शङ्काकारका अभिप्राय केवल शुद्धनयको मानकर शुद्ध जीवकी ग्राह्यतासे है। उसकी दृष्टिमें व्यवहार नय सर्वथा मिथ्या है, इसी लिये उसकी दृष्टिमें नव पदार्थ अर्थात् जीवकी अशुद्धता भी कोई वस्तु नहीं है। आचार्य इसका खण्डन नीचे करते हैं—

उत्तर—

नैवं त्वनन्यथासिद्धेः शुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः।
विरोधेप्यविरोधः स्यान्मिथः सापेक्षतः सतः ॥ १५० ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता इन दोनोंमेंसे किसी एकको न माना जाय अथवा इन दोनोंका कार्य कारण भाव न माना जाय तो काम नहीं चल सक्ता। ये दोनों ही अनन्यथा सिद्ध हैं अर्थात् दोनों ही आवश्यक हैं। दोनोंके माननेमें अशुद्धता पक्षमें जो शङ्काकारने विरोध बतलाया है सो भी अविरोध ही है पदार्थ परस्परकी अपेक्षाको लिये हुए हैं इसलिये विरोध नहीं रहता किन्तु अपेक्षाकृत भेदसे दोनों ही ठीक हैं।

नासिद्धानन्यथासिद्धिस्तद्द्वयोरेकवस्तुतः।
यद्विशेषेपि सामान्यमेकमात्रं प्रतीयते ॥ १५१ ॥

अर्थ—शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों ही आवश्यक हैं यह बात भी असिद्ध नहीं है क्योंकि दोनों एक ही वस्तु तो पड़ती हैं। उक्त दोनों ही भेद जीवकी अवस्था विशेष ही तो हैं। इन भेदोंकी अपेक्षासे जीव अनेक होनेपर भी सामान्य रीतिसे केवल एक ही प्रतीत होता है।

इसीका खुलासा—

तद्यथा नव तत्त्वानि केवलं जीवपुद्गलौ।
स्वद्रव्यादैरनन्यत्वाद्द्रस्तुतः कर्तृकर्मणोः ॥ १५२ ॥

अर्थ—वास्तवमें विचार किया जाय तो ये नौ भी पदार्थ (अशुद्ध-अवस्था) केवल जीव और पुद्गल दो द्रव्य रूप ही पड़ते हैं, और कर्ता तथा कर्म ये वास्तवमें अपने द्रव्यादिकसे अभिन्न होते हैं।

भावार्थ—पहले शङ्काकारने यह कहा था कि एक वस्तु ही कर्ता और कर्म कैसे हो सक्ती है ? इसीका यह उत्तर है कि जीव कर्ता है और पुद्गल कर्म है। कर्तृत्व जीवसे अभिन्न है और कर्मत्व पुद्गलसे अभिन्न है। तथा इन दोनोंके मेलसे ही नौ पदार्थ होते हैं इसलिये दोनोंकी मिली हुई एक अवस्थामें कर्ता, कर्मके रहनेमें कोई विरोध नहीं रहता।

ताभ्यामन्यत्र नैतेषां किञ्चिद्द्रव्यान्तरं पृथक् ।
न प्रत्येकं विशुद्धस्य जीवस्य पुद्गलस्य च ॥ १५३ ॥

अर्थ—जीव और पुद्गल, इन दो द्रव्योंको छोड़कर नव पदार्थ और कोई दूसरे द्रव्य नहीं है । अर्थात् नौ ही पदार्थ जीव, पुद्गलकी अवस्था विशेष हैं इनमें अन्य किसी द्रव्यका मेल नहीं है । और ऐसा भी नहीं है कि ये नौ ही पदार्थ केवल शुद्ध जीवके ही हों अथवा केवल पुद्गलके ही हों । किन्तु दोनों ही के योगसे हुए हैं । इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

जीव और पुद्गल इन दोनोंके ही नौ पदार्थ हैं—

किन्तु सम्बद्धयोरेव तद्द्वयोरितरेतरम् ।
नैमित्तिकनिमित्ताभ्यां भावा नव पदा अमी ॥ १५४ ॥

अर्थ—नैमित्तिक जीव और निमित्तकारण पुद्गल, इन दोनोंके ही परस्पर सम्बन्धसे ये नौ पदार्थ हो गये हैं ।

जीवकी ही नौ अवस्थायें हैं—

अर्थान्नवपदीभूय जीवश्चैको विराजते ।
तदात्वेपि परं शुद्धस्तद्विशिष्टदशामृते ॥ १५५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश यही निकलता है कि यह जीव ही नौ पदार्थ रूप होकर ठहरा हुआ है । यद्यपि पहले श्लोकों द्वारा जीव और पुद्गल दोनों ही की अवस्था नौ पदार्थ रूप बतलाई है । परन्तु यहां पर जीवके ही अवस्था भेद नौ पदार्थोंको बतलाया है । इसका अभिप्राय यह है कि यहां पर निमित्तकारणको विवक्षित नहीं रक्खा है । पुद्गलके निमित्तसे जीवके ये नौ भेद होते हैं । अर्थात् अवस्था तो ये जीवकी हैं परन्तु पुद्गल निमित्तकारण है इस लिये यहांपर निमित्त कारणको अविवक्षित रखकर " जीव ही नौ पदार्थ रूप है " ऐसा कहा है ।

यद्यपि इन अवस्थाओंसे यह जीव अशुद्ध है तथापि इन अवस्थाओंसे रहित विचारनेसे केवल शुद्ध जीवका ही प्रतिभास होता है ।

भावार्थ—अशुद्धताके भीतर भी शुद्ध जीवका प्रतिभास होता ही है ।

नासंभवं भवेदेतत् तद्विधेरुपलब्धितः ।
सोपरक्तेरभूतार्थात् सिद्धं न्यायाददर्शनम् ॥ १५६ ॥

अर्थ—अशुद्धताके भीतर शुद्ध जीवका प्रतिभास होता है यह बात असिद्ध नहीं है । किन्तु अनेक प्रकारसे सिद्ध है । परन्तु अयथार्थ उपाधिका सम्बन्ध हो जानेके कारण उस शुद्धताका दर्शन नहीं होता है ।

भावार्थ—पुद्गलके निमित्तसे जो आत्मामें अशुद्धता—मलिनता आ गई है इससे इस

आत्माका शुद्धरूप ढक गया है । तो भी उपाधि रहित अवस्थाका ध्यान करनेसे अशुद्धताके भीतर भी शुद्धात्माका अवलोकन होता ही है ।

दृष्टान्तमाला—

सन्त्यनेकेत्र दृष्टान्ता हेमपद्मजलाऽनलाः ।
आदर्शस्फटिकाश्मानौ बोधवारिधिसैन्धवाः ॥ १५७ ॥

अर्थ—अशुद्धताके भीतर शुद्धताका ज्ञान होता है इस विषयमें अनेक उदाहरण हैं । उनमेंसे कितने ही दृष्टान्त तो ये हैं—सोना, कमल, जल, अग्नि, दर्पण, स्फटिक पत्थर, ज्ञान, समुद्र और नमक(लवण)।

सोनेका दृष्टान्त—

एकं हेम यथानेकवर्णं स्यात्परयोगतः ।
तमसन्तमिवोपेक्ष्य पश्य तद्धेम केवलम् ॥ १५८ ॥

अर्थ—यद्यपि सोना दूसरे पदार्थके निमित्तसे अनेक रूपोंको धारण करता है । जैसे कभी चांदीमें मिला दिया जाता है तो दूसरे ही रूपको धारण करता है, कभी पीतलमें मिला दिया जाय तो दूसरे ही रूपको धारण करता है इसी प्रकार तावाँ, लोहा, अलमोनियम, रेडियम आदि पदार्थोंके सम्बन्धसे अनेक प्रकार दीखता है, तथापि उन पदार्थोंको नहीं सा समझ कर उनकी उपेक्षा कर दें तो केवल सोनेका स्वरूप ही दृष्टिगत होगा ।

भावार्थ—दूसरे पदार्थोंके मेलसे अनेक रूपमें परिणत होनेवाले भी सोनेमें अन्य पदार्थोंका ध्यान छोड़कर केवल सोनेका स्वरूप चिंतवन करनेसे पीतल आदिकसे भिन्न पीतादि गुण विशिष्ट सोनेमात्रका ही प्रतिभास होता है ।

शङ्का—

नचाशंक्यं सतस्तस्य स्यादुपेक्षा कथं जवात् ।
सिद्धं कुतः प्रमाणाद्वा तत्सत्त्वं न कुतोपिवा ॥ १५९ ॥

अर्थ—केवल सोनेके ग्रहण करनेमें दूसरे मिले हुए पदार्थकी शीघ्र ही कैसे उपेक्षा की जा सकती है ? अथवा उस सोनेमें दूसरे पदार्थकी सत्ता है या नहीं है ? है तो किस प्रमाणसे है ? अथवा किसी भी प्रमाणसे नहीं है ? इस प्रकारकी शंका करना ठीक नहीं है । क्यों ठीक नहीं है ? सो नीचे बतलाते हैं—

परिहार—

नानादेयं हि तद्धेम सोपरक्तैरुपाधिवत् ।
तत्त्यागे सर्वशून्यादिदोषाणां सन्निपाततः ॥ १६० ॥

अर्थ—सोनेके साथ दूसरे पदार्थका मेल हो रहा है । मेल होनेसे सोना अग्राह्य नहीं है । यदि उपाधिविशिष्ट सोनेका ग्रहण न किया जाय तो सर्वशून्यता आदि अनेक दोषोंका समावेश होगा । क्योंकि विना अशुद्धताके स्वीकार किये शुद्धता भी नहीं ठहरती ।

न परीक्षाक्षमं चैतच्छुद्धं शुद्धं यदा तदा ।
शुद्धस्यानुपलब्धौ स्याल्लब्धिहेतोरदर्शनम् ॥ १६१ ॥

अर्थ—यह कहना भी परीक्षाके योग्य नहीं है कि जिस समय सोना शुद्ध है उस समय वह शुद्ध ही है । ऐसा माननेसे शुद्ध सोनेका प्रतिभास भी नहीं हो सकेगा । क्योंकि शुद्धतामें कारण अशुद्धता है । अशुद्धतामें ही शुद्धता का प्रतिभास होता है । अशुद्धताका अदर्शन (लोप) होनेसे शुद्धताका भी लोप हो जायगा ।

यदा तद्वर्णमालायां दृश्यते हेम केवलम् ।
न दृश्यते परोपाधिः स्वेष्टं दृष्टेन हेम तत् ॥ १६२ ॥

अर्थ—जिस समय अनेक रूपोंको लिये हुए उस मिले हुए सोनेमें केवल सोनेको हम देखते हैं तो उस समय दूसरे पदार्थोंकी उपाधिका प्रतिभास नहीं करते हैं । उस समय तो अपना इष्ट जो सोना है उसीका प्रत्यक्ष कर लेते हैं ।

भावार्थ—मिले हुए सोनेमेंसे सोनेका स्वरूप विचारने पर केवल सोनेका ही स्वरूप झलक जाता है । उस समय उस सोनेके साथ जो दूसरे पदार्थ मिले हुए हैं वे नहीं की तरह ठहर जाते हैं ।

फलितार्थ—

ततः सिद्धं यथा हेम परयोगाद्विना पृथक् ।
सिद्धं तद्वर्णमालायामन्ययोगेपि वस्तुतः ॥ १६३ ॥
प्रक्रियेयं हि संयोज्या सर्वदृष्टान्तभूमिषु ।
साध्यार्थस्याविरोधेन साधनालंकरिष्णुषु ॥ १६४ ॥

अर्थ—तावाँ, पीतल, चांदी आदिसे मिला हुआ भी सोना वास्तवदृष्टिसे विचार करनेपर दूसरे पदार्थोंके मेलसे रहित शुद्ध ही प्रतीत हो जाता है अर्थात् अनेक पदार्थोंका मेल होनेपर भी सोनेका स्वरूप भिन्न ही प्रतीत हो जाता है । उसी प्रकार पुद्गलके निमित्तसे नौ अवस्थाओंमें आया हुआ भी जीव, (उसका स्वरूप विचारने पर) शुद्ध ही प्रतीत हो जाता है ।

जिस प्रकार सोनेका दृष्टान्त घटित किया गया है उसी प्रकार सब दृष्टान्तोंको घटित करना चाहिये । वे दृष्टान्त ही साध्यार्थके साथ अविरोध रीतिसे साधनको बतलानेके लिये भूषण स्वरूप हैं अर्थात् साध्य साधनके ठीक ठीक परिज्ञानके लिये ये दृष्टान्त अत्युपयोगी हैं ।

कमलका दृष्टान्त—

नीरमग्नं यथा पद्मपत्रमत्र तथा न तत् ।
तत्स्पृष्टयस्वभावत्वादर्थतो नास्ति पत्रतः ॥ १६५ ॥

अर्थ—यद्यपि कमल जलमें मग्न है तथापि वह जलमें नहीं है वास्तव दृष्टिसे जलमें कमल नहीं है । क्योंकि उसका जलसे भिन्न रहनेका स्वभाव है।

भावार्थ—उसी प्रकार जीवात्माका स्वभाव भी वास्तवमें पुद्गलसे भिन्न है जिस प्रकार कि जलमें डूबे रहने पर भी कमल जलसे भिन्न है ।

जलका दृष्टान्त—

सकर्दमं यथा वारि वारि पश्य न कर्दमम् ।
दृश्यते तदवस्थायां शुद्धं वारि विपङ्कवत् ॥ १६६ ॥

अर्थ—जो जल कीचड़में मिला हुआ है, उस जलमें भी यदि तुम जलका स्वरूप देखो, कीचड़का न देखो तो तुम्हें मिली हुई अवस्थामें भी कीचड़से भिन्न शुद्ध जलकी ही प्रतीति होगी । इसी प्रकार जीवात्मा भी पुद्गलसे भिन्न प्रतीत होता है ।

अग्निका दृष्टान्त ।

अग्निर्यथा तृणाग्निः स्यादुपचारात्तृणं दहन् ।
नाग्निस्तृणं तृणं नाग्निरग्निरग्निस्तृणं तृणम् ॥ १६७ ॥

अर्थ—जिस समय अग्नि तिनकेको जला रही है, उस समय उस अग्निको तिनकेके निमित्तसे–उपचारसे तिनकेकी अग्नि कह देते हैं । परन्तु वास्तवमें तिनकेकी अग्नि क्या है ? अग्नि ही अग्नि है । अग्नि तिनका नहीं है । और न तिनका अग्नि है । अग्नि, अग्नि ही है और तिनका, तिनका ही है ।

दर्पणका दृष्टान्त—

प्रतिबिम्बं यथादर्शे सन्निकर्षात्कलापिनः ।
तदात्वे तदवस्थायामपि तत्र कुतः शिखी ॥ १६८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्पणमें मयूरके सम्बन्धसे प्रतिबिम्ब (छाया) पड़ता है । परन्तु वास्तवमें छाया पड़ने पर भी वहां मयूर नहीं है । केवल दर्पण ही है । उसी प्रकार पुद्गलके निमित्तसे जीवात्मा अशुद्ध प्रतीत होता है वास्तवमें वह शुद्ध निराला ही है ।

स्फटिकका दृष्टान्त—

जपापुष्पोपयोगेन विकारः स्फटिकाश्मनि ।
अर्थात्सोपि विकारश्चाऽवास्तवस्तत्र वस्तुतः ॥ १६९ ॥

अर्थ—जपापुष्प लाल फूल होता है, उस फूलको स्फटिक पत्थरके पीछे लगानेसे

स्फटिक पत्थरमें विकार हो जाता है अर्थात् वह स्फटिक भी लाल मालूम होने लगता है। परन्तु यथार्थ रीतिसे देखा जाय तो स्फटिकमें कोई प्रकारका लाली आदि विकार नहीं है।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलके निमित्तसे नौ प्रकार दीखने लगता है, परन्तु यथार्थमें वह ऐसा नहीं है।

ज्ञानका दृष्टान्त—

ज्ञानं स्वयं घटज्ञानं परिच्छिन्द्यथा घटम्।
नार्थाज्ज्ञानं घटोयं स्याज्ज्ञानं ज्ञानं घटो घटः॥ १७०॥

अर्थ—जिस समय ज्ञान घटको जानता है उस समय वह स्वयं घट ज्ञान कहलाता है। परन्तु वास्तवमें ज्ञान घट रूप नहीं हो जाता है। किन्तु ज्ञान, ज्ञान ही रहता है और घट, घट ही रहता है।

भावार्थ—ज्ञानका यह स्वभाव है कि जिस पदार्थको वह जानता है, उसी पदार्थके आकार हो जाता है। ऐसा होने पर भी वह ज्ञान पदार्थ रूप परिणत नहीं होता है, वास्तवमें वह तो ज्ञान ही है। इसी प्रकार जीवात्मा भी वास्तवमें रागद्वेषादि विकार मय नहीं है।

समुद्रका दृष्टान्त—

वारिधिः सोत्तरङ्गोऽपि वायुना प्रेरितो यथा।
नार्थादैक्यं तदात्वेपि पारावारसमीरयोः॥ १७१॥

अर्थ—वायुके निमित्तसे प्रेरित होता हुआ समुद्र ऊँची ऊँची तरङ्गोंको धारण करता है। परन्तु ऐसा होने पर भी समुद्र और वायुमें अभिन्नता नहीं है।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्मा भी पुद्गलके निमित्तसे नौ अवस्थाओंको धारण करता है, वास्तवमें वह पुद्गलसे अभिन्न नहीं है।

सैन्धवका दृष्टांत—

सर्वतः सैन्धवं खिल्यमर्थादेकरसं स्वयम्।
चित्रोपदंशकेषूच्चैर्यन्नानेकरसं यतः॥ १७२॥

अर्थ—वास्तवमें नमकका खण्ड एक रस स्वरूप है, उसका स्वाद तो नमक रूप ही होता है। परन्तु भिन्न भिन्न प्रकारके व्यंजनोंमें पहुंचनेसे भिन्न भिन्न रीतिसे स्वाद आता है। लेकिन नमक तो नमक ही रहता है। वह किसी भी वस्तुमें क्यों न मिला दिया जाय, नमकका दूसरा स्वाद नहीं बदलेगा।

भावार्थ—इसी प्रकार आत्माकी पुद्गल सम्बन्धसे अनेक अवस्थायें प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें आत्मा शुद्ध स्वरूप एक रसमें ही प्रतीत होता है।

फलितार्थ—

इति दृष्टान्तसनाथेन स्वेष्टं दृष्टेन सिद्धिमत् ।
यत्पदानि नवामूनि वाच्यान्यर्थादवश्यतः ॥ १७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक दृष्टांतोंसे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हमारा अभीष्ट सिद्ध हो चुका । वह अभीष्ट यही है कि ये आत्माकी नौ अवस्थायें (नव पदार्थ) अवश्य कहनी चाहिये ।

भावार्थ—अनेक लोगोंका इस विषयमें विवाद था कि नौ पदार्थ कहने चाहिये अथवा शुद्ध आत्माका ही सदा ग्रहण करना चाहिये । इस विषयमें उपर्युक्त दृष्टान्तोंद्वारा आचार्यने नौ पदार्थोंकी आवश्यकता भी बतला दी है । विना नौ पदार्थोंके स्वीकार किये शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नहीं होती है । इसलिये नव पदार्थ भी कहने योग्य हैं ।

एकान्त कथन और उसका परिहार—

कैश्चित्तु कल्प्यते मोहाद्वक्तव्यानि पदानि न ।
हेयानीति यतस्तेभ्यः शुद्धमन्यत्र सर्वतः ॥ १७४ ॥
तदसत्सर्वतस्त्यागः स्यादसिद्धः प्रमाणतः ।
तथा तेभ्योऽतिरिक्तस्य, शुद्धस्यानुपलब्धितः ॥ १७५ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मकी तीव्रतासे भूले हुए कोई तो कहते हैं कि ये नव पदार्थ नहीं कहना चाहिये । क्योंकि ये सर्वथा त्याज्य हैं । इन नवों पदार्थोंसे आत्माका शुद्ध निजरूप सर्वथा भिन्न ही है ।

आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है । इन नव पदार्थोंको सर्वथा ही न कहा जाय अथवा ये सर्वथा ही त्यागने योग्य हैं यह बात किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती है । और उन नौ पदार्थोंके छोड़नेपर शुद्ध आत्माकी भी प्रतीति नहीं हो सकती है ।

भावार्थ—अशुद्धताके माननेपर ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है अन्यथा नहीं, क्योंकि ये दोनों शब्द सापेक्ष हैं । इसलिये व्यवहार नयसे ये नव पदार्थ भी ठीक हैं और निश्चय नयसे शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ।

नौ पदार्थोंके नहीं माननेमें और भी दोष—

नावश्यं वाच्यता सिद्ध्येत्सर्वतो हेयवस्तुनि ।
नान्धकारेऽप्रविष्टस्य प्रकाशानुभवो मनाक् ॥ १७६ ॥

अर्थ—इन नौ पदार्थोंको निन्द्य तथा त्यागने योग्य बतलाया है और शुद्धात्माको उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य बतलाया है । यदि इनको सर्वथा ही छोड़ दिया जाय तो इनमें त्याग करनेका उपदेश भी किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? और शुद्ध आत्मामें

ग्राह्यताका उपदेश भी कैसे हो सकता है ? जो पुरुष अन्धकारको अच्छी तरह पहचानता है वही तो प्रकाशका अनुभव करता है । जिसने कभी अन्धकारमें प्रवेश ही नहीं किया है वह प्रकाशका अनुभव भी क्या करेगा ?

आशङ्का—

नावाच्यता पदार्थानां स्यादकिञ्चित्करत्वतः ।
सार्थानीति यतोऽवश्यं वक्तव्यानि नवार्थतः ॥ १७७ ॥

अर्थ—यदि कोई कहे कि ये नौ पदार्थ अकिञ्चित्कर (कुछ प्रयोजनी भूत नहीं) है इसलिये इनको कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ? ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इन नौ पदार्थोंका कहना अवश्य सार्थक (कुछ प्रयोजन रखता है) है इसलिये नौ पदार्थ अवश्य ही कहने योग्य हैं ।

नौ पदार्थोंके कहनेका प्रयोजन—

न स्यात्तेभ्योऽतिरिक्तस्य सिद्धिः शुद्धस्य सर्वतः ।
साधनाभावतस्तस्य तद्यथानुपलब्धितः ॥ १७८ ॥

अर्थ—यदि नौ पदार्थोंको न माना जाय तो उनसे अतिरिक्त शुद्ध जीवका भी कभी अनुभव नहीं हो सकता अर्थात् शुद्ध जीव भी विना अशुद्धताके स्वीकार किये सिद्ध नहीं होता । क्योंकि कारणसामग्रीके अभावमें कार्यकी प्राप्ति कभी नहीं हो सकती है । अशुद्धता पूर्वक ही शुद्धताकी उपलब्धि होती है ।

शङ्काकार—

ननु चार्थान्तरं तेभ्यः शुद्धं सम्यक्त्वगोचरम् ।
अस्ति जीवस्य स्वं रूपं नित्योद्योगं निरामयम् ॥ १७९ ॥
न पश्यति जगद्यावन्मिथ्यान्धतमसा ततम् ।
अस्तमिथ्यान्धकारं चेत् पश्यतीदं जगज्जवात् ॥ १८० ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि उन नौ पदार्थोंसे जीवका निज रूप भिन्न ही है, वह शुद्ध है, नित्य उद्योगशील है, निरोग है, और वही शुद्ध रूप सम्यक्त्व गोचर है । परन्तु उस शुद्ध रूपको जगत् तब तक नहीं देख सकता है जब तक कि वह मिथ्यात्व रूपी अँधेरेसे व्याप्त (अन्धा) हो रहा है । जब इस जगत्का मिथ्यान्धकार नष्ट हो जाता है तभी यह जगत् बहुत ही शीघ्र उस शुद्ध जीवात्माको देखने लगता है ?

उत्तर—

नैवं विरुद्धधर्मत्वाच्छुद्धाशुद्धत्वयोर्द्वयोः ।
नैकस्यैकपदे ह्येस्तः शुद्धाशुद्धे क्रियेर्थतः ॥ १८१ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों ही विरोधी धर्म हैं। और विरोधी पदार्थ एक स्थानमें रह नहीं सकते। इसलिये शुद्धता और अशुद्धता ये दोनों एक स्थानमें कैसे रह सकती हैं ? क्यों नहीं रह सकतीं ? इसी बातको नीचे स्पष्ट करते हैं—

अथ सत्यां हि शुद्धायां क्रियायामर्थतश्चितः ।
स्यादशुद्धा कथं वा चेदस्ति नित्या कथं न सा ॥ १८२ ॥

अर्थ—यदि वास्तवमें जीवमें शुद्धता ही मानी जाय तो अशुद्धता किस प्रकार हो सकती है ? यदि हो सकती है तो वह फिर नित्य क्यों नहीं ?

अथ सत्यामशुद्धायां बन्धाभावो विरुद्धभाक् ।
नित्यायामथ तस्यां हि सत्यां मुक्तेरसंभवः ॥ १८३ ॥

अर्थ—यदि जीवमें अशुद्धता ही मानी जाय तो बन्धका अभाव कभी नहीं हो सकता, यदि वह अशुद्धता नित्य है तो इस जीवात्माकी मुक्ति ही असंभव हो जायगी।

भावार्थ—आचार्यने सर्वथा शुद्ध तथा सर्वथा अशुद्ध पक्षमें दोष बतलाकर कथञ्चित् दोनोंको ही स्वीकार किया है। इससे शङ्काकारका जीवको सर्वथा शुद्ध मानना असत्य ठहरता है।

फलितार्थ—

ततः सिद्धं यदा येन भावेनात्मा समन्वितः ।
तदाऽनन्यगतिस्तेन भावेनात्माऽस्ति तन्मयः ॥ १८४ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए तीनों श्लोकोंसे यह परिणाम निकालना चाहिये कि जिस समय आत्मा जिस भावसे सहित है उस समय वह उसी भावमें तल्लीन हो रहा है। उस समय उसकी और कोई गति नहीं है।

इसीका खुलासा—

तस्माच्छुभः शुभेनैव स्यादशुभोऽशुभेन यः ।
शुद्धः शुद्धेन भावेन तदात्वे तन्मयत्वतः ॥ १८५ ॥

अर्थ—जिस समय आत्मा शुभ भावोंको धारण करता है उस समय आत्मा शुभ है, जिस समय अशुभ भावोंको धारण करता है, उस समय आत्मा अशुभ है, जिस समय शुद्ध भावोंको धारण करता है, उस समय वही आत्मा शुद्ध है। ऐसा होनेका कारण भी यही है कि जिस समय यह आत्मा जैसे भावोंको धारण करता है उस समय उन्हीं भावोंमें तन्मय (तल्लीन) हो जाता है।

सारांश—

ततोऽनर्थान्तरं तेभ्यः किंचिच्छुद्धमनीदृशम् ।
शुद्धं नव पदान्येव तद्विकारादृते परम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—इसलिये अशुद्धतासे विलक्षण जो शुद्ध जीव है वह उन नौ पदार्थोंसे कथंचित् अभिन्न है । सर्वथा भिन्न कहना मिथ्या है । ऐसा भी कह सकते हैं कि विकारके दूर हो जानेपर वे नौ पदार्थ ही शुद्ध स्वरूप हैं ।

भावार्थ—जीवकी ही नव रूप विकारावस्था है इस लिये उस विकारावस्थाके हटा देनेपर वही जीव शुद्ध हो जाता हैं ।

पहले शंकाकारने शुद्ध जीवको नव पदार्थोंसे सर्वथा भिन्न बतलाया था, परन्तु इस कथनसे कथंचित् अभिन्नता सिद्ध की गई है ।

सूत्रका आशय—

अतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सद्दर्शनं मतम ।
तत्तत्त्वं नव जीवाद्या यथोद्देश्याः क्रमादपि ॥ १८७ ॥

अर्थ—श्रीमद्भवान् उमास्वामीने " तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् " इस सूत्रद्वारा तत्त्वार्थश्रद्धानको सम्यग्दर्शन बतलाया है, वही सूत्रका आशय उपर्युक्त कथनसे सिद्ध होता है । अब उन्ही जीवादिक नव तत्त्वों (पदार्थों) को क्रमसे बतलाते हैं—

तदुद्देश्यो यथा जीवः स्याद्जीवस्तथास्रवः ।
बन्धः स्यात्संवरश्चापि निर्जरा मोक्ष इत्यपि ॥ १८८ ॥
सप्तैते पुण्यपापाभ्यां पदार्थास्ते नव स्मृताः ।
सन्ति सद्दर्शनस्योच्चैर्विषया भूतार्थमाश्रिताः ॥ १८९ ॥

अर्थ—वे नव पदार्थ इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व और पुण्य तथा पाप । ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शनके विषयभूत हैं अर्थात इन्हींका श्रद्धानी सम्यग्दृष्टी है और ये पदार्थ वास्तविक हैं ।

आचार्यकी नयी प्रतिज्ञा—

तत्राधिजीवमाख्यानं विदधाति यथाधुना ।
कविः पूर्वापरायत्तपर्यालोचविचक्षणः ॥ १९० ॥

अर्थ—पूर्वापर विचार करनेमें अति चतुर कविवर (आचार्य) अब जीवके विषयमें व्याख्यान करते हैं—

भावार्थ—आचार्यने इस श्लोक द्वारा कई बातोंको सिद्ध कर दिखाया है । प्रतिज्ञा तो इस बातकी की है कि अब वे जीवका निरूपण सबसे पहले करेंगे । अपनेको उन्होंने कवि

कहा है, इससे जाना जाता है कि वे कविता करनेमें भी धुरन्धर थे, वास्तवमें इतने गहन तत्त्वको पद्यों द्वारा प्रकट करना, सो भी अति स्पष्टतासे यह बात उनके महाकवि होनेमें पूर्ण प्रमाण है। साथमें उन्होंने पूर्वापर विचारक अपनेको बतलाया है। इससे उन्होंने अपने ग्रन्थमें निर्दोषता सिद्ध की है। वह दो तरह की है—एक तो अपने ही ग्रन्थमें पूर्वापर कहीं विरुद्धता न हो जाय, अथवा कथन, क्रम पद्धतिसे बाहर तो नहीं है इस दोषको उन्होंने हटाया है। दूसरे—पूर्वाचार्योंके कथनको पूर्वापर अवलोकन करके ही यह ग्रन्थ बनाया है, यह बात भी उन्होंने प्रकट की है। इन बातोंसे आचार्यने अपनी निजी कल्पना, ग्रन्थकी असंबद्धता और साहित्यदोष आदि सभी बातोंको हटा दिया है।

जीवका निरूपण—

जीवसिद्धिः सती साध्या सिद्धा साधीयसी पुरा।
तत्सिद्धलक्षणं वक्ष्ये साक्षात्तल्लब्धिसिद्धये ॥ १९१ ॥

अर्थ—पहले जीवकी सिद्धि कह चुके हैं, इसलिये प्रसिद्ध है। उसीको पुनः साध्य बनाते हैं अर्थात् सिद्ध करते हैं। जीवके ठीक २ स्वरूपकी प्राप्ति हो जाय, इसलिये उसका सिद्ध (प्रसिद्ध) लक्षण कहते हैं।

अब जीवका स्वरूप बतलाते हैं—

स्वरूपं चेतना जन्तोः सा सामान्यात्सदेकधा।
सद्विशेषादपि द्वेधा क्रमात्सा नाऽक्रमादिह ॥ १९२ ॥

अर्थ—जीवका स्वरूप चेतना है वह चेतना सामान्य रीतिसे एक प्रकार है क्योंकि सामान्य रीतिसे सत्ता एक ही प्रकार है। तथा सत् विशेषकी अपेक्षासे वह चेतना दो प्रकार है। परन्तु उसके दोनों भेद क्रमसे होते हैं एक साथ नहीं होते।

भावार्थ—जीव ज्ञान दर्शन मय है। सामान्य रीतिसे यही एक लक्षण जीव मात्रमें घटित होता है। शुद्ध–अशुद्ध विशेष भेद करनेसे लक्षण भी दो प्रकारका होजाता है। इतना विशेष है कि एक समयमें एक ही स्वरूप घटित होता ह।

उन्हीं भेदोंको बतलाते हैं—

एका स्याच्चेतना शुद्धा स्यादशुद्धा परा ततः।
शुद्धा स्यादात्मनस्तत्त्वमस्त्यशुद्धाऽऽत्मकर्मजा ॥ १९३ ॥

अर्थ—एक शुद्ध चेतना है दूसरी अशुद्ध चेतना है। शुद्ध चेतना आत्माका निजरूप है और अशुद्ध चेतना आत्मा और कर्मके निमित्तसे होती है।

चेतनाके भेद—

एकधा चेतना शुद्धा शुद्धस्यैकविधत्वतः।
शुद्धाशुद्धोपलब्धित्वाज्ज्ञानत्वाज्ज्ञानचेतना ॥ १९४ ॥

अर्थ—शुद्ध चेतना एक प्रकार है क्योंकि शुद्ध एक प्रकार ही है। शुद्ध चेतनामें शुद्धताकी उपलब्धि होती है इसलिये वह शुद्ध है और वह शुद्धोपलब्धि ज्ञान रूप है इसलिये उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

भावार्थ—आत्मामें जो भेद होते हैं वे कर्मोंके निमित्तसे होते हैं आत्माका निज रूप एक ही प्रकार है, उसमें भेद नहीं है, इसी लिये कहा गया है कि शुद्ध एक ही प्रकार होता है। जो चेतना जीवके असली स्वरूपको लिये हुए है उसीका नाम शुद्ध चेतना है। और वह चेतना ज्ञान रूप है इस लिये उसे ज्ञान चेतना कहते हैं।

अशुद्ध चेतना—

अशुद्धा चेतना द्वेधा तद्यथा कर्मचेतना।
चेतनत्वात्फलस्यास्य स्यात्कर्मफलचेतना ॥ १९५ ॥

अर्थ—अशुद्ध चेतना दो प्रकार है। एक कर्म चेतना, दूसरी कर्मफल चेतना। कर्मफल चेतनामें फल भोगनेकी मुख्यता है।

भावार्थ—चेतनाके तीन भेद कहे गये हैं—१ ज्ञान चेतना, २ कर्म चेतना ३ कर्मफल चेतना। ज्ञान चेतना सम्यग्दृष्टिके ही होती है क्योंकि वहां पर शुद्ध—आत्मीक भावोंकी प्रधानता है। बाकीकी दोनों चेतनायें मिथ्यादृष्टिके होती हैं। इतना विशेष है कि कर्म चेतना संज्ञी मिथ्यादृष्टिके होती है और कर्मफल चेतना असंज्ञीके होती है। कर्म चेतनामें ज्ञानपूर्वक क्रियाओं द्वारा कर्म बन्ध करनेकी प्रधानता है और कर्म फल चेतनामें कर्म बन्ध करनेकी प्रधानता नहीं है किन्तु कर्मका फल भोगनेकी प्रधानता है।

ज्ञान चेतनाको व्युत्पत्ति—

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रतः स्वयम्।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥ १९६ ॥

अर्थ—यहां पर ज्ञान शब्दसे आत्मा समझना चाहिये। क्योंकि आत्मा ज्ञान रूप ही स्वयं है। वह आत्मा जिसके द्वारा शुद्ध जानी जावे उसीका नाम ज्ञान चेतना है।

भावार्थ—जिस समय शुद्धात्माका अनुभवन होता है। उसी समय चेतना (ज्ञान) ज्ञान चेतना कहलाती है। उस समय बाह्योपाधिकी मुख्यता नहीं रहती है। जिस समय बाह्योपाधिकी मुख्यता होती है उस समय आत्माका ज्ञान गुण (चेतना) अशुद्धताको धारण करता है और उसके अभावमें ज्ञान मात्र ही रह जाता है। इसलिये उसे शुद्ध चेतना अथवा ज्ञान चेतना कहते हैं।

उसीका खुलासा—

अर्थाज्ज्ञानं गुणः सम्यक् प्राप्तावस्थान्तरं यदा
आत्मोपलब्धिरूपं स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥ १९७ ॥

अर्थ—अर्थात् जिस समय आत्माका ज्ञानगुण सम्यक् अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, केवल शुद्धात्माका अनुभवन करता है उसी समय उसे ज्ञान चेतना कहते हैं ।

ज्ञानचेतनाका स्वामी—

सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
न स्यान्मिथ्यादृशः क्वापि तदात्वे तदसम्भवात्ः ॥ १९८ ॥

अर्थ—वह ज्ञानचेतना निश्चयसे सम्यग्दृष्टिके ही होती है । मिथ्यादृष्टिके कहीं भी नहीं हो सक्ती, क्योंकि मिथ्यादर्शनके होनेपर उसका होना असंभव ही है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके होनेपर ही मतिज्ञानावरणीयकर्मका बिशेष क्षयोपशम होता है उसीका नाम ज्ञानचेतना है । मिथ्यादर्शनकी सत्ता रहते हुए उसका होना सर्वथा असंभव है।

मिथ्यादर्शनका माहात्म्य—

अस्ति चैकादशाङ्गानां ज्ञानं मिथ्यादृशोपि यत् ।
नात्मोपलब्धिरस्यास्ति मिथ्याकर्मोदयात्परम् ॥ १९९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिको ग्यारह अंग तकका ज्ञान हो जाता है, परन्तु आत्माका शुद्ध अनुभव उसको नहीं होता है यह केवल मिथ्यादर्शनके उदयका ही महात्म्य है ।

भावार्थ—द्रव्यलिंग धारण करनेवाले मुनि यद्यपि ग्यारह अंग तक पढ़ जाते हैं परन्तु मिथ्यात्व पटलके उदय होनेसे वे शुद्धात्माका स्वाद नहीं ले सक्ते । आश्चर्य है कि उनके पढ़ाये हुए शिष्य भी जिनका कि मिथ्यात्वकर्म दूर हो गया है, शुद्धात्माका आनन्द ले लेते हैं परन्तु वे नहीं ले सक्ते ।

शंकाकार—

ननूपलब्धिशब्देन ज्ञानं प्रत्यक्षमर्थतः ।
तत् किं ज्ञानावृतेः स्वीयकर्मणोन्यत्र तत्क्षतिः ॥ २०० ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि आत्माकी उपलब्धि सम्यग्दृष्टिको होती है, यहांपर 'उपलब्धि' शब्दसे प्रत्यक्ष ज्ञान लेते हैं अर्थात् आत्माका प्रत्यक्ष होता है । यह अर्थ हुआ तो क्या आत्मीय ज्ञानावरण कर्मका वहां क्षय हो जाता है ?

उत्तर—

सत्यं स्वावरणस्योच्चैर्मूलं हेतुर्यथोदयः ।
कर्मान्तरोदयापेक्षो नासिद्धः कार्यकृद्यथा ॥ २०१ ॥

अर्थ—तुम्हारा कहना ठीक है। आत्माके प्रत्यक्ष न होनेमें मूल कारण आत्मीय ज्ञानावरण कर्मका उदय ही है। परन्तु साथ ही दूसरे कर्मका उदय भी उस प्रत्यक्षको रोक रहा है। एक गुणके घात करनेके लिये कर्मान्तर (दूसरे कर्म) के उदयकी अपेक्षा असिद्ध नहीं किन्तु कार्यकारी ही है।

विशेष खुलासा—

अस्ति मत्यादि यज्ज्ञानं ज्ञानावृत्युदयक्षतेः।
तथा वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽनुदयादपि ॥ २०२ ॥

अर्थ—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि जितने भी ज्ञान हैं, वे सभी अपने २ ज्ञानावरणीय कर्मके उदयका क्षय होनेसे होते हैं। साथमें वीर्यान्तराय कर्मका अनुदय भी आवश्यक है।

भावार्थ—हरएक शक्तिके काम करनेमें बलकी आवश्यकता है। इसलिये ज्ञान भी जिसप्रकार अपना कार्य करनेके लिये अपने आवरणका नाश चाहता है, उसी प्रकार वह प्राप्तिके लिये वीर्यान्तराय कर्मका भी नाश चाहता है।

आत्मोपलब्धिमें हेतु—

मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ॥२०३॥

अर्थ—जिस प्रकार आत्मोपलब्धि (आत्म प्रत्यक्ष) मतिज्ञानावरणी और वीर्यान्तराय कर्मके अनुदयसे होती है, उसी प्रकार दर्शनमोहनीय कर्मके भी अनुदयसे होती है।

भावार्थ—जिस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञानको ज्ञानावरण कर्म रोकता है, उसी प्रकार शुद्धताको दर्शनमोहनीय कर्म रोकता है। इसलिये शुद्ध-उपलब्धिके लिये ज्ञानावरण, वीर्यान्तराय और दर्शनमोहनीय, इन तीनों कर्मोंके अभावकी आवश्यकता है। बिना इन तीनोंके अनुदय हुए शुद्धात्माका अनुभवन कभी नहीं हो सक्ता।

किञ्चोपलब्धिशब्दोपि स्यादनेकार्थवाचकः।
शुद्धोपलब्धिरित्युक्ता स्यादशुद्धत्वहानये ॥२०४॥

अर्थ—उपलब्धि शब्द भी अनेकार्थ वाचक है। यहां पर उपलब्धि शब्दका प्रयोजन शुद्धोपलब्धिसे है और वह अशुद्धताको दूर करनेके लिये है।

अशुद्धोपलब्धिका स्वामी—

अस्त्यशुद्धोपलब्धिश्च तथा मिथ्यादृशां परम्।
सुदृशां सौणरूपेण स्यान्न स्यात्सा कदाचन ॥२०५॥

अर्थ—अशुद्धोपलब्धि केवल मिथ्यादृष्टियोंके ही होती है। सम्यग्दृष्टियोंके नहीं होती, यदि कदाचित् हो भी तो गौण रूपसे होती है।

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

तद्यथा सुखदुःखादिरूपेणात्माऽस्ति तन्मयः ।
तदात्वेऽहं सुखी दुःखी मन्यते सर्वतो जगत् ॥२०६॥
यद्वा क्रुद्धोयमित्यादि हिनस्म्येनं हठाद्द्विषम् ।
न हिनस्मि वयस्यं स्वं सिद्धं चेत्तत् सुखादिवत् ॥२०७॥

अर्थ—यह आत्मा सुख दुःख आदि विकारोंके होनेपर स्वयं तन्मय हो जाता है । सांसारिक सुख मिलनेपर समझता है कि मैं सुखी हूं, दुःख होनेपर समझता है कि मैं दुःखी हूं इस प्रकार सब वस्तुओंमें ऐसी ही बुद्धि इसकी हो रही है । कभी कभी ऐसे भाव भी करता है कि यह क्रोधी है मैं इस शत्रुको अवश्य ही मार डालूंगा तथा अपने मित्रको कभी नहीं मारूंगा । इन बातोंसे यह बात सिद्ध होती है कि यह जगत् सुख दुःखादिका वेदन करनेवाला है ।

उपलब्धि प्रत्यक्षात्मक है—

बुद्धिमानत्र संवेद्यो यः स्वयं स्यात्सवेदकः ।
स्मृतिव्यतिरिक्तं ज्ञानमुपलब्धिरियं यतः ॥ २०८ ॥

अर्थ—यहां पर स्वयं जाननेवाला बुद्धिमान् पुरुष ही समझना चाहिये वही समझ सकता है कि यह सुख दुःखकी जो आत्मामें उपलब्धि होती है वह स्मृतिज्ञान नहीं है, किन्तु उससे भिन्न ही है ।

उपलब्धिका अनुभव होता है—

नोपलब्धिरसिद्धास्य स्वादुसंवेदनात्स्वयम् ।
अन्यादेशस्य संस्कारमन्तरेण सुदर्शनात् ॥ २०९ ॥

अर्थ—आत्मामें सुख दुःखका अनुभव होता है इसलिये इसकी उपलब्धि असिद्ध नहीं है किन्तु सिद्ध ही है । क्योंकि यह आत्मा विना किसीके कहे हुए संस्कारके स्वयं ही कभी सुखका और कभी दुःखका अनुभव करता है यह सुप्रतीत है ।

अतिव्याप्ति दोष नहीं है—

नातिव्याप्तिरभिज्ञाने ज्ञाने वा सर्ववेदिनः ।
तयोः संवेदनाभावात् केवलं ज्ञानमात्रतः ॥ २१० ॥

अर्थ—इस सुख दुःखके स्वादुसंवेदनकी तरह प्रत्यभिज्ञान अथवा केवलज्ञान भी हो ऐसा नहीं है । प्रत्यभिज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही वस्तुका ज्ञान मात्र तो करते हैं, परन्तु वस्तुके स्वादका अनुभव नहीं करते। इसलिये यह उपलब्धि उक्त दोनों ज्ञानोंसे भिन्न प्रकारकी ही है ।

भावार्थ—वस्तुके स्वयं अनुभव करनेमें और दूसरेको उसका ज्ञान होनेमें प्रत्यक्ष ही अन्तर है । शास्त्रज्ञ नारकियोंके दुःखका केवल ज्ञान रखते हैं परन्तु नारकी उस दुःखका स्वयं अनुभव करते हैं। इसी प्रकार केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) भी वस्तुका ज्ञान मात्र करते हैं उसका स्वाद नहीं लेते ।

क्योंकि—

***व्याप्यव्यापकभावः स्यादात्मनि नातदात्मनि ।**
व्याप्यव्यापकताभावः स्वतः सर्वत्र वस्तुषु ॥ २११ ॥

अर्थ—जिसका जिसके साथ व्याप्य व्यापक भाव (सम्बन्धविशेष) होता है उसीका उसके साथ अनुभव घटता है । व्याप्य व्यापक भाव अपने सुख दुःखका अपने साथ है । दूसरेके साथ नहीं । क्योंकि व्याप्य व्यापकपना सर्वत्र वस्तुओंमें भिन्न २ हुआ करता है ।

भावार्थ—हरएक आत्माके गुणका सम्बन्ध हरएक आत्माके साथ जुदा है । इसलिये एक आत्माके सुख दुःखका अनुभव दूसरा आत्मा कभी नहीं कर सकता है । हां उसका उसे ज्ञान हो सकता है । किसी बातके जाननेमें और स्वयं उसका स्वाद लेनेमें बहुत अन्तर है ।

अशुद्धोपलब्धि बन्धका कारण है—

उपलब्धिरशुद्धासौ परिणामक्रियामयी ।
अर्थादौदयिकी नित्यं तस्माद्बन्धफला स्मृता ॥ २१२ ॥

अर्थ—यह जो सुख दुःखादिककी उपलब्धि होती है वह अशुद्ध–उपलब्धि है तथा क्रियारूप परिणामको लिये हुए है अर्थात् वह उपलब्धि कर्मोंके उदयसे होनेवाली है । इसलिये उसका बन्ध होना ही फल बतलाया गया है ।

अशुद्धोपलब्धि ज्ञान चेतना नहीं है—

अस्त्यशुद्धोपलब्धिः सा ज्ञानाभासाच्चिदन्वयात् ।
न ज्ञानचेतना किन्तु कर्म तत्फलचेतना ॥ २१३ ॥

अर्थ—वह उपलब्धि, अशुद्ध–उपलब्धि कहलाती है । उस उपलब्धिमें यथार्थ ज्ञान नहीं होता, किन्तु मिथ्या स्वादुसंवेदन रूप ज्ञानाभास होता है । इसलिये उसे ज्ञानचेतना नहीं कह सकते । किन्तु अशुद्ध ज्ञानका संस्कार लिये हुए ज्ञानपूर्वक कर्मबन्ध करनेकी और कर्मफलके भोगनेकी प्रधानता होनेसे उसे कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना कहते हैं ।

भावार्थ—ज्ञान चेतनामें आत्मीय गुणका अनुभवन होता है । इसलिये वह बन्धका

---

* अल्प देशवृत्ति पदार्थ व्याप्य कहलाता है, अधिक देशवृत्ति व्यापक कहलाता है परन्तु यह भी स्थूल कथन है । समानतामें भी व्याप्य व्यापक भाव होता है। यह एक सम्बन्ध विशेष है । जैसे वृक्ष और शिंशुपाका होता है ।

कारण नहीं है, और वही शुद्धोपलब्धि है। अशुद्धोपलब्धिमें कर्मजनित उपाधियोंकी तन्मयता है। उन्हींका स्वादुसंवेदन होता है। वहां ज्ञानपूर्वक कर्मबन्ध करनेकी अथवा अज्ञान अवस्थामें कर्मफल भोगनेकी प्रधानता है इसलिये उसे कर्मचेतना अथवा कर्मफलचेतना कहते हैं। ये ही दोनों कर्मबन्धकी मुख्यता रखती हैं। अब इन्ही दोनों चेतनाओंके स्वामियोंको बतलाते हैं।

इयं संसारिजीवानां सर्वेषामविशेषतः।
अस्ति साधारणीवृत्ति र्न स्यात् सम्यक्त्वकारणम् ॥२१४॥

अर्थ—यह कर्मचेतना अथवा कर्मफलचेतना सामान्यरीतिसे सभी संसारी जीवोंके होती है। यह सम्यक्त्व पूर्वक नहीं होती है, किन्तु साधारण रीतिसे हरएक संसारी जीवात्मामें पाई जाती है।

न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम्।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक् ॥२१५॥

अर्थ—यह भी नियम नहीं है कि आत्मोपलब्धि मात्र ही सम्यग्दर्शन सहित होती है, यदि वह उपलब्धि शुद्ध हो तबतो सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। यदि वह उपलब्धि अशुद्ध हो तो सम्यग्दर्शन भी नहीं समझना चाहिये।

भावार्थ—आत्मोपलब्धि शुद्ध भी होती है तथा अशुद्ध भी होती है। शुद्धोपलब्धिके साथ सम्यग्दर्शनकी व्याप्ति है, अशुद्धोपलब्धिके साथ नहीं है। इस कथनसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि सभी उपलब्धियां सम्यक्त्व सहित नहीं हैं।

शङ्काकार—

ननु चेयमशुद्धैव स्यादशुद्धा कथंचन।
अथ बन्धफला नित्यं किमबन्धफला क्वचित् ॥ २१६ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि पूर्वोक्त आत्मोपलब्धि अशुद्ध ही है? अथवा किसी समय अशुद्ध है? क्या सदा बन्ध करनेवाली है? अथवा कभी बन्धका कारण नहीं भी है?

उत्तर—

सत्यं शुद्धास्ति सम्यक्त्वे सैवाशुद्धास्ति तद्विना।
असत्यबन्धफला तत्र सैव बन्धफलाऽन्यथा ॥ २१७ ॥

अर्थ—हां ठीक है, सुनो! यदि वह उपलब्धि सम्यग्दर्शनके होनेपर हो, तब तो शुद्ध है और विना सम्यग्दर्शनके वही अशुद्ध है। सम्यग्दर्शनके होनेपर वह बन्धका कारण नहीं है और सम्यग्दर्शनके अभावमें बन्धका कारण है।

पुनः शङ्काकार—

ननु सद्दर्शनं शुद्धं स्यादशुद्धा मृषा रुचिः ।
तत्कथं विषयश्चैकः शुद्धाशुद्धविशेषभाक् ॥ २१८ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सम्यग्दर्शन तो शुद्ध है और मिथ्यादर्शन अशुद्ध है और दोनोंका विषय एक ही है । ऐसी अवस्थामें एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध कैसे हो सकता है ?

उसीकी दूसरी शङ्का—

यद्वा नवसु तत्त्वेषु चास्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
आत्मोपलब्धिमात्रं वै.साचेच्छुद्धा कुतो नव ॥ २१९ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीकी नव तत्त्वों (नव पदार्थों) के विषयमें आत्मोपलब्धि होती है । यदि वह आत्मोपलब्धि शुद्ध है, तब नौ पदार्थ कहांसे हो सकते हैं ।

भावार्थ—शङ्काकारका आशय है कि सम्यग्दृष्टि नव तत्त्वोंका अनुभव करता है । यदि वह अनुभव शुद्ध है तो नौ तत्त्व कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि नौ तत्त्व तो कर्मोंके निमित्तसे होनेवाले हैं, शुद्ध नहीं है ? इसलिये यातो वह उपलब्धि शुद्ध नहीं है, अथवा वह शुद्ध है तो नव तत्त्व नहीं ठहरते ?

उत्तर—

नैवं यतः स्वतः शश्वत् स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि ।
तत्राभिव्यञ्जकद्वैधाभावसद्भावतः पृथक् ॥२२०॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त दोनों शङ्कायें ठीक नहीं हैं क्योंकि वस्तु एक होनेपर भी उसमें किसी जतानेवाले अभिव्यञ्जक (सूचक) के द्विधाभाव होनेसे भिन्न २ निरन्तर स्वाद भेद हो जाता है ।

भावार्थ—जैसा सूचक होता है वैसी ही वस्तुकी प्रतीति होने लगती है, सूचक दो प्रकार है । इसलिये वस्तु एक होनेपर भी उसमें दो प्रकार ही स्वादुभेद होजाता है ।

इसी बातका स्पष्टीकरण—

शुद्धं सामान्यमात्रत्वादशुद्धं तद्विशेषतः ।
वस्तु सामान्यरूपेण स्वदते स्वादु सद्विदाम् ॥२२१॥

अर्थ—सामान्यमात्र विषय होनेसे शुद्धता समझी जाती है और वस्तुकी विशेषतामें अशुद्धता समझी जाती है । सद्वस्तुका बोध करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंको वस्तुका सामान्यरूपसे स्वाद आता है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टीपुरुष, वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा ही सामान्यरीतिसे जानता है

किन्तु मिथ्यादृष्टिपुरुष कर्मोदयसे उसी वस्तुका विशेषरीतिसे (स्वरूपविहीन, और रागरञ्जित) स्वाद लेते हैं । इसलिये एक वस्तु होनेपर भी शुद्ध तथा अशुद्ध ये दो भेद हो जाते हैं ।

मिथ्यादृष्टीका वस्तु स्वाद—

स्वदते न परेषां तद्यद्विशेषेप्यनीदृशम् ।
तेषामलब्धबुद्धित्वाद् दृष्टेर्दृङ्मोहदोषतः ॥२२२॥

अर्थ—वस्तुकी विशेषतामें भी जिस प्रकार सम्यग्दृष्टी स्वाद लेता है वैसा मिथ्यादृष्टियोंको कभी नहीं आता । वे दूसरी तरहका ही वस्तुका विशेष स्वाद लेते हैं और उसमें भी दर्शनमोहनीय कर्मके दोषसे होनेवाली उनकी अज्ञानता ही कारण है ।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टि मिथ्यादर्शनके उदयसे वस्तुका विपरीत–विशेष ही ग्रहण करता है ।

और भी—

यद्वा विशेषरूपेण स्वदते तत्कुदृष्टिनाम् ।
अर्थात् सा चेतना नूनं कर्मकार्येऽथ कर्मणि ॥२२३॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टीयोंको वस्तुका विलक्षणरीतिसे ही स्वाद आता है अर्थात् उनकी चेतना (बोध) निश्चयसे कर्मफलमें अथवा कर्ममें ही लगी रहती है ।

भावार्थ—उन्हें ज्ञान चेतना जोकि बन्धका हेतु नहीं है कभी नहीं होती ।

मिथ्यादृष्टियोंके स्वादका दृष्टान्त—

दृष्टान्तः सैन्धवं खिल्यं व्यञ्जनेषु विमिश्रितम् ।
व्यञ्जनं क्षारमज्ञानां स्वदते तद्विमोहिनाम् ॥२२४॥

अर्थ—दृष्टान्त—नमकका टुकड़ा (डली) जिस भोजन सामग्रीमें मिला दिया जाता है उस भोजनको यदि अज्ञानी जीमता है, तो वह समझता है कि भोजन ही खारा है ।

भावार्थ—आटेमें नमक मिलानेसे अज्ञानी समझता है कि यह खारापन आटेका ही है उसे नमकका नहीं समझता । इसीप्रकार मिथ्यादृष्टी पुरुष वस्तुकी यथार्थताको नहीं जानता ।

सम्यग्दृष्टियोंके स्वादका दृष्टान्त—

क्षारं खिल्यं तदेवैकं मिश्रितं व्यञ्जनेषु वा ।
न मिश्रितं तदेवैकं स्वदते ज्ञानवेदिनाम् ॥२२५॥

अर्थ—चाहे नमक भोजनमें मिला हो चाहे न मिला हो ज्ञानीपुरुष खारापन नमकका ही समझते हैं ।

भावार्थ—आटेमें नमक मिलनेसे जो खारापनका स्वाद आता है उसे ज्ञानी पुरुष आटेका नहीं समझते, किन्तु नमकका ही समझते हैं । इसीप्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष वस्तुकी

यथार्थताको भलीभांति जानता है । इसलिये यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो गई कि वस्तुके एक होनेपर भी स्वादभेद होता है और उसमें व्यञ्जक मिथ्यादर्शनका उदय अनुदय ही है।

सारांश—

इति सिद्धं कुदृष्टीनामेकैवाज्ञानचेतना ।
सर्वैर्भावैस्तदज्ञानजातैस्तैरनतिक्रमात् ॥ २२६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि मिथ्यादृष्टियोंके एक ही अज्ञान चेतना है क्योंकि अज्ञानसे होनेवाले सभी भावोंका उनमें समावेश (सत्ता) है ।

दूसरा सारांश—

सिद्धमेतावता यावच्छुद्धोपलब्धिरात्मनः ।
सम्यक्त्वं तावदेवास्ति तावती ज्ञानचेतना ॥ २२७ ॥

अर्थ—*उपर्युक्त कथनसे यह बात भी सिद्ध हो चुकी कि जब तक आत्माकी* शुद्ध उपलब्धि है तभी तक सम्यक्त्व है और तभी तक ज्ञानचेतना भी है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके अभावमें न शुद्धोपलब्धि है, और न ज्ञानचेतना ही है। सम्यग्दर्शनके होनेपर ही दोनों हो सकती हैं ।

ज्ञानी और अज्ञानी—

एकः सम्यग्दृगात्माऽसौ केवलं ज्ञानवानिह ।
ततो मिथ्यादृशः सर्वे नित्यमज्ञानिनो मताः ॥ २२८ ॥

अर्थ—इस संसारमें केवल एक ही सम्यग्दृष्टी ज्ञानवान् (सम्यज्ञानी) है । बाकी सभी मिथ्यादृष्टी जीव सदा अज्ञानी (मिथ्याज्ञानी) कहे गये हैं ।

ज्ञानी और अज्ञानीका क्रियाफल—

क्रिया साधारणी वृत्ति र्ज्ञानिनोऽज्ञानिनस्तथा ।
अज्ञानिनः क्रिया, बन्धहेतुर्न ज्ञानिनः क्वचित् ॥ २२९ ॥

अर्थ—ज्ञानी और अज्ञानी (सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी) दोनों ही की क्रिया यद्यपि समान है, तथापि अज्ञानीकी क्रिया बन्धका कारण है परन्तु ज्ञानीकी क्रिया कहीं भी बन्धका कारण नहीं है ।

ज्ञानीकी क्रियाका और भी विशेष फल—

आस्तां न बन्धहेतुः स्याज्ज्ञानिनां कर्मजा क्रिया ।
चित्रं यत्पूर्वबद्धानां निर्जरायै च कर्मणाम् ॥ २३० ॥

अर्थ—ज्ञानियोंके कर्मसे होनेवाली क्रिया बन्धका हेतु नहीं है, यह तो है ही परंतु आश्चर्य तो इस बातका है कि वह क्रिया केवल पूर्व बंधे हुए कर्मोंकी केवल निर्जराका कारण है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीकी क्रियामें बड़ा भारी अन्तर है। मिथ्यादृष्टीकी क्रिया तो बन्धका कारण है और सम्यग्दृष्टीकी क्रिया, बन्धका कारण तो दूर रहो, उलटी पूर्व बँधे हुए कर्मोंकी निर्जराका कारण है।

ऐसा होनेमें हेतु—

यस्माज्ज्ञानमया भावा ज्ञानिनां ज्ञाननिर्वृताः।
अज्ञानमयभावानां नात्रकाशः सुदृष्टिषु ॥२३१॥

अर्थ—सम्यक्ज्ञानियोंके ज्ञानसे होनेवाले ज्ञानस्वरूप भाव ही सदा होते हैं तथा सम्यग्दृष्टियोंमें अज्ञानसे होनेवाले अज्ञानमय भावोंका स्थान नहीं है।

भावार्थ—बन्धके कारण अज्ञानमय भाव हैं। वे सम्यग्दृष्टियोंके होते नहीं है, इसलिये सम्यग्दृष्टीकी क्रिया बन्धका हेतु नहीं है किन्तु शुद्ध ज्ञानकी मात्रा होनेसे निर्जराका हेतु है।

ज्ञानीका चिह्न—

वैराग्यं परमोपेक्षाज्ञानं स्वानुभवः स्वयम्।
तद्द्वयं ज्ञानिनो लक्ष्म जीवन्मुक्तः स एव च ॥ २३२ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञानी, वैराग्य परम उदासीनतारूप ज्ञान तथा अपनी आत्माका अनुभव स्वयं करता रहता है। वैराग्य परम उदासीनता और स्वानुभव ये ही दो चिन्ह सम्यग्ज्ञानीके हैं और वही ज्ञानी नियमसे जीवन्मुक्त है।

ज्ञानीका स्वरूप—

ज्ञानी ज्ञानैकपात्रत्वात् पश्यत्यात्मानमात्मवित्।
बद्धस्पृष्टादिभावानामस्वरूपादनास्पदम् ॥ २३३ ॥

अर्थ—ज्ञानी, ज्ञानका ही अद्वितीयपात्र है। वही आत्माको जाननेवाला है, इसलिये अपनी आत्माको देखता है। वही ज्ञानी, कर्मोंसे बँधनेका तथा अन्य पदार्थोंसे मिलनेका स्थान नहीं है। क्योंकि कर्मोंसे बँधना और मिलना आदि भाव उसके स्वरूप नहीं है।

और भी—

ततः स्वादु यथाभ्यक्षं स्वमासाद्यति स्फुटम्।
अविशिष्टमसंयुक्तं नियतं स्वमनन्यकम् ॥ २३४ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुष जैसा अपने आपको प्रत्यक्ष पाता है उसी प्रकारका स्वाद भी लेता है। अर्थात् वैसा ही अनुभव करता है। वह अपनेको सदा सबसे अमिल, असम्बन्धित और भिन्न ही अनुभवता है।

सम्यक्ज्ञानीका स्वात्मावलोकन—

अथाबद्धमथास्पृष्टं शुद्धं सिद्धपदोपमम् ।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निःसङ्गं व्योमवत् सदा ॥ २३५ ॥
इन्द्रियोपेक्षितानन्तज्ञानदृग्वीर्यमूर्तिकम् ।
अक्षातीतसुखानन्तस्वाभाविकगुणान्वितम् ॥ २३६ ॥
पश्यन्निति निजात्मानं ज्ञानी ज्ञानैकमूर्तिमान् ।
प्रसङ्गादपरं चैच्छेदर्थात्सार्थं कृतार्थवत् ॥ २३७ ॥

अर्थ—ज्ञानी सदा अपनी आत्माको इस प्रकार देखता है कि आत्मा कर्मोंसे नहीं बँधा है, वह किसीसे नहीं मिला है, शुद्ध है सिद्धोंकी उपमा धारण करता है, शुद्ध-स्फटिकके समान है, सदा आकाशकी तरह परिग्रह रहित है, अतीन्द्रिय-अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्यकी मूर्ति है और अतीन्द्रिय सुख आदिक अनन्त स्वाभाविक गुणवाला है। इस प्रकार ज्ञानकी ही अद्वितीय मूर्ति-वह ज्ञानी अपने आपको देखता है। प्रसङ्गवश दूसरे पदार्थकी भले ही इच्छा करै, परन्तु वास्तवमें वह समस्त पदार्थोंसे कृतार्थसा हो चुका है। दूसरे सांसारिक पदार्थोंके विषयमें भी वह इस प्रकार चिन्तवन करता है—

सम्यग्ज्ञानीके विचार—

ऐहिकं यत्सुखं नाम सर्वं वैषयिकं स्मृतम् ।
न तत्सुखं सुखाभासं किन्तु दुःखमसंशयम् ॥ २३८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि विचार करता है कि जो सांसारिक (इस लोक सम्बन्धी) सुख है वह सब पञ्चेन्द्रिय सम्बंधी विषयोंसे होनेवाला है। वास्तवमें वह सुख नहीं है, किन्तु सुखका आभासमात्र है, निश्चयसे वह दुःख ही है।

तस्माद्धेयं सुखाभासं दुःखं दुःखफलं यतः ।
हेयं तत्कर्म यद्धेतुस्तस्यानिष्टस्य सर्वतः ॥ २३९ ॥

अर्थ—इसलिये वह सुखाभास छोड़ने योग्य है। वह स्वयं दुःख स्वरूप है। और दुःखरूप फलको देनेवाला है, उस सदा अनिष्ट करनेवाले वैषयिक सुखका कारण कर्म है, इसलिये उस कर्मका ही नाश करना चाहिये।

तत्सर्वं सर्वतः कर्म पौद्गलिकं तदष्टधा ।
वैपरीत्यात्फलं तस्य सर्वं दुःखं विपच्यतः ॥ २४० ॥

अर्थ—वह सम्पूर्ण पौद्गलिक कर्म सर्वदा आठ प्रकारका है, उसी कर्मका *उलटा विपाक होनेसे सभी फल दुःखरूप ही होता है।

* कर्ममात्र आत्माके गुणोंका विघातक है इसलिये सभीका विपाक विपरीत ही है। जो शुभ कर्म है वह भी दुःखका ही कारण है।

चतुर्गतिभवावर्ते नित्यं कर्मैकहेतुके ।
न पदस्थो जनः कश्चित् किन्तु कर्मपदस्थितः ॥ २४१ ॥

अर्थ—सदा कर्मके ही निमित्तसे होनेवाले इस चतुर्गति संसाररूप चक्रमें घूमता हुआ कोई भी जीव स्वस्वरूपमें स्थित नहीं है, किन्तु कर्म स्वरूपमें स्थित है, अर्थात् कर्माधीन है।

स्वस्वरूपाच्च्युतो जीवः स्यादलब्धस्वरूपवान् ।
नानादुःखसमाकीर्णे संसारे पर्यटन्निति ॥ २४२ ॥

अर्थ—यह जीव अनेक दुःखोंसे भरे हुए संसारमें घूमता हुआ अपने स्वरूपसे गिर गया है । इसने अपना स्वरूप नहीं पाया है ।

शङ्काकार—

ननु किञ्चिच्छुभं कर्म किंचित्कर्माशुभं ततः ।
क्वचित्सुखं क्वचिद्दुःखं तत्किं दुःखं परं नृणाम् ॥२४३॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि कोई कर्म शुभ होता है और कोई कर्म अशुभ होता है । इसलिये कहीं पर सुख और कहीं पर दुःख होना चाहिये, केवल मनुष्योंको दुःख ही क्यों बतलाते हो ?

उत्तर—

नैवं यतः सुखं नैतत् तत्सुखं यत्र नाऽसुखम् ।
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तच्छुभं यत्र नाऽशुभम् ॥२४४॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जिसको वह सुख समझता है वह सुख नहीं है । वास्तवमें सुख वही है जहां पर कभी थोड़ा भी दुःख नहीं है, वही धर्म है जहां पर अधर्मका लेश नहीं है और वही शुभ है जहां पर अशुभ नहीं है ।

सांसारिक सुखका स्वरूप—

इदमस्ति पराधीनं सुखं बाधापुरस्सरम् ।
व्युच्छिन्नं बन्धहेतुश्च विषमं दुःखमर्थतः ॥२४५॥

अर्थ—यह इन्द्रियोंसे होनेवाला सुख पराधीन है, कर्मके परतन्त्र है, बाधापूर्वक है, इसमें अनेक विघ्न आते हैं, बीचबीचमें इसमें दुःख होता जाता है, यह सुख बन्धका कारण है, तथा विषम है । वास्तवमें इन्द्रियोंसे होनेवाला सुख दुःख रूप ही है इसी बातको दूसरे ग्रन्थकार भी कहते हैं—

ग्रन्थान्तर—

*** सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।**
जं इंदिएहि लद्धं तं सुक्खं दुःखमेव तहा ॥ १ ॥

* यह गाथा पञ्चाध्यायीमें ही क्षेपक रूपसे दी हुई है ।

अर्थ—जो सुख इन्द्रियोंसे मिलता है वह अपने और परको बाधा पहुंचानेवाला है। हमेशा ठहरता भी नहीं है, बीचबीचमें नष्ट भी हो जाता है, बन्धका कारण है, और विषम है इसलिये वह दुःख ही है।

कर्मकी विचित्रता—

भावार्थश्चात्र सर्वेषां कर्मणामुदयः क्षणात्।
वज्राघात इवात्मानं दुर्वारो निष्पिनष्टि वै ॥ २४६ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश यह है कि सम्पूर्ण कर्मोंका उदय एक क्षण मात्रमें *वज्रसे होनेवाले आघात (चोट) की तरह* आत्माको पीस डालता है। यह कर्म बड़ी कठिनतासे दूर किया जाता है।

व्याकुलः सर्वदेशेषु जीवः कर्मोदयाद्ध्रुवम्।
वन्हियोगाद्यथा वारि तप्तं स्पर्शोवलब्धितः ॥ २४७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निका स्पर्श होनेसे जल तपता है (खलबल खलबल करता है) उसी प्रकार यह जीव भी कर्मोंके उदयसे सम्पूर्ण प्रदेशोंमें नियमसे व्याकुल हो रहा है।

साताऽसातोदयादुःखमास्तां स्थूलोपलक्षणात्।
सर्वकर्मोदयाघात इवाघातश्चिदात्मनः ॥ २४८ ॥

अर्थ—साता वेदनीय और असाता वेदनीयके उदयसे दुःख होता है यह कथन तो मोटी रीतिसे है। वास्तवमें सम्पूर्ण कर्मोंका ही उदय जीवात्माको उसी प्रकार आघात पहुंचा रहा है जिस प्रकार कि वज्रकी चोट होती है।

सम्यग्दृष्टी भी इससे नहीं बचा है।

आस्तां घातः प्रदेशेषु संदृष्टेरुपलब्धितः।
वातव्याधेर्यथाध्यक्षं पीड्यन्ते ननु सन्धयः ॥ २४९ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीके प्रदेशोंमें भी उस कर्मका आघात हो रहा है। जिस प्रकार वात व्याधि (वायु रोग)से घुटनों, कमर आदिकी मिली हुई हड्डियां दुखती रहती हैं उसी प्रकार कर्मका आघात भी दुःख पहुंचा रहा है।

कोई कर्म सुखदायी नहीं है—

नहि कर्मोदयः काश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः।
सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ॥ २५० ॥

अर्थ—कोई भी ऐसा कर्मोदय नहीं है जो इस जीवको सुख पहुंचानेवाला हो, जीवके विषयमें तो सभी कर्मोंका स्वरूप विलक्षण ही है। अर्थात् वहां तो सभी कर्म जड़ता ही करते हैं। कैसा ही शुभ अथवा अशुभ कर्म क्यों न हो जीवके लिये तो सभी दुःखदाई है।

तस्य मन्दोदयात् केचित् जीवाः समनस्काः क्वचित् ।
तद्वेगमसहमाना रमन्ते विषयेषु च ॥ २५१ ॥

अर्थ—उस कर्मके मन्द उदय होनेसे कोई कहीं संज्ञी जीव उस कर्मके वेगको नहीं सहन कर सक्ते हैं और विषयोंमें रमने लग जाते हैं।

केचित्तीव्रोदयाः सन्तो मन्दाक्षाः खल्वसंज्ञिनः ।
केवलं दुःखवेगार्ता रन्तुं नार्थानपि क्षमाः ॥ २५२ ॥

अर्थ—कोई कोई मन्द इन्द्रियोंको धारण करनेवाले असंज्ञी जीव उस कर्मके तीव्रोदयसे सताये हुए केवल दुःखके वेगसे पीडित होते रहते हैं। वे पदार्थोंमें रमण करनेके लिये भी समर्थ नहीं हैं।

सांसारिक सुख भी दुःख ही है ।

यद्दुःखं लौकिकी रूढिर्निर्णीतेस्तत्र का कथा ।
यत्सुखं लौकिकी रूढिस्तत्सुखं दुःखमर्थतः ॥ २५३ ॥

अर्थ—लोकमें जिसकी दुःखके नामसे प्रसिद्धि है, वह तो दुःख है ही यह बात तो निर्णीत हो ही चुकी है। उस विषयमें तो कहा ही क्या जाय, परन्तु लोकमें जो सुखके नामसे प्रसिद्ध है, वह भी वास्तवमें दुःख ही है।

वह दुःख भी सदा रहने वाला है—

कादाचित्कं न तद्दुःखं प्रत्युताच्छिन्नधारया ।
सन्निकर्षेषु तेष्वेवैस्तृष्णातङ्कस्य दर्शनात् ॥ २५४ ॥

अर्थ—वह दुःख भी कभी कभी नहीं होनेवाला है किन्तु निरन्तर रहता है। उन इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इस जीवका तीव्र लालसा रूपी रोग लगा हुआ है, इसीसे इसके वह दुःख सदा बना रहता है।

इन्द्रियार्थेषु लुब्धानामन्तर्दाहः सुदारुणः ।
तमन्तरा यतस्तेषां विषयेषु रतिः कुतः ॥ २५५ ॥

अर्थ—इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें जो लोलुपी हो रहे हैं, उन पुरुषोंके अन्तरंगमें सदा अत्यन्त कठिन दाह (अग्नि समान) होता रहता है। क्योंकि विना अन्तर दाहके हुए उनकी विषयोंमें लीनता ही कैसे हो सक्ती है।

भावार्थ—विषयसेवियोंके हृदयमें सदा तीव्र दाह उठा करता है, उसीके प्रतीकारके लिये वे विषय सेवन करते हैं, परन्तु उससे पुनः अग्निमें लकड़ी डालनेके समान दाह पैदा होने लगता है। इसीसे कहा जाता है कि विषयसेवी पुरुषको थोडा भी चैन नहीं है, वह सदा इसी प्रकार दुःख भाजन बना रहता है।

दृश्यते रतिरेतेषां सुहितानामिवेक्षणात् ।
तृष्णावीजं जलौकानां दुष्टशोणितकर्षणात् ॥ २५६ ॥

अर्थ—इन्द्रियार्थ सेवियोंकी विषय–रति देखनेमें भी आती है, वे लोग उन्ही पदार्थोंकी प्राप्तिसे सुहित सा मानने लगते हैं। जिस प्रकार खराब रक्त (लोहू) के पीनेमें ही जोंक (जलजन्तु) हित समझती है और उसीसे प्रेम करती है। उसी प्रकार इन्द्रियार्थ सेवियोंकी अवस्था समझनी चाहिये। यह उनका प्रेम तृष्णाका बीज है अर्थात् उस रीतिसे तृष्णाकी वृद्धि ही होती जाती है।

देवेन्द्र, नरेन्द्रोंको भी सुख नहीं है—

शक्रचक्रधरादीनां केवलं पुण्यशालिनाम् ।
तृष्णावीजं रतिस्तेषां सुखावाप्तिः कुतस्तनी ॥ २५७ ॥

अर्थ—केवल पुण्यको धारण करनेवाले जो इन्द्र और चक्रवर्ती आदिक बड़े पुरुष हैं उनके भी तृष्णाका बीजभूत विषय–लालसा है, इसलिये उनको भी सुखकी प्राप्ति कहां रक्खी है।

भावार्थ—संसारमें सर्वोपरि पुण्यशाली इन्द्र और चक्रवर्ती आदिक हैं वे भी इस विषय–रतिसे दुःखी हैं, इस लिये सच्चे सुखका स्वाद वे भी नहीं ले सक्ते।

ग्रन्थान्तर—

*** जेसिं विसये सुरदि तेसिं दुःखं च जाण साहावं ।**
जदि तं णत्थि सहावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥ २ ॥

अर्थ—जिन पुरुषोंकी विषयोंमें तीव्र लालसा है, उन्हे स्वाभाविक दुःखी समझना चाहिये। क्योंकि विना उस दुख–स्वभावके विषयसेवनमें उनका व्यापार ही नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—पहले पीडा उत्पन्न होती है, उसीका प्रतीकार विषयसेवन है। परन्तु विषयसेवन स्वयं पीडाका उत्पादक है। इस लिये विषय सेवीकी दुःखधारा सदा प्रकटित ही रहती है।

सारांश—

सर्वं तात्पर्यमत्रैतद्दुःखं यत्सुखसंज्ञकम् ।
दुःखस्यानात्मधर्मत्वान्नाभिलाषः सुदृष्टिनाम् ॥ २५८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका समग्र सारांश यह निकला कि जिसकी संसारमें सुख संज्ञा है वह दुःख ही है और दुःख आत्माका धर्म नहीं है। इसी लिये सम्यग्दृष्टी पुरुषकी विषयोंमें अभिलाषा नहीं होती।

---

* यह भी क्षेपक गाथा है।

सम्यग्दृष्टिकी विरक्तता—

वैषयिकसुखे न स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम् ।
रागस्याज्ञानभावत्वात् अस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ॥ २५९ ॥

अर्थ— सम्यग्दृष्टियोंका विषयजन्य सुखमें रागभाव नहीं है, क्योंकि राग अज्ञान-भाव है, और अज्ञानमय भाव सम्यग्दृष्टिके होते नहीं, यह बात पहले ही कही जा चुकी है इस लिये वह रागभाव मिथ्यादृष्टिके ही नियमसे होता है ।

सम्यग्दृष्टिको अभिलाषा नहीं है—

सम्यग्दृष्टेस्तु सम्यक्त्वं स्यादवस्थान्तरं चितः ।
सामान्यजनवत्तस्मान्नाभिलाषोऽस्य कर्मणि ॥ २६० ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिकी आत्मामें सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हो चुका है, इससे उसकी आत्मा अवस्थान्तर रूपमें आ चुकी है । इसीलिये सामान्य मनुष्योंकी तरह सम्यग्दृष्टिको क्रियाओंमें अभिलाषा नहीं होती है ।

सांसारिक भोगोंमें सम्यग्दृष्टिकी उपेक्षा है—

उपेक्षा सर्वभोगेषु सदृष्टेर्दृष्टरोगवत् ।
अवश्यं तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गजः ॥ २६१ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिको प्रत्यक्षमें देखे हुए रोगकी तरह सम्पूर्ण भोगोंमें उपेक्षा (वैराग्य) हो चुकी है और उस अवस्थामें ऐसा होना अवश्यंभावी तथा स्वाभाविक है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन गुणसे होनेवाले स्वानुभूति रूप सच्चे सुखास्वादके सामने सम्यग्दृष्टिको विषयसुखमें रोगकी तरह उपेक्षा होना स्वाभाविक ही है ।

हेतुवाद—

अस्तु रूढिर्यथा ज्ञानी हेयं ज्ञात्वाऽथ मुञ्चति ।
अत्रास्त्यावस्थिकः कश्चित् परिणामः सहेतुकः ॥ २६२ ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष सांसारिक पदार्थोंको हेय (त्याज्य) समझकर छोड़ देता है । यह बात प्रसिद्ध तो है ही परन्तु इस विषयमें अवस्थाजन्य कोई परिणाम हेतु भी है उसे ही बतलाते हैं—

अनुमान—

सिद्धमस्ताभिलाषत्वं कस्यचित्सर्वतश्चितः ।
देशतोऽप्यस्मदादीनां रागभावस्य दर्शनात् ॥ २६३ ॥

अर्थ—जब हम लोगोंके भी एक देश (किन्हीं अंशोंमें) राग भावका त्याग दिखता है तो किसी जीवात्माके सर्वथा त्याग भी सिद्ध होता है ।

सम्यग्दृष्टिकी अभिलाषायें शान्त हो चुकी हैं—

तद्यथा न मदीयं स्यादन्यदीयमिदं ततः ।
परप्रकरणे कश्चित्तृप्यन्नपि न तृप्यति ॥ २६४ ॥

अर्थ—हम लोगोंके भी एक देश रूपसे अभिलाषायें नहीं होती हैं, इसी बातको बतलाते हैं—

हम लोग अपने सम्बन्धियोंसे प्रेम करते हैं दूसरोंसे नहीं करते । जब हम यह जान लेते हैं कि यह हमारी वस्तु नहीं है यह तो दूसरोंकी है तब झट दूसरोंकी वस्तुओंके विषयमें सन्तोष धारण कर लेते हैं । फिर वहां पर अभिलाषा नहीं होती परन्तु अपनी वस्तुओंमें सन्तोष नहीं होता वहां तो अभिलाषा लगी ही रहती है । इससे सिद्ध होता है कि दूसरे पदार्थोंके विषयमें हमारी भी अभिलाषायें शान्त हैं ।

भावार्थ—जिस प्रकार हम अपनी वस्तुको अपनी समझ कर प्रेम करते हैं, उस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपनीको भी अपनी नहीं समझता, क्योंकि वास्तवमें जिसको हमने अपनी वस्तु समझ रक्खा है वह भी तो दूसरी ही है । इसलिये उसकी अभिलाषा उस अपनी मानी हुई वस्तुमें भी (जैसे कि हमको होती है) नहीं होती । इसीसे कहा जाता है कि उसकी सम्पूर्ण अभिलाषायें शान्त हो चुकी हैं ।

दृष्टान्त—

यथा कश्चित्परायत्तः कुर्वाणोऽनुचितां क्रियाम् ।
कर्ता तस्याः क्रियायाश्च न स्यादस्ताभिलाषवान् ॥ २६५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई पराधीन पुरुष पराधीनता वश किसी अनुचित क्रिया (कार्य) को करता है तो भी उसका करनेवाला वह नहीं समझा जाता है । क्योंकि उसने अपनी अभिलाषासे उस कार्यको नहीं किया है किन्तु पर प्रेरणासे किया है ।

भावार्थ—इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि किसी कार्य (वैषयिक) को करता भी है, परन्तु उसकी अन्तरंग अभिलाषा उस कार्यमें नहीं होती है । कर्मके (चारित्र मोहनीय) तीव्रोदयसे ही वह अनुचित कार्यमें प्रवृत्त होता है । मिथ्यादृष्टि उसी कार्यमें रति पूर्वक लगता है इसलिये वह पापबन्धका भागी होता है । उसमें भी कारण मिथ्यात्व पटलसे होनेवाले उसके अज्ञान मयभाव (मूर्च्छित-परिणाम) ही हैं ।

शङ्काकार—

स्वदते ननु सद्दृष्टिरिन्द्रियार्थकदम्बकम् ।
तत्रेष्टं रोचते तस्मै कथमस्ताभिलाषवान् ॥ २६६ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सम्यग्दृष्टी भी इन्द्रिय जन्य विषयोंका सेवन करता

है । वहां पर जो उसे इष्ट प्रतीत होता है उसीसे वह रुचि भी करता है । फिर उसकी अभिलाषायें शान्त हो चुकी हैं, ऐसा किस प्रकार कह सक्ते हैं ?

उत्तर—

सत्यमेतादृशो यावज्जघन्यं पदमाश्रितः ।
चारित्रावरणं कर्म जघन्यपदकारणम् ॥ २६७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि यह बात ठीक है कि जब तक सम्यग्दृष्टी जघन्य श्रेणी (नीचे दरजे) में है, तब तक वह पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि करता है तथा उनसे रुचि भी करता है । उस जघन्य श्रेणीका कारण भी चारित्र मोहनीय कर्म है ।

भावार्थ—अन्तरात्माके तीन भेद शास्त्रकारोंने बतलाये हैं—जो महाव्रतको धारण करनेवाले मुनि हैं वे तो उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं, देशव्रतको धारण करनेवाले पञ्चम गुणस्थान वर्ती जो श्रावक हैं वे मध्यम—अन्तरात्मा हैं, और जो व्रत विहीन (अव्रती) केवल सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी पुरुष हैं वे जघन्य—अन्तरात्मा हैं ।

इस जघन्यतामें कारण चारित्र मोहनीयका प्रबल उदय है । उसीकी प्रबलतासे प्रेरित होकर वे विषयोंमें रुचि करते हैं और त्रस, स्थावर हिंसाके भी त्यागी नहीं हैं । इतना अवश्य है कि वे विषयोंकी निःसारताको अच्छी तरह समझे हुए हैं इसी लिये उनमें उनकी मिथ्यादृष्टियोंकी तरह गाढ़ता और हित रूपा बुद्धि नहीं होती है परन्तु सब कुछ ज्ञान रहने पर भी अव्रत सम्यग्दृष्टी पुरुष त्याग नहीं कर सक्ते । त्याग रूपा उनकी बुद्धि तभी हो सक्ती है जब कि चारित्र मोहनीयका उदय कुछ मन्द हो और वह मन्दता भी तभी आ सक्ती है जब कि अप्रत्याख्यानवरण कषायका उपशम होकर प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय हो । विना अप्रत्याख्यानावरण कषायके उपशम हुए नियमसे नहीं कहा जा सक्ता है, जहां नियमसे त्याग है उसीका नाम देशव्रत है । इस लिये पञ्चम गुणस्थानवर्तीको ही एक देश त्यागी कह सक्ते हैं ।

सम्यग्दृष्टि पुरुष सभी पदार्थोंमें आसक्त रहने पर भी एक सम्यग्दर्शन गुणके कारण ही सदा स्तुत्य और निर्मल है । उसीका बाह्यरूप—जिनोक्त पदार्थोंमें उसका अटल विश्वास है ।+

+ अव्रत सम्यग्दृष्टीका स्वरूप गोम्मटसारमें भी इसी प्रकार है—

गाथा—णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि । जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥३॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंके विषयोंसे भी विरक्त नहीं है । और स्थावर अथवा त्रस जीवोंकी हिंसासे भी विरक्त नहीं है परन्तु जिनेन्द्र भगवानके कहे हुए पदार्थोंमें श्रद्धान करता है वही अविरत (चतुर्थ गुणस्थान वर्ती) सम्यग्दृष्टी है ।

चारित्रमोहनीय ही रतिका कारण है—

तदर्थेषु रतो जीवश्चारित्रावरणोदयात् ।
तद्विना सर्वतः शुद्धो वीतरागोस्त्यतीन्द्रियः ॥ २६८ ॥

अर्थ—इष्ट पदार्थोंमें यह जीव चारित्रमोहनीयके उदयसे ही रत होता है, उस चारित्रमोहनीयके विना सर्वदा शुद्ध है, वीतराग है और अतीन्द्रिय है ।

भावार्थ—चारित्रमोहनीयके दूर होनेसे पहले ही पदार्थोंमें राग भाव है, इन्द्रिय जन्य पदार्थोंकी लालसा है, और उससे होनेवाली मलिनता भी है । सम्यग्दृष्टी इसी चारित्रमोहनीयसे बाध्य होकर विषयोंमें फंस जाता है ।

भोगोंमें प्रवृत्तिका कारण चारित्रमोहनीय है—

दृङ्मोहस्य क्षतेस्तस्य नूनं भोगाननिच्छितः ।
हेतुसद्भवतोऽवश्यमुपभोगक्रिया बलात् ॥ २६९ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीके दर्शनमोहनीय कर्मके नाश होनेसे भोगोंकी इच्छा नियमसे नहीं होती वह भोगोंको नहीं चाहता, परन्तु हेतुकी सत्तासे अवश्य ही प्रेरित होकर उसे उपभोग क्रिया करनी पड़ती है । हेतु, वही चारित्र मोहनीय है ।

फिर भी सम्यग्दृष्टी वीतरागी है—

नासिद्धं तद्विरागत्वं क्रियामात्रस्य दर्शनात् ।
जगतोनिच्छितोप्यास्ति दारिद्र्यं मरणादि च ॥ २७० ॥

अर्थ—यद्यपि सम्यग्दृष्टी उपभोग क्रिया करता है अर्थात् भोग, उपभोगका सेवन करता है, तथापि वह वीतराग है । क्योंकि उसके भोगोपभोगकी क्रिया मात्र देखी जाती है, चाहना नहीं है, और चाहना नहीं होनेपर भी उसे ऐसा करना पडता है । संसारमें कोई नहीं चाहता कि मेरे पास दरिद्रता आजाय, अथवा मेरी मृत्यु होजाय । ऐसा न चाहनेपर भी पापके उदयसे दारिद्र्य आता ही है और आयुकी क्षीणतासे मृत्यु होती ही है । उसी प्रकार चारित्रमोहनीयके उदयसे सम्यग्दृष्टिको सांसारिक वासनाओंकी इच्छा न होनेपर भी उन्हें राग बुद्धिके लिये बाध्य होना पडता है । *

---

* सूरिकल्प आशाधरने भी सागारधर्मामृतमें कहा है—

भूरेरवादिसदृक्षायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया, हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत् । चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणैवात्मनिन्दादिमान् शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोप्यघैः ॥ १ ॥ **अर्थात्**—जैसे कोतवाल द्वारा पकड़ा हुआ चोर जानता है कि काला मुंह करना, गधेपर चढ़ना आदि निन्द्य काम है, तथापि कोतवालकी आज्ञानुसार उसे सब काम करने पडते हैं । इसी प्रकार सम्यग्दृष्टी पुरुष जानता है कि त्रस स्थावर जीवोंको दुःख पहुंचाना, इन्द्रियोंके सुख सेवन करना निन्द्य और

दृष्टान्त—

व्यापीडितो जनः कश्चित्कुर्वाणो रुक्प्रतिक्रियाम् ।
तदात्वे रुक्पदं नेच्छेत् का कथा रुक्पुनर्भवे ॥ २७१ ॥

अर्थ—कोई आदमी जिसको कि रोग सता रहा है रोगका प्रतीकार (नाश) करता है । रोगका प्रतीकार करने पर भी वह रोगी रहना नहीं चाहता, तो क्या वह कभी चाहेगा कि मेरे फिरसे रोग हो जाय ।

भावार्थ—जिस आदमीको दाद हो गया हो वह उस दादका इलाज करता है । इलाज करनेसे उसका दाद चला जाता है, तो क्या दादके चलेजानेसे वह ऐसा भी कभी चाहेगा कि मेरे फिरसे दाद हो जावे ? कभी नहीं ।

दार्ष्टान्त—

कर्मणा पीडितो ज्ञानी कुर्वाणः कर्मजां क्रियाम् ।
नेच्छेत् कर्मपदं किञ्चित् साभिलाषः कुतो नयात् ॥ २७२ ॥

अर्थ—इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी भी चारित्रमोहनीय कर्मसे पीडित होकर उस कर्मके उदयसे होनेवाली क्रियाको करता है । परन्तु उस क्रियाको करता हुआ भी वह उस स्थानको (उसी क्रियाको) पसन्द नहीं करता है । तो फिर उसके अभिलाषा (चाहना) है, ऐसा किस नयसे कहा जा सकता हैं ?

अनिच्छा पूर्वक भी क्रिया है—

नासिद्धोऽनिच्छितस्तस्य कर्म तस्याऽऽमयात्मनः ।
वेदनायाः प्रतीकारो न स्याद्रोगादिहेतुकः ॥ २७३ ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टीके इच्छाके विना भी क्रिया होती है यह बात असिद्ध नहीं है । जो रोगी है वह वेदनाका प्रतीकार करता है, परन्तु वह उसका प्रतीकार करना रोगादिक होनेका कारण नहीं है ।

भावार्थ—जिस प्रकार रोगके दूर करनेका उद्योग रोगका कारण कभी नहीं हो सकता, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टीकी विना इच्छाके होनेवाली क्रिया अभिलाषाको पैदा नहीं कर सक्ती ।

सम्यग्दृष्टी भोगी नहीं है—

सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोप्यसेवकः ।
नीरागस्य न रागाय कर्माऽकामकृतं यतः ॥ २७४ ॥

अयोग्य कार्य है तथापि अप्रत्याख्यानावरणादि चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे उसे ये सब काम करने पडते हैं । द्रव्यहिंसा भावहिंसा भी करनी पड़ती है परन्तु सम्यग्दर्शनके प्रगट होजानेसे वह पापोंसे अत्यन्त क्लेशित नहीं होता है ।

अर्थ—यह सम्यग्दृष्टि भोगोंका सेवन भी करता है, तो भी उनका सेवक नहीं समझा जाता क्योंकि राग विहीन पुरुषका इच्छाके बिना किया हुआ कर्म उसके रागके लिये नहीं कहा जा सकता ।

सम्यग्दृष्टीकी चेतना—

अस्ति तस्यापि सद्दृष्टेः कस्यचित्कर्मचेतना ।
अपि कर्मफले सा स्यादर्थतो ज्ञानचेतना ॥ २७५ ॥

अर्थ—किसी किसी सम्यग्दृष्टीके कर्मचेतना और कर्मफल चेतना भी होती है, परन्तु वास्तवमें वह ज्ञान चेतना ही है । (?) ×

ज्ञानचेतना क्यों है—

चेतनायाः फलं बन्धस्तत्फले वाऽथ कर्मणि ।
रागाभावान्न बन्धोऽस्य तस्मात्सा ज्ञानचेतना ॥२७६॥

अर्थ—चाहे कर्मचेतना हो अथवा कर्मफलचेतना हो, दोनोंका ही फल बन्ध है अर्थात् दोनों ही चेतनायें बन्ध करनेवाली हैं । सम्यग्दृष्टीके रागका (अज्ञानभावका) अभाव होचुका है, इस लिये उसके बन्ध नहीं होता, इसी लिये वास्तवमें उसके ज्ञानचेतना ही है ।

भावार्थ—कोई यह शङ्का कर सकते हैं कि बन्ध तो दशवें गुणस्थान तक होता है क्योंकि वहां भी सूक्ष्म लोभका उदय है, फिर सम्यग्दृष्टीके लिये रागके अभावसे बन्धका अभाव क्यों बतलाया गया है ?

उत्तर—यद्यपि सम्यग्दृष्टीके राग होनेसे बन्ध होता है, परन्तु जिन मोहित अज्ञान परिणामोंसे मिथ्यादृष्टीके बन्ध होता है वैसा सम्यग्दृष्टीके नहीं होता । सम्यग्दृष्टीका राग, मिथ्यात्वमिश्रित नहीं है इसी लिये उसके उसका अभाव बतलाया गया है ।

ग्राह्य और आग्राह्य—

अस्ति ज्ञानं यथा सौख्यमैन्द्रियं चाप्यतीन्द्रियम् ।
आद्यं द्वयमनादेयं समादेयं परं द्वयम् ॥ २७७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार इन्द्रियजन्य सुख और अतीन्द्रिय सुख होता है, उसी प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान भी होता है । इन दोनों ही प्रकारोंमें आदिके दो

× सम्यग्दृष्टिके पहले ज्ञान चेतना ही बतलाई है, परन्तु यहांपर उसके कर्मचेतना और कर्मफल चेतना भी बतलाई है । आगे भी कर्म और कर्मफलचेतना सम्यग्दृष्टीके बतलाई है । मालूम होता है कि उसके चारित्रमोहनीयकी अपेक्षासे ये दो चेतनायें कहीं गई हैं । वास्तवमें तो उसके आकांक्षा न होनेसे ज्ञानचेतना ही है । सम्यग्दृष्टिके मुख्यतासे ज्ञानचेतना ही कही गई है और बाकीकी दोनों चेतनाओंका अधिकारी मिथ्यादृष्टि कहागया है ।

अर्थात् इंद्रियजन्य सुख और ज्ञान ग्रहण करने योग्य नहीं हैं और पीछेके दो अर्थात् अतीन्द्रिय सुख और अतीन्द्रिय ज्ञान अच्छी तरह ग्रहण करने योग्य हैं। इन्द्रियजन्य सुखके विषयमें तो पहले कह चुके हैं अब इन्द्रियजन्य ज्ञानमें दोष बतलाते हैं—

इन्द्रियज ज्ञान—

नूनं यत्परतो ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत् ।
व्याकुलं मोहसंपृक्तमर्थाद्दुःखमनर्थवत् ॥ २७८ ॥

अर्थ—जो ज्ञान पर (इन्द्रिय और मन) की सहायतासे होता है वह एक एक पदार्थमें क्रमसे परिणमन करता है। इसी लिये वह निश्चयसे व्याकुल है, मोहसे मिला हुआ है, दुःख स्वरूप है और अनर्थ करनेवाला है।

भावार्थ—इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा पदार्थका ग्रहण पूरी तौरसे नहीं होता है, किन्तु एक एक पदार्थका, सो भी स्थूलतासे पदार्थके एक देशांशका होता है। बाकी अंश और पदार्थान्तरोंके जाननेके लिये वह सदा व्याकुल (चञ्चल) रहता है। साथमें वह मोहनीय कर्मके साथ मिला हुआ है इसलिये पदार्थका यथार्थ स्वरूप नहीं जान सक्ता, इसलिये वह अनर्थकारी है। वास्तवमें वह दुःख देनेवाला ही है इससे दुःख स्वरूप है। उस ज्ञानसे आत्मा सन्तुष्ट (सुखी) नहीं होता।

दुःख रूप क्यों है ?

सिद्धं दुःखत्वमस्योच्चैर्व्याकुलत्वोपलब्धितः ।
ज्ञातशेषार्थसद्भावे तद्बुभुत्सादिदर्शनात् ॥ २७९ ॥

अर्थ—जो पदार्थ ज्ञानका विषय नहीं होता है अथवा एक ही पदार्थका जो अंश नहीं जाना जाता है उसी सबके जाननेके लिये वह ज्ञान उत्कण्ठित, तथा अधीर रहता है, इसलिये वह व्याकुलता पूर्ण है। व्याकुलता होनेसे ही वह ज्ञान (इन्द्रियज) दुःखरूप हैं।

आस्तां शेषार्थजिज्ञासोरज्ञानाद् व्याकुलं मनः ।
उपयोगि सदर्थेषु ज्ञानं वाप्यसुखावहम् ॥ २८० ॥

अर्थ—शेष पदार्थोंके जाननेकी इच्छा रखनेवाला मन (इन्द्रियां भी) अज्ञानतासे व्याकुल है, यह तो है ही, परन्तु जिन यथार्थ पदार्थोंमें वह उपयुक्त (लगा हुआ) है। उनके विषयमें भी वह दुःखप्रद ही हैं। किस प्रकार ? सोई बतलाते हैं—

प्रमत्तं मोहयुक्तत्वान्निकृष्टं हेतुगौरवात् ।
व्युच्छिन्नं क्रमवर्तित्वात् कृच्छ्रं चेहाद्युपक्रमात् ॥ २८१ ॥

अर्थ—इन्द्रिय और मनसे होनेवाला ज्ञान, मोह सहित है इसलिये प्रमादी है, विना हेतु वगैरह (प्रत्यक्ष) के होता नहीं इस लिये हेतु गौरव होनेसे निकृष्ट है, क्रम क्रमसे

होता है इस लिये वीच वीचमें रुक जाता है, और पहले दर्शन होता है, फिर अवग्रह होता है, फिर ईहा फिर अवाय, फिर धारणा, इस तरह बहुतसे ज्ञान होने पर तब कहीं पूरा ज्ञान होपाता है इसलिये कठिन साध्य है।

और भी दोष—

परोक्षं तत्परायत्तादाक्ष्यमक्षसमुद्भवात् ।
सदोषं संशयादीनां दोषाणां तत्र संभवात् ॥ २८२ ॥

अर्थ—वह पराधीन होता है इसलिये परोक्ष है, इन्द्रियोंसे होता है इसलिये इन्द्रिय जन्य (एक देश) ज्ञान कहलाता है। फिर भी उसमें संशय विपर्ययादिक अनेक दोष आते हैं इसलिये वह ज्ञान सदोष है।

और भी दोष।

विरुद्धं बन्धहेतुत्वाद्बन्धकार्याच्च कर्मजम् ।
अश्रेयोऽनात्मधर्मत्वात् कालुष्यादशुचिः स्वतः ॥ २८३ ॥

अर्थ—इन्द्रियज ज्ञान बन्धका कारण है इसलिये वह विरुद्ध है, वह बन्धका कार्य भी है इसलिये वह ज्ञान आत्मीय नहीं कहलाता, किन्तु कर्मसे होने वाला है, वह आत्माका धर्म नहीं है इसलिये आत्माको हानिकारक है और वह मलिन है इसलिये वह स्वयं अपवित्र है।

और भी दोष—

मूर्छितं यदपस्मारवेगवद्वर्धमानतः ।
क्षणं वा हीयमानत्वात् क्षणं यावददर्शनात् ॥ २८४ ॥

अर्थ—वह ज्ञान मृगीरोगकी तरह कभी बढ़ जाता है और कभी घट जाता है, कभी दीखता है कभी नहीं दीखता इसलिये वह मूर्छित है।

और भी दोष—

अत्राणं प्रत्यनीकस्य क्षणं शान्तस्य कर्मणः ।
जीवदवस्थातोऽवश्यमेष्यतः स्वरसंस्थितेः ॥ २८५ ॥

अर्थ—जो कर्म आत्माका शत्रु है, और जो क्षणमात्रके लिये शान्त भी हो जाता है, परन्तु अपनी सत्ता रखनेके कारण अवश्य ही अपने रसको देनेवाला है, ऐसे कर्मकी जीती हुई अवस्थासे वह ज्ञान रक्षा नहीं कर सक्ता।

इन्द्रियज ज्ञानकी अज्ञता—

दिङ्मात्रं षट्सु द्रव्येषु मूर्तस्यैवोपलम्भकात् ।
तत्र सूक्ष्मेषु नैव स्यादस्ति स्थूलेषु केषुचित् ॥ २८६ ॥

अर्थ—यह इन्द्रियजन्य ज्ञान छह द्रव्योंमें केवल मूर्त (पुद्गल) द्रव्यको ही दिङ् मात्र (थोड़ासा) जानता है। उस पुद्गल द्रव्यमें भी सूक्ष्म पदार्थोंको तो जानता ही नहीं, किन्तु स्थूलोंको जानता है, सो भी सबोंको नहीं, किन्तु किन्हीं किन्हीं पदार्थोंको ही जानता है।

सत्सु ग्राह्येषु तत्रापि नाग्राह्येषु कदाचन ।
तत्रापि विद्यमानेषु नातीतानागतेषु च ॥ २८७ ॥

अर्थ—उन किन्हीं किन्हीं स्थूल पदार्थोंमें भी जो ग्राह्य हैं अर्थात् इन्द्रियद्वारा ग्रहण करने योग्य हैं उन्हींको जानता है, जो अग्राह्य हैं उन्हें नहीं जानता। ग्राह्य पदार्थोंमें भी जो सामने मोजूद हैं उन्हींको जानता है, जो होचुके हैं अथवा जो होनेवाले हैं उन्हें वह नहीं जानता।

तत्रापि सन्निधानत्वे सन्निकर्षेषु सत्सु च ।
तत्राप्यवग्रहेहादौ ज्ञानस्यास्तित्वयदर्शनात् ॥ २८८ ॥

अर्थ—जो सामने मौजूद पदार्थ हैं उनमें भी जिन पदार्थोंका इन्द्रियोंके साथ सन्निधान (अत्यन्त निकटता) और सन्निकर्ष (संयोग) है उन्हींका ज्ञान होता है, उनमें भी अवग्रह, ईहा आदिकके होने पर ही ज्ञान होता है अन्यथा नहीं।

समस्तेषु न व्यस्तेषु हेतुभूतेषु सत्स्वपि ।
कदाचिज्जायते ज्ञानमुपर्युपरि शुद्धितः ॥ २८९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कारणोंके मिलने पर भी समस्त पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, किन्तु भिन्न भिन्न पदार्थोंका होता है, वह भी तभी होता है जब कि ऊपर ऊपर कुछ शुद्धि बढ़ती जाती है, सो भी सदा नहीं होता किन्तु कभी कभी होता है।

ज्ञानोंमें शुद्धिका विचार—

तद्यथा मतिज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य वा सतः ।
आलापाः सन्त्यसंख्यातास्तत्रानन्ताश्च शक्तयः ॥ २९० ॥

अर्थ—ऊपर ऊपर ज्ञानमें शुद्धता किस प्रकार आती है ? इसी बातको बतलाते हैं। मतिज्ञान अथवा श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद हैं और उन भेदोंमें भी अनन्त शक्तियां भरी हुई हैं।

इतने भेदोंका कारण—

तेषामावरणान्युच्चैरालापाच्छक्तितोथवा ।
प्रत्येकं सन्ति तावन्ति सन्तानस्यानतिक्रमात् ॥ २९१ ॥

अर्थ—जितने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके भेद हैं उतने ही उनके आवरण करने वाले

कर्मोंके भेद हैं उन आवरण करनेवाले कर्मोंकी भी सन्तान बराबर चलती रहती है।

भावार्थ—ज्ञानको ढकने वाले कर्मकी अपेक्षासे ही ज्ञानके भेद होते हैं। जितने भेद उस ढकनेवाले कर्मके हैं, उतने ही भेद ज्ञानमें हो जाते हैं। आवरण करनेवाले कर्मके असंख्यात भेद हैं। ये भेद स्कन्धकी अपेक्षासे हैं परन्तु प्रत्येक परमाणुमें ज्ञानको रोकनेकी शक्ति है इस लिये प्रत्येक परमाणुकी शक्तिकी अपेक्षासे उस कर्मके भी अनन्त भेद हैं। इसी प्रकार ज्ञानके भी असंख्यात और अनन्त भेद हैं। जैसा जैसा आवरण हटता जाता है वैसा वैसा ही ज्ञान प्रकट होता जाता है। इसी बातको नीचे बतलाते हैं—

तत्रालापस्य यस्योच्चैर्यावदंशस्य कर्मणः।
क्षायोपशमिकं नाम स्यादवस्थान्तरं स्वतः ॥ २९२ ॥
अपि वीर्यान्तरायस्य लब्धिरित्यभिधीयते।
तदैवास्ति स आलापस्तावदंशश्च शक्तितः ॥ २९३ ॥

अर्थ—जिस आलाप (भेद–पटल) के जितने कर्मके अंशका क्षयोपशम होजाता है, उतनी ही ज्ञानकी अवस्था दूसरी होजाती है अर्थात् उतना ही ज्ञान प्रकट रूपमें आता है। जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्मका भी क्षयोपशम होना आवश्यक है। उक्त दोनों कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे जो ज्ञानमें विशुद्धि होती है वही एक आलाप (ज्ञान–भेद) कहलाता है और शक्तिकी अपेक्षा भी उतना ही अंश (ज्ञान विशुद्धि) कहलाता है। भावार्थ–इसी प्रकार जितना २ ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होता जाता है उतना २ ही ज्ञानांश प्रकट होता जाता है। आवरण क्रमसे हटते हैं इसीसे विशेष ज्ञान भी क्रमसे ही होता है। वे ही क्रमसे हटनेवाले आवरण और क्रमसे होनेवाले ज्ञान भिन्न भिन्न कहलाते हैं इसीका नाम आलाप है। यह ज्ञान लब्धि रूप है। अब उपयोगात्मक ज्ञानको बतलाते हैं—

उपयोगात्मक ज्ञान—

उपयोगविवक्षायां हेतुरस्यास्ति तद्यथा।
अस्ति पञ्चेन्द्रियं कर्म कर्मस्यान्मानसं तथा ॥ २९४ ॥

अर्थ—जितना२ आवरण हटता है उतना२ ज्ञान प्रकट होता है यह ऊपर कह चुके हैं, परन्तु इतना होनेपर भी वस्तुका ज्ञान नहीं होता, आत्माके परिणाम जिस तरफ उन्मुख–रिजु होते हैं उसीका ज्ञान होता है इसीका नाम उपयोग है। इसी उपयोगकी विवक्षामें पञ्चेन्द्रिय नाम कर्म और मानस कर्म, ये दोनों हेतु हैं।

पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्मका उदय होना चाहिये—

दैवात्तद्बन्धमायाति कथञ्चित्कस्यचित्कचित् ।
अस्ति तस्योदयस्तावन्न स्यात्संक्रमणादि चेत् ॥ २९५ ॥

अर्थ—उपर्युक्त दोनों प्रकारका कर्म (पञ्चेन्द्रिय, मानस) दैव योगसे कहीं किसीके किसी प्रकार बँधता है और बन्ध होनेपर भी उसका उदय तभी होता है जब कि संक्रमणादिक न हों।

भावार्थ—कर्म बंधने पर भी यह नियम नहीं हैं कि उसका उदय हो ही होय, क्योंकि कर्मोंमें फेरफार भी हुआ करते हैं। कोई कर्म भिन्न२ भावोंके अनुसार बदलता भी रहता है। एक कर्म दूसरे रूप होजाता है। जैसे कि अनन्तानुबन्धिकषाय द्वितीयोपशम सम्यक्त्ववाले के बदल कर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, इनमेंसे किसी रूप होजाती है। फिर जो उसका उदय होगा वह इन्हीं तीनमेंसे किसी रूप होगा। अनन्तानुबन्धि रूपसे नहीं होसक्ता। इसी प्रकार यहां बतलाते हैं कि जिस पुरुषके पञ्चेन्द्रिय कर्म और मानस कर्म बँध भी जाँय, फिर भी वे अपने रूपमें तभी उदय होंगे जब कि उनमें किसी प्रकार परिवर्तन न होगा। परिवर्तनका नाम ही संक्रमण है। संक्रमणके भी अनेक भेद हैं। कोई पूर्ण प्रकृतिका परिवर्तन करता है, कोई कुछ अंशोंका। इसीके अनुसार उसके उद्वेलन, संक्रपण, अधःप्रवृत्त, विध्यात आदि नाम भी हैं। यदि इसका खुलासा जानना हो तो गोम्मटसार कर्मकाण्डको देखिये।

पर्याप्त नाम कर्मका भी उदय होना चाहिये—

अथ तस्योदये हेतुरस्ति हेत्वन्तरं यथा ।
पर्याप्तं कर्म नामेति स्यादवश्यं सहोदयात् ॥ २९६ ॥

अर्थ—आगे उस पञ्चेन्द्रिय और मानस कर्मके उदयमें दूसरा कारण भी बतलाते हैं। उपर्युक्त दोनों कर्मोंके साथ पर्याप्त नाम कर्मका भी उदय होना अत्यावश्यक है। विना पर्याप्तियोंके हुए शरीरादिक पूरे भी नहीं होपाते, बीचमें ही मृत्यु होजाती है। इस लिये पर्याप्त कर्मका उदय भी अवश्य होना चाहिये।

इन्द्रिय और मनकी रचना—

सति तत्रोदये सिद्धाः स्वतो नोकर्मवर्गणाः ।
मनो देहेन्द्रियाकारं जायते तन्निमित्ततः ॥ २९७ ॥

अर्थ—पर्याप्त कर्मके उदय होने पर नो कर्म वर्गणायें भी आने लगती हैं यह बात स्वतःसिद्ध है उन नोकर्म वर्गणाओंके निमित्तसे मन और शरिरमें इन्द्रियोंका आकार बनता है।

उपयोगमें द्रव्येन्द्रियां भी कारण हैं—

तेषां परिसमाप्तिश्चेज्जायते दैवयोगतः ।
लब्धेः स्वार्थोपयोगेषु बाह्यं हेतुर्जडेन्द्रियम् ॥२९८॥

अर्थ—उन इन्द्रियादिकोंकी रचनाकी भी दैवयोगसे समाप्ति हो जावे । फिर कहीं कर्मोंके क्षयोपशम होनेसे स्वपर पदार्थका उपयोग हो । उसमें भी बाह्य हेतु द्रव्येन्द्रियां हैं ।

उपयोगमें अन्यकारणकलाप—

अस्ति तत्रापि हेतुर्वा प्रकाशो रविदीपयोः ।
अन्यदेशस्थसंस्कारः पारं पर्यावलोकनम् ॥ २९९ ॥

अर्थ—इतना सब कुछ होने पर भी यदि सूर्य और दीपकका प्रकाश न हो तो भी उपयोगात्मक ज्ञान नहीं हो सक्ता है । इसलिये प्रकाशका होना आवश्यक है । और भी—पहले किसी स्थानमें किये हुए ज्ञानके संस्कार भी कारण हैं । फिर भी परम्परासे अवलोकन (प्रत्यक्ष) होता है ।

हेतुकी हीनतामें ज्ञान भी नहीं हो सक्ता है—

एतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सज्ज्ञानसंभवात् ।
रूपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥ ३०० ॥

अर्थ—इन ऊपर कहे हुए पञ्चेन्द्रियकर्म, मानस कर्म, पर्याप्तकर्म, इन्द्रियादिककी रचना, सूर्यादिकका प्रकाश, अन्य देशस्थ संस्कार आदि समग्र हेतुओंके होने पर ही वस्तुका ठीक २ भान (ज्ञान--प्रत्यक्ष) होना संभव है । यदि इन कारणोंमेंसे कोई भी कम हो तो पदार्थका ज्ञान नहीं हो सक्ता ।

अस्ति तत्र विशेषोयं विना बाह्येन हेतुना ।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात् ॥ ३०१ ॥

अर्थ—यहां पर इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि क्षयोपशम (लब्धि) ज्ञानके होने पर भी विना बाह्य कारणके मिले पदार्थोंका ज्ञान (उपयोग रूप) नहीं हो सक्ता है ।

क्षयोपशमका स्वरूप—

देशतः सर्वतो घातिस्पर्धकानामिहोदयात् ।
क्षायोपशमिकावस्था न चेज्ज्ञानं न लब्धिमत् ॥ ३०२ ॥

अर्थ—देशघातिस्पर्धकोंका उदय होने पर सर्वघातिस्पर्धकोंका उदयक्षय (उदयाभावी क्षय) होने पर क्षयोपशम होता है । ऐसी क्षयोपशम—अवस्था यदि न हो तो वह लब्धिरूप ज्ञान भी नहीं हो सक्ता ।

भावार्थ—सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदिकमें क्षयोपशमका खुलासा लक्षण इस प्रकार है—" सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् देशघातिस्पर्धकानामुदयात् क्षायोपशमिकं जायते " जो कर्म आत्माके सम्पूर्ण रीतिसे गुणोंको रोकें उन्हे सर्वघातिक कहते हैं, और जो गुणोंको एक देशसे घातें उन्हें देशघातिक कहते हैं । जहांपर

सर्वघाति स्पर्धकों (सर्वघाति परमाणुओं) का उदयाभावी क्षय (जो कर्म उदयमें आकर विना फल दिये खिर जांय उसे उदयाभावि क्षय कहते हैं) होजाता है। तथा उन्ही सर्वघाति स्पर्धकोंका सत्तामें उपशम होता है और देशघाति स्पर्धकोंका उदय होता है वहां क्षयोपशम कहलाता है। ऐसी अवस्थामें जो आत्मविशुद्धि होती है उसीका नाम लब्धि है। इसीका संक्षिप्त उपर्युक्त श्लोकमें कहा गया है।

प्रकृतार्थ—

ततः प्रकृतार्थमेवैतद्दिङ्मात्रं ज्ञानमैन्द्रियम् ।
तदर्थार्थस्य सर्वस्य देशमात्रस्य दर्शनात् ॥ ३०३ ॥

अर्थ—ऊपर कही हुई समस्त वातोंका प्रकरणमें यही प्रयोजन है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान दिङ्मात्र होता है। पूरे पदार्थके एक देश मात्रका इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष होता है।

वह ज्ञान खण्डित है—

खण्डितं खण्डशस्तेषामेकैकार्थस्य कर्षणात् ।
प्रत्येकं नियतार्थस्य व्यस्तमात्रे सति क्रमात् ॥ ३०४ ॥

अर्थ—उन सम्पूर्ण पदार्थोंमेंसे एक एक पदार्थके खण्ड २ (अंशमात्र) को जानता है इस लिये वह इन्द्रियजन्य ज्ञान खण्डित-अधूरा भी है। तथा वह भिन्न २ होता है, किसी नियमित वस्तुको भिन्न २ अवस्थामें क्रमसे जानता है।

वह ज्ञान दुःखविशिष्ट भी है—

आस्तामित्यादि दोषाणां सन्निपातास्पदं पदम् ।
ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम् ॥ ३०५ ॥
निष्क्रियस्यात्मनः काचिद्यावदौदयिकी क्रिया ।
अपि देशपरिस्पन्दो नोदयोपाधिना विना ॥ ३०६ ॥

अर्थ—इन्द्रियजन्य ज्ञान उपर्युक्त अनेक दोषोंके समावेशका स्थान तो है ही, साथमें वह आत्मप्रदेशोंकी कंपता (चलपना) को लिये हुए है। और इस क्रियाविहीन आत्माकी जब तक कोई औदयिकी (कर्मोंके उदयसे होने वाली) क्रिया रहती है तभी तक आत्म-प्रदेशोंका हलन चलन होता है। कर्मोंके उदयके विना हलनचलन नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—इन्द्रियजन्य ज्ञान कर्मोदय–उपाधिको लिये हुए है और कर्मोदय–उपाधि दुःखरूप है तथा कर्मबन्धका कारण है इसलिये यह ज्ञान दुःखावह ही है।

कर्मोदय–उपाधि दुःखरूप है—

नासिद्धमुदयोपाधे र्दुःखत्वं कर्मणः फलात् ।
कर्मणो यत्फलं दुःखं प्रसिद्धं परमागमात् ॥ ३०७ ॥

अर्थ—उदयोपाधि दुःखरूप है, यह बात असिद्ध नहीं है । क्योंकि वह कर्मोंके ही फल स्वरूप है । जो कर्मोंका फल होता है वह दुःख रूप होता ही है, यह बात परमागमसे प्रसिद्ध है ।

आत्मा महा दुखी है—

बुद्धिपूर्वकदुःखेषु दृष्टान्ताः सन्ति केचन ।
नाबुद्धिपूर्वके दुःखे ज्ञानमात्रैकगोचरे ॥ ३०८ ॥

अर्थ—दुःख दो प्रकारका होता है—एक बुद्धिपूर्वक, दूसरा अबुद्धिपूर्वक । जो दुःख प्रत्यक्षमें ही मालूम होता है वह दुःख बुद्धिपूर्वक कहलाता है । ऐसे दुःखके अनेक दृष्टान्त हैं। जैसे फोडेकी तकलीफ होना, किसीका किसीको मारना, बीमारी होना आदि, परन्तु अबुद्धि पूर्वक दुःख ज्ञान मात्रके ही गोचर है, उसके दृष्टान्त भी नहीं मिलते ।

भावार्थ—अबुद्धिपूर्वक दुःख ऐसा दुःख नहीं है जैसा कि प्रत्यक्षमें दीखता है, वह एक प्रकारकी भीतरी गहरी चोट है जिसका विवेचन भी नहीं किया जासक्ता । वह ऐसा ही है जैसे कि किसी रोगीको बेहोशीकी दवा सुंघा कर तकलीफ पहुंचाना । बेहोश किये हुए रोगीको तकलीफ तो अवश्य है, परन्तु उसका ज्ञान उसे स्वयं भी नहीं है। इसीलिये इस अबुद्धिपूर्वक दुःखके सभी संसारी जीव दृष्टान्त होने पर भी व्यक्तताका अभाव होनेसे दृष्टान्ता-भाव ही बतलाया है । दोनों दुःखोंके विषयमें आचार्य नीचे कहते हैं—

बुद्धिपूर्वक दुःख—

अस्त्यात्मनो महादुःखं गाढं बद्धस्य कर्मभिः ।
मनःपूर्वं कदाचिद्वै शश्वत्सर्वप्रदेशजम् ॥ ३०९ ॥

अर्थ—कर्मोंसे गाढ़ रीतिसे बंधे हुए इस आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें होने वाला मन पूर्वक दुःख कभी होता है । परंतु कर्मोंकी परतन्त्रतासे इस आत्माको महादुःख संसारी अवस्थामें सदा ही रहा करता है ।

बुद्धिपूर्वक दुःखको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है—

अस्ति स्वस्यानुमेयत्वाद् बुद्धिजं दुःखमात्मनः ।
सिद्धत्वात्साधनेनालं वर्जनीयो वृथा श्रमः ॥ ३१० ॥

अर्थ—आत्माका, जो दुःख बुद्धिपूर्वक होता है वह तो अपने आप ही अनुमान किया जासक्ता है । इसलिये वह सिद्ध ही है, उसके सिद्ध करनेके लिये हेतु देनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि जो बात सुसिद्ध है उसमें परिश्रम करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

अबुद्धि पूर्वक दुःख ही साध्य है—

साध्यं तन्निहितं दुःखं नाम यावदबुद्धिजम् ।
कार्यानुमानतो हेतुर्वाच्यो वा परमागमात् ॥ ३११ ॥

अर्थ—जो छिपा हुआ—अबुद्धिपूर्वक दुःख है वही सिद्ध करने योग्य है। उसकी सिद्धि दो ही प्रकारसे हो सक्ती है, यातो कार्यको देखकर हेतु कहना चाहिये, अथवा परमागमसे उसकी सिद्धि माननी चाहिये।

भावार्थ—किसी अप्रत्यक्ष वस्तुके जाननेके लिये दो ही उपाय हैं। यातो उसका कार्य देख कर उसका अनुमान करना, अथवा आगमप्रमाणसे उसे मानना।

अनुमानमें दृष्टान्त—

अस्ति कार्यानुमानाद्वै कारणानुमितिः क्वचित् ।
दर्शनान्नदपूरस्य देवो वृष्टो यथोपरि ॥ ३१२ ॥

अर्थ—कहीं पर कार्यको देखकर कारणका अनुमान होजाता है। जिस प्रकार किसी नाले (छोटी नदी) के बढे हुए प्रवाहको देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि ऊपरकी ओर मेघ वर्षा हैं। बिना मेघके बरसे नदका प्रवाह नहीं चल सक्ता। इसी प्रकार कार्यसे उसके कारणका अनुमान कर लिया जाता है।

अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्धिका अनुमान—

अस्त्यात्मनो गुणः सौख्यं स्वतःसिद्धमनश्वरम् ।
घातिकर्माभिघातत्वादसद्धाऽदृश्यतां गतम् ॥ ३१३ ॥
सुखस्यादर्शनं कार्यलिङ्गं लिङ्गमिवात्र तत् ।
कारणं तद्विपक्षस्य दुःखस्यानुमितिः सतः ॥ ३१४ ॥

अर्थ—आत्माका सुख गुण स्वाभाविक है, वह स्वतः सिद्ध है और नित्य है, परन्तु घातिया कर्मोंके घातसे नष्टसा होगया है अर्थात् अदृश्य होगया है। वही सुखका अदर्शन (अभाव) कार्य रूप हेतु है। वह हेतु सुखके विपक्षी दुःखका (जो कि आत्मामें मौजूद है) अनुमान कराता है।

भावार्थ—आत्मामें कर्मोंके निमित्तसे सुख गुणका अभाव दीखता है। उस सुख गुणके अभावसे ही अनुमान करलिया जाता है कि आत्मामें दुःख है। क्योंकि सुखका विपक्षी दुःख है। जब सुख नहीं है तब दुःखकी सत्ताका अनुमान कर लिया जाता है। यदि आत्मामें दुःख न होता तो आत्मीक सुख प्रकट होजाता। वह नहीं दीखता इसलिये दुःखका सद्भाव सिद्ध होता है बस यही कार्य—कारणभाव है। सुखका अदर्शन कार्य है उससे दुःखरूप कारणका बोध होता है।

उसीका खुलासा वाक्य—

सर्वसंसारिजीवानामस्ति दुःखमबुद्धिजम् ।
हेतोर्नैसर्गिकस्यात्र सुखस्याभावदर्शनात् ॥ ३१५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवोंके अबुद्धि पूर्वक दुःख है । क्योंकि सुखका अदर्शनरूप स्वाभाविक हेतु दीखता है ।

हेतुकी सिद्धता—

नासौ हेतुरसिद्धोस्ति सिद्धसंदृष्टिदर्शनात् ।
व्याप्तेः सद्भावतो नूनमन्यथानुपपत्तितः ॥ ३१६ ॥

अर्थ—यह उपर्युक्त हेतु असिद्ध नहीं है । इस विषयमें बहुतसे प्रसिद्ध दृष्टान्त मौजूद हैं । सुखका जहां अभाव है वहां दुःख अवश्य है ऐसा फलितार्थ निकालनेमें व्यतिरेक व्याप्तिका सद्भाव है । जहां पर दुःख नहीं है वहां सुखका भी अदर्शन नहीं है जैसे कि अनन्तचतुष्टय धारी अर्हन् सर्वज्ञ । अरहन्त देवके दुःख नहीं है इसलिये अनन्त सुखकी उनके उद्भूति होगई है । यदि ऐसा कार्य—कारण भाव न माना जावै तो व्याप्ति भी नहीं बन सक्ती ।

व्याप्तिमें दृष्टान्त—

व्याप्तिर्यथा विचेष्टस्य मूर्छितस्येव कस्यचित् ।
अदृश्यमपि मद्यादिपानमस्त्यत्र कारणम् ॥ ३१७ ॥

अर्थ—व्याप्ति इस प्रकार है—जैसे किसी मूर्छितकी तरह चेष्टा विहीन पुरुषको देखकर यह अनुमान कर लिया जाता है कि इसने मदिरापान किया है। यद्यपि मदिरा—पान प्रत्यक्ष नहीं है तो भी उसका कार्य बेहोशी देखकर उस मदिरापान—कारणका अनुमान कर लिया जाता है। उसी प्रकार प्रकृतमें जानना ।

व्याप्तिका फल—

अस्ति संसारिजीवस्य नूनं दुःखमबुद्धिजम् ।
सुखस्यादर्शनं स्वस्य सर्वतः कथमन्यथा ॥ ३१८ ॥

अर्थ—संसारी जीवके निश्चयसे अबुद्धि पूर्वक दुःख है । यदि दुःख नहीं होता तो उसके (आत्मीक) सुखका सर्वथा अदर्शन कैसे होजाता ।

ततोनुमीयते दुःखमस्ति नूनमबुद्धिजम् ।
अवश्यं कर्मबद्धस्य नैरन्तर्योदयादितः ॥ ३१९ ॥

अर्थ—इस कर्मसे बंधे हुए आत्माके निरन्तर कर्मोंका उदय, उदीरणा आदि होनेसे निश्चय पूर्वक अबुद्धि पूर्वक दुःख है ऐसा अनुमान होता है ।

अबुद्धि पूर्वक दुःख अवाच्य नहीं है—

नाऽवाच्यता यथोक्तस्य दुःखजातस्य साधनं ।
अर्थादबुद्धिमात्रस्य हेतोरौदयिकत्वतः ॥ ३२०॥

अर्थ—ऊपर जो अबुद्धिसे होने वाला दुःखसमूह बतलाया गया है, उसके सिद्ध करनेमें अवाच्यता नहीं है अर्थात् ऐसा नहीं है कि वह किसी प्रकार कहा ही न जासके। अबुद्धिपूर्वक दुःखका हेतु कर्मोंका उदय होना ही है। कर्मोंका उदय ही बतलाता है कि इस आत्मामें दुःख है।

शङ्काकार—

तद्यथा कश्चिदत्राह नास्ति बद्धस्य तत्सुखम् ।
यत्सुखं स्वात्मनस्तत्त्वं मूर्छितं कर्मभिर्बलात् ॥ ३२१ ॥
अस्त्यनिष्टार्थसंयोगाच्छारीरं दुःखमात्मनः ।
ऐन्द्रियं बुद्धिजं नाम प्रसिद्धं जगति स्फुटम् ॥ ३२२ ॥
मनोदेहेन्द्रियादिभ्यः पृथग् दुःखं न बुद्धिजम् ।
यद्ग्राहकप्रमाणस्य शून्यत्वाद् व्योमपुष्पवत् ॥ ३२३ ॥
साध्ये वाऽबुद्धिजे दुःखे साधनं तत्सुखक्षतिः ।
हेत्वाभासः स व्याप्यत्वासिद्धो व्याप्तेरसंभवात् ॥ ३२४ ॥

अर्थ—कोई शङ्काकार कहता है कि जो सुख आत्मीक तत्त्व है वह सुख कर्मसे बँधे हुए आत्मामें नहीं है। कर्मोंने बलपूर्वक उसे मूर्च्छित किया है और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेसे आत्माको शारीरिक दुःख होता है। तथा इन्द्रियजन्य भी दुःख होता है। बस शारीरिक और ऐन्द्रियिक ये ही बुद्धिपूर्वक दुःख जगतमें प्रसिद्ध हैं। मन, देह, इन्द्रिय इनसे भिन्न और कोई बुद्धिपूर्वक दुःख नहीं है। इस विषयमें कोई प्रमाण नहीं है कि और भी दुःख है। जैसे आकाशके पुष्प नहीं है वैसे ही अन्य दुःख नहीं हैं। आपने जो अबुद्धिपूर्वक दुःख सिद्ध करनेके लिये सुखाभाव हेतु दिया है, वह यथार्थ हेतु नहीं है किन्तु हेत्वाभास है। (हेत्वाभास झूंठे हेतुको कहते है जो साध्यको सिद्ध नहीं कर सकै) यहां पर व्याप्यत्वासिद्ध नामका हेत्वाभास है। क्योंकि सुखाभावकी अबुद्धिपूर्वक दुःखके साथ व्याप्ति नहीं है। साध्य साधनमें व्याप्य व्यापक हुआ करता है। जिस हेतुमें साध्यकी व्याप्यता न होवै उसीका नाम व्याप्यत्वासिद्ध है। ऐसा हेतु साध्यको सिद्ध नहीं कर सक्ता है ?

उत्तर—

नैवं यत्तद्विपक्षस्य व्याप्तिर्दुःखस्य साधने ।
कर्मणस्तद्विपक्षत्वं सिद्धं न्यायात्कुतोन्यथा ॥ ३२५ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि दुःखके सिद्ध करनेमें सुखके विपक्षकी व्याप्ति है। जो सुखका विपक्षी है वही दुःखका साधक है और सुखका विपक्ष कर्म है। यह बात न्यायसे भली भांति सिद्ध है।

विरुद्धधर्मयोरेव वैपक्ष्यं नाऽविरुद्धयोः।
शीतोष्णधर्मयोर्वैरं न तत्क्षारद्रवत्वयोः ॥ ३२६ ॥

अर्थ—जिनका विरोधी धर्म है उन्हींकी विपक्षता होती है, जो अविरोधी धर्म वाले हैं उनकी विपक्षता नहीं होती। शीत और उष्ण धर्मवालों (जल और अग्नि) का ही वैर है। खारापन और पतलापन, इनका परस्पर कोई वैर नहीं है। (क्योंकि समुद्रमें दोनों चीजें मौजूद हैं।)

सुखगुण क्या वस्तु है।

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योपजीविनी।
तद्विरुद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः ॥ ३२७ ॥

अर्थ—आकुलता रहित जीवकी एक शक्तिका नाम सुख है वह सुख नामकी शक्ति द्रव्योपजीवी है। उसीकी विरोधिनी आकुलता है, और वह आकुलता घातिया कर्मोंकी शक्ति हैं।

भावार्थ—कोई कोई ऐसा भी समझे हुए हैं कि सुख और कोई चीज नहीं है, घातियां कर्मोंके अभावसे होने वाली जो निशकुलता है वही सुख है किन्तु ऐसा नहीं है। निराकुलता तो आकुलताके अभावको कहते हैं। अभाव कोई वस्तु नहीं है परन्तु सुख गुण आत्माकी एक भाव रूप शक्ति है। वह ऐसी ही है जैसी कि ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति आदि शक्तियां हैं। भावरूप शक्तिका नाम ही द्रव्योपजीविनी शक्ति है और अभावरूप धर्मको प्रतिजीवी गुण कहते हैं। सुख गुणके प्रगट होनेपर आकुलता नहीं रहती है, परन्तु आकुलताका न होना ही सुख गुण नहीं है। वह एक स्वतन्त्र गुण है। उस गुणका घातक कोई खास कर्म नहीं है। किन्तु चारों ही घातिया कर्म मिलकर उसका घात करते हैं। इसी लिये तेरहवें गुणस्थानके प्रारंभमें अथवा बारहवें गुणस्थानके अन्तमें जहां पर घातिया कर्मोंका सर्वथा नाश होजाता है वहीं अनन्त सुखगुण अनन्त चतुष्टयधारी श्री अरहन्त देवके प्रगट होजाता है। इस कथनसे यह बात भी सिद्ध होजाती है कि जिन२ गुणस्थानोंमें उन घातिया कर्मोंका जितना २ क्षय होता जाता है उन२ गुणस्थानोंमें उतना उतना ही सुख गुणका अंश प्रकट होता जाता है। अतएव चौथे गुणस्थानमें भी किञ्चिन्मात्र उस दिव्य—अलौकिक—परमस्वादु—अनुपम सुखकी झलक मिलजाती है।

घातिकर्मकी शक्ति—

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात् ।
अन्यथाऽऽत्मतया शक्ते र्बाधकं कर्म तत्कथम् ॥ ३२८ ॥

अर्थ—सुख गुणके अभावमें होनेवाली जो आकुलता है, वह घातिया कर्मोंकी शक्ति है, यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि कर्मोंका फल दीखता है । यदि वह कर्म–शक्ति नहीं है तो आत्माकी शक्तिका बाधक कर्म कैसे होता है ?

सारांश—

नयात्सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पवत् ।
आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात् ॥ ३२९ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात न्यायसे सिद्ध होचुकी कि कर्मसे बँधे हुए आत्माके जब तक कर्मोंका उदय होरहा है तब तक उसके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें कम्प (कँपानेवाला) करनेवाला दुःख है।

दृष्टान्त—

देशतोस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः ।
व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थः स्वाधिकारप्रमत्तवान् ॥ ३३० ॥

अर्थ—यहां पर एक देश दृष्टान्त भी है—वायुसे ताडित (प्रेरित) समुद्र व्याकुल होता है । जब वायुसे रहित स्वाधिकारी समुद्र है तब व्याकुलता रहित है, स्वस्थ है ।

यहां पर ' स्वाधिकारप्रमत्तवान् ' यह समुद्रका विशेषण तीन प्रकारसे लगाया जासक्ता है । जिस समय समुद्रस्वाधिकारमें प्रमादी है उस समय वह व्याकुल है । ऐसा भी अर्थ होसक्ता है । दूसरा ऐसा भी अर्थ होसक्ता है कि स्वाधिकार अवस्थामें वह अव्याकुल है और प्रमत्त अवस्थामें व्याकुल है । तीसरा–स्वाधिकारमें ही जिस समय लीन है तब वह अव्याकुल है । तात्पर्य सबतरह स्पष्ट है ।

शङ्काकार—

न च वाच्यं सुखं शश्वद्विद्यमानमिवास्ति तत् ।
बद्धस्याथाप्यबद्धस्य हेतोस्तच्छक्तिमात्रतः ॥ ३३१ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहे कि सुख सदा विद्यमान ही रहता है । चाहे आत्मा कर्मोंसे बँधा हो, चाहे न बँधा हो । क्योंकि सुख आत्माकी शक्तिका नाम है । शक्ति नित्य रहने वाला पदार्थ है । इस लिये सुख मौजूदकी तरह ही समझना चाहिये ? शंकाकारका ऐसा कहना ठीक नहीं हैं इसमें अनेक दोष आते हैं, वे नीचे दिखाये जाते हैं–

अत्र दोषावतारस्य युक्तिः प्रागेव दर्शिता ।
यथा स्वस्थस्य जीवस्य व्याकुलत्वं कुतोर्थतः ॥ ३३२ ॥

अर्थ—यदि सुख गुण सदा विद्यमान ही माना जावै तो अवश्य दोष आते हैं। जो दोष आते हैं उनकी युक्ति पहले ही कही जाचुकी है। जो स्वस्थ जीव है उसके वास्तवमें व्याकुलता कहां हो सक्ती है ? और संसारी जीवके व्याकुलता है, इस लिये जाना जाता है कि सुखका अभाव है।

उसीकी दूसरी शंका—

नचैकतः सुखव्यक्तिरेकतो दुःखमस्ति तत् ।
एकस्यैकपदे सिद्धमित्यनेकान्तवादिनाम् ॥ ३३३ ॥

अर्थ—अनेकान्तवादी (जैन) एक पदार्थमें एक ही स्थानमें दो धर्म मान लेते है, इस-लिये एक आत्मामें ही सुख व्यक्ति और उसीमें दुःख व्यक्ति मानलेना चाहिये अर्थात् एक ही आत्मामें एक समयमें सुख और दुःख दोनों मानना चाहिये। ऐसा माननेसे जैनियोंका अनेकान्तवाद भी घट जाता है ? सो यह कहना भी असमझका है।

अनेकान्तका स्वरूप—

अनेकान्तः प्रमाणं स्यादर्थादेकत्र वस्तुनि ।
गुणपर्याययोर्द्वैताद् गुणमुख्यव्यवस्थया ॥ ३३४ ॥

अर्थ—एक वस्तुमें होनेवाला जो अनेकान्त है वह प्रमाण अवश्य है, परन्तु सब जगह नहीं। जहां पर गुण, पर्यायके कथनमें एकको मुख्य कर दिया जाता है और दूसरेको उस समय गौण कर दिया जाता है, वहीं पर अनेकान्त प्रमाण है और वहीं पर द्वैत घटता है।

अभिव्यक्तिस्तु पर्यायरूपा स्यात्सुखदुःखयोः ।
तदात्वे तन्न तद्द्वैतं द्वैतं चेद्द्रव्यतः क्वचित् ॥ ३३५ ॥

अर्थ—परन्तु सुख, दुःखकी व्यक्ति (प्रगटता) तो पर्याय स्वरूप है। ऐसी अवस्थामें द्वैत नहीं घट सक्ता। द्वैत यदि कहीं पर होगा तो द्रव्यकी उपेक्षासे ही होगा।

भावार्थ—ऊपर दो प्रकारकी शंङ्कायें उठाई गई हैं, उनमें पहली तो यह थी कि सुख सदा ही रहता है ? इसका यह उत्तर दे दिया गया कि यदि सुख सदा ही रहता है तो जीव व्याकुल क्यों होता है ? सुख गुणकी प्रगटतामें व्याकुलता नहीं रह सक्ती। इसलिये सुख सदा प्रगट नहीं रहता।

दूसरी शङ्का इस प्रकार थी की-एक आत्मामें सुख और दुःख थोडा २ दोनों ही साथ मानो ? और यही अनेकान्त है ? इसका यह उत्तर है कि एक पदार्थमें दो धर्म एक साथ अवश्य रहते हैं। परन्तु रहते वे ही हैं जिनमें एकके कथनमें मुख्यता पाई जाती है और दूसरेकेमें गौणता, तथा यह बात वहीं घट सक्ती हैं जहां कि एक ही द्रव्यमें गुण और पर्यायोंका कथन किया जाता हैं। सुखदुःख दोनों एक साथ कभी नहीं रह सक्ते। क्योंकि इनकी

प्रगटता पर्यायकी अपेक्षासे है । एक समयमें एक ही पर्याय होसक्ती है दो नहीं । ये दोनों ही एक (सुख) गुणकी पर्यायें हैं । दुःख वैभाविक पर्याय है और सुख स्वाभाविक है । स्वाभाविक और वैभाविक पर्यायें क्रमसे ही होती हैं । इस लिये एक समयमें सुख और दुःख बतलाना ठीक नहीं है ।

सारांश—

बहु प्रलपनेनालं साध्यं खिद्धं प्रमाणतः ।
सिद्धं जैनागमाच्चापि स्वतः सिद्धो यथागमः ॥ ३३६ ॥

अर्थ—अब अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन ! हमारा साध्य " कर्मबद्ध आत्मा दुःखी है " अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हो चुका, और जैनागमसे भी आत्मामें दुःखकी सत्ता सिद्ध हो चुकी । तथा आगममें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है, आगम स्वयं प्रमाणरूप है ।

आगमकथन—

एतत्सर्वज्ञवचनमाज्ञामात्रं तदागमः ।
यावत्कर्मफलं दुःखं पच्यमानं रसोन्मुखम् ॥ ३३७ ॥

अर्थ—सर्वज्ञदेवके वचनोंको आज्ञारूप समझना चाहिये, बस उसीका नाम आगम है। सर्वज्ञके ये वचन हैं कि पके हुए कर्मोंका उदयावस्थापन्न जो फल है वही दुःख है, अर्थात् जितना भी कर्मफल है वह सभी दुःख है ।

दृष्टान्त—

अभिज्ञानं यदत्रैतज्जीवाः कार्मणकायकाः ।
आ एकाक्षादापञ्चाक्षा अप्यन्ये दुःखिनोमताः ॥ ३३८ ॥

अर्थ—जितने भी एकेन्द्रियसे आदि लेकर पञ्चेन्द्रिय तक जीव हैं वे सब कार्माण काय वाले हैं अर्थात् सभी कर्म वाले हैं । इस लिये सभी दुःखी माने गये हैं तथा और भी जो (विग्रह गतिमें रहने वाले) कर्म बद्ध हैं वे सब दुःखी माने गये हैं ।

दुःख कारण—

तत्राभिव्यञ्जको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम् ।
घातिकर्मोदयाघाताज्जीवदेशवधात्मकम् ॥ ३३९ ॥

अर्थ—घातिया कर्मोंके उदयके आघातसे आत्माके प्रदेशोंका घात करनेवाला जो कर्म है वही दुःखका सूचक है, अर्थात् घाति कर्मका उदय ही दुःखावह है ।

अन्यथा न गतिः साध्वी दोषाणां सन्निपाततः ।
संज्ञिनां दुःखमेवैकं दुःखं नाऽसंज्ञिनामिति ॥ ३४० ॥

अर्थ—यदि कर्मोंको दुःखका कारण न माना जाय तो दुःखोंके कारणोंका और कोई

उपाय ही नहीं है क्योंकि कर्मोंको दुःखका कारण न माननेसे अनेक दोष आते हैं, यदि केवल संज्ञी जीवोंके ही दुःख होता है, असंज्ञी जीवोंके नहीं ऐसा कहाजाय ?

और भी—

महच्चेत्संज्ञिनां दुःखं स्वल्पं चाऽसंज्ञिनां न वा ।
यतो नीचपदादुच्चैः पदं श्रेयस्तथामतम् ॥ ३४१ ॥

अर्थ—अथवा यह कहा जाय कि बहुत भारी दुःख संज्ञियोंके ही होता है और थोडा असंज्ञियोंके होता है ? तोभी यह सब कथन ठीक नहीं है । क्योंकि नीच स्थानसे उच्चस्थान सदा अच्छा माना गया है ।

भावार्थ—संज्ञी और असंज्ञी जीवोंमें संज्ञियोंका दर्जा कई गुणा उत्तम है । इसलिये एक प्रकारसे नीचे ही दुःख अधिक होना चाहिये । और प्रत्यक्ष भी देखते हैं कि एकेन्द्रिय जीवोंमें ज्ञानकी कितनी हीनता है, उनको अपनी सत्ताका पता भी नहीं होपाता । क्या उन्हें अज्ञताजन्य कम दुःख है ? वही उनको अनन्त काल तक भटकानेवाले कर्मबन्धका कारण है ।

यदि यह कहाजाय—

न च वाच्यं शरीरं च स्पर्शनादीन्द्रियाणि च ।
सन्ति सूक्ष्मेषु जीवेषु तत्फलं दुःखमङ्गिनाम् ॥ ३४२ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जाय कि एकेन्द्रियादिक सूक्ष्म जीवोंके भी शरीर और स्पर्शनादिक इन्द्रियां हैं । इसलिये उनको भी शारीरिक और ऐन्द्रियिक दुःख ही उठाना पड़ता है ? सो यह कहना भी ठीक नहीं है । क्योंकि—

दोषापत्ति—

अव्याप्तिः कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति ।
देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात् ॥ ३४३ ॥

अर्थ—यदि शारिरिक और इन्द्रियजन्य ही दुःख माना जावे, और कोई दुःख (कर्मजन्य) न माना जावे तो जो जीव विग्रहगतिमें हैं, जहां केवल कार्माण अवस्था है; शरीर, इन्द्रियादि (के कारण)नोकर्म नहीं है, वहां दुःख है या नहीं ?

भावार्थ—विग्रह गतिमें संसारावस्था होनेसे दुःख तो है परन्तु शरीर, इन्द्रियादिक नहीं है । जो लोग केवल शारीरिक और ऐन्द्रियिक (मानसिक) दुःख ही मानते हैं उनके कथनमें अव्याप्ति दोष दिया गया है ।

यदि यह कहा जाय—

अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः ।
दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम् ॥ ३४४ ॥

अर्थ—यदि यह कहाजाय कि विग्रहगतिमें भी कर्मका समूह रूप कार्माण शरीर है। इसलिये शरीरजन्य दुःख वहां भी है ? तो इस कथनसे कर्मजन्य दुःख ही सिद्ध हुआ। इसलिये कर्म ही दुःख देनेवाला है यह बात भली भांति सिद्ध हो गई।

वास्तविक सुख कहांपर है ?

अपि सिद्धं सुखं नाम यदनाकुललक्षणम् ।
सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तौ चिदात्मनः ॥ ३४५ ॥

अर्थ—तथा यह बात भी सिद्ध हो चुकी कि सुख वही है जो अनाकुल लक्षणवाला है, और वह निराकुल सुख इस जीवात्माके कर्म और नोकर्मके छूट जानेपर (सिद्धावस्थामें) होता है। (यहांपर नो-कर्म शब्दसे कर्म और नोकर्म दोनोंका ग्रहण है।)

शङ्काकार—

ननु देहेन्द्रियाभावः प्रसिद्धः परमात्मनि ।
तदभावे सुखं ज्ञानं सिद्धिमुन्नीयत कथम् ॥ ३४६ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि परमात्मामें शरीर और इन्द्रियोंका अभाव है, यह बात प्रसिद्ध है। परन्तु बिना इन्द्रिय और शरीरके सुख और ज्ञान किस प्रकार भली भांति सिद्धिको प्राप्त होते हैं ?

भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय शारीरिक और ऐन्द्रियिक सुख, ज्ञानसे है। उसकी दृष्टिमें शरीर और इन्द्रियोंके बिना सुख और ज्ञान होते ही नहीं।

उत्तर—

न यद्यतः प्रमाणं स्यात् साधने ज्ञानसौख्ययोः ।
अत्यक्षस्याशरीरस्य हेतोः सिद्धस्य साधनम् ॥ ३४७ ॥

अर्थ—शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान और सुखके सिद्ध करनेमें इन्द्रिय और शरीर प्रमाण नहीं है किन्तु प्रसिद्ध अतीन्द्रिय और अशरीर ही हेतु उनकी सिद्धिमें साधन है।

सिद्धि प्रयोग—

अस्ति शुद्धं सुखं ज्ञानं सर्वतः कस्यचिद्यथा ।
देशतोप्यस्मदादीनां स्वादुमात्रं वत द्वयोः ॥ ३४८ ॥

अर्थ—शुद्ध ज्ञान और शुद्ध सुख (आत्मीक)का थोड़ासा स्वाद हमलोगोंमें भी किसी किसीके पाया जाता है, इससे जाना जाता है कि किसीके शुद्ध ज्ञान और सुख सम्पूर्णतासे भी है।

ज्ञान और आनन्द आत्माके गुण हैं—

ज्ञानानन्दौ चितो धर्मौ नित्यौ द्रव्योपजीविनौ ।
देहेन्द्रियाद्यभावेपि नाभावस्तद्द्वयोरिति ॥ ३४९ ॥

अर्थ—ज्ञान और आनन्द (सुख) ये दोनों ही आत्माके धर्म हैं, वे नित्य हैं और द्रव्योपजीवी (भावात्मक) गुण हैं। इसलिये शरीर और इन्द्रियोंके अभावमें भी उनका अभाव नहीं हो सक्ता (प्रत्युत वृद्धि होती है)

गुणपनेकी सिद्धि—

सिद्धं धर्मत्वमानन्दज्ञानयोर्गुणलक्षणात् ।
यतस्तत्राप्यवस्थायां किञ्चिद्देहेन्द्रियं विना ॥ ३५० ॥

अर्थ—ज्ञान और आनंद आत्माके धर्म हैं, यह बात सिद्ध है, क्योंकि गुणका लक्षण इनमें मौजूद है, तथा शरीर और इन्द्रियोंके बिना भी ये पाये जाते हैं।

भावार्थ—गुणका लक्षण यही है कि अनुवर्तिनो गुणाः, जो सदा साथ रहें वे गुण हैं। ज्ञान और आनन्द दोनों ही शरीर, इन्द्रिय रहित अवस्थामें भी आत्माके साथ पाये जाते हैं। इसलिये ये आत्माके ही धर्म हैं।

ज्ञानादिका उपादान आत्मा ही है—

मतिज्ञानादिवेलायामात्मोपादानकारणम् ।
देहेन्द्रियास्तदर्थाश्च बाह्यं हेतुरहेतुवत् ॥ ३५१ ॥

अर्थ—मतिज्ञान आदिके समय जो शरीर, इन्द्रियां और उनके विषयभूत—पदार्थ कारण हैं वे केवल बाह्य हेतु हैं, इसलिये अहेतुके ही समान हैं। ज्ञानादिकमें अन्तरंग—उपादान हेतु तो आत्मा ही है, इसलिये आत्माके ही ज्ञान, सुख धर्म हैं।

आत्मा स्वयं ज्ञानादि स्वरूप है—

संसारे वा विमुक्तौ वा जीवो ज्ञानादिलक्षणः ।
स्वयमात्मा भवत्येष ज्ञानं वा सौख्यमेव वा ॥ ३५२ ॥

अर्थ—आत्मा चाहे संसारमें हो, चाहे मुक्तिमें हो, कहीं भी क्यों न हो, सदा ज्ञान, सुख, दर्शन, वीर्य आदि लक्षणोंवाला है। स्वयं आत्मा ही ज्ञानरूप होजाता है और स्वयं ही सुखमय होजाता है।

स्पर्शादिक केवल निमित्त मात्र हैं—

स्पर्शादीन् प्राप्य जीवश्च स्वयं ज्ञानं सुखं च तत् ।
अर्थाः स्पर्शादयस्तत्र किं करिष्यन्ति ते जडाः ॥ ३५३ ॥

अर्थ—स्पर्शादि विषयोंको प्राप्त होकर यह जीव ही स्वयं ज्ञान और सुख मय होजाता है। उस ज्ञान और सुखके विषयमें ये स्पर्शादिक पदार्थ—जड़ बिचारे क्या कर सक्के हैं।

जड़ पदार्थ ज्ञानके उत्पादक नहीं हैं—

अर्थाः स्पर्शादयः स्वैरं ज्ञानमुत्पादयन्ति चेत् ।
घटादौ ज्ञानशून्ये च तत्किं नोत्पादयन्ति ते ॥ ३५४ ॥

अर्थ—यदि स्पर्शादिक अचेतन पदार्थ ही स्वयं ज्ञानको पैदा करदेवें तो ज्ञानशून्य घटादिक पदार्थोंमें क्यों नहीं उत्पन्न करते ? अर्थात् आत्मामें ही ज्ञान क्यों होता है ? *

अथ चेच्चेतने द्रव्ये ज्ञानस्योत्पादकाः क्वचित् ।
चेतनत्वात्स्वयं तस्य किं तत्रोत्पादयन्ति वा ॥ ३५५ ॥

अर्थ—यदि यह कहा जावे कि स्पर्शादिक ज्ञानको पैदा करते हैं, परन्तु चेतन द्रव्यमें ही पैदा करते हैं ? तो चेतन द्रव्य तो स्वयं ज्ञान रूप है, वहां उन्होंने पैदा क्या किया ?

सारांश—

ततः सिद्धं शरीरस्य पञ्चाक्षाणां तदर्थसात् ।
अस्त्यकिञ्चित्करत्वं तच्चितो ज्ञानं सुखम्प्रति ॥ ३५६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध होगई कि शरीर और पांचों ही इन्द्रियां आत्माके ज्ञान और सुखके प्रति सर्वथा अकिञ्चित्कर हैं, अर्थात् कुछ नहीं कर सक्के।

पुनः शङ्काकार—

ननु देहेन्द्रियार्थेषु सत्सु ज्ञानं सुखं नृणाम् ।
असत्सु न सुखं ज्ञानं तदकिञ्चित्करं कथम् ॥ ३५७ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि मनुष्योंके शरीर इन्द्रिय और पदार्थके रहते हुए ही ज्ञान और सुख होता है। विना शरीरादिकके ज्ञान और सुख नहीं होता। फिर शरीर, इन्द्रिय और पदार्थ, ज्ञान और सुखके प्रति अकिञ्चित्कर (कुछ भी नहीं करने वाले) क्यों हैं ?

उत्तर—

नैवं यतोन्वयापेक्षे व्यञ्जके हेतुदर्शनात् ।
कार्याभिव्यञ्जकः कोपि साधनं न विनान्वयम् ॥ ३५८ ॥

शङ्काकारका उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि शरीरादिकको जो ज्ञानादिकके

* बौद्ध सिद्धान्त ज्ञानोत्पत्तिमें पदार्थको ही कारण मानता है, उसीका खण्डन इस श्लोकद्वारा किया गया है। कोई२ तो जड़ पदार्थको ही ज्ञानोत्पादक मानते हैं उनका भी खण्डन समझना चाहिये।

प्रति हेतु बतलाया जाता है वह अन्वयकी अपेक्षा रखने वाले व्यञ्जककी अपेक्षासे हैं। कार्यका जतलाने वाला कोई भी साधन विना अन्वयके नहीं हो सक्ता।

भावार्थ—शरीरादिक ज्ञानसुखको जतलाते हैं इसलिये वे ज्ञान सुखके प्रति व्यञ्जक हेतु हैं। परन्तु वे तभी जतलासक्ते हैं जब कि मूलमें आत्माका अन्वय (सम्बन्ध) हो। विना आत्माके वे शरीरादिक ज्ञान सुखको कहीं घट पटमें तो जतलावें ? इस लिये शरीरादिक आत्मामें ही ज्ञान सुखको जतला सक्ते हैं क्योंकि ज्ञान सुख आत्माके ही गुण हैं। जिस प्रकार दीपक पदार्थोंका व्यञ्जक है परन्तु वह पदार्थोंको तभी जतला सकता है जबकि पदार्थ मौजूद हों, विना पदार्थोंके रहते हुए कोई भी दीपक पदार्थोंको नहीं दिखा सक्ता। इसलिये कार्यको बतलाने वाला कोई भी व्यञ्जक साधन बिना मूलके कुछ नहीं कर सक्ता।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तोऽगुरुगन्धस्य व्यञ्जकः पावको भवेत्।
न स्याद्विनाऽगुरुद्रव्यं गन्धस्तत्पावकस्य सः ॥ ३५९ ॥

अर्थ—दृष्टान्तके लिये अग्नि है—अग्नि अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थोंकी व्यञ्जक (विदित करानेवाली) है। परन्तु वह सुगन्धित गन्ध, विना अगुरु द्रव्यके अग्निकी नहीं हो सक्ती। अगुरु द्रव्यके रहते हुए ही अग्नि उसकी सुगन्धिको विदित करा देती है।

दार्ष्टान्त—

तथा देहेन्द्रियं चार्थाः सन्त्यभिव्यञ्जकाः क्वचित्।
ज्ञानस्य तथा सौख्यस्य न स्वयं चित्सुखात्मकाः ॥ ३६० ॥

अर्थ—इसी प्रकार (आत्माके रहते हुए ही) देह, इन्द्रिय और पदार्थ कहीं ज्ञान और सुखके व्यञ्जक (विदित करानेवाले) हैं। परन्तु देहादिक स्वयं ज्ञान, सुख स्वरूप नहीं हैं। ऐसा तो एक आत्मा ही है।

उपादानके अभावमें व्यञ्जक कुछ नहीं करसक्ता—

नाप्युपादानशून्येपि स्यादभिव्यञ्जकात्सुखम्।
ज्ञानं वा तत्र सर्वत्र हेतुशून्यानुषङ्गतः ॥ ३६१ ॥

अर्थ—उपादान शून्यतामें व्यञ्जक मात्रसे सुख अथवा ज्ञान नहीं होसक्ते। यदि विना उपादानके भी सुख अथवा ज्ञान हो जायं तो सर्वत्र हेतुशून्यताका प्रसङ्ग होगा अर्थात् फिर हेतुके बिना भी कार्य होने लगेगा। बिना पदार्थके रहते हुए भी दीपक पदार्थका प्रकाश कर देगा। इसलिये उपादान कारण—आत्माके रहते हुए ही ज्ञान, सुख हो सक्ते हैं।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धं गुणो ज्ञानं सौख्यं जीवस्य वा पुनः ।
संसारे वा प्रमुक्तौ वा गुणानामनतिक्रमात् ॥ ३६२ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान और सुख जीवके ही गुण हैं । चाहे वह जीव संसारमें हो, चाहे मुक्तिमें हो, गुणोंका उलंघन कहीं नहीं होता ।

ज्ञानसुखकी पूर्णता मुक्तिमें है—

किञ्च साधारणं ज्ञानं सुखं संसारपर्यये ।
तन्निरावरणं मुक्तौ ज्ञानं वा सुखमात्मनः ॥ ३६३ ॥

अर्थ—संसार पर्यायमें आत्माके साधारण ज्ञान और सुख होते हैं और मुक्ति होने पर उसी आत्माके निरावरण सुख और ज्ञान होते हैं ।

कर्मोंका नाश होनेसे गुण निर्मल होते हैं—

कर्मणां विप्रमुक्तौ तु नूनं नात्मगुणक्षतिः ।
प्रत्युतातीव नैर्मल्यं पङ्कापाये जलादिवत् ॥ ३६४ ॥

अर्थ—कर्मोंके नाश होने पर निश्चयसे आत्माके गुणोंकी क्षति (हानि) नहीं है । उल्टी निर्मलता आती है । जिस प्रकार कीचड़के दूर होने पर जल आदिकमें निर्मलता आजाती है । (कर्म आत्मामें कीचड़की तरह समझने चाहिये) ।

कर्मके नाश होनेसे विकार भी दूर होजाता है—

अस्ति कर्ममलापाये विकारक्षतिरात्मनः ।
विकारः कर्मजो भावः कादाचित्कः सपर्ययः ॥ ३६५ ॥

अर्थ—कर्म रूपी मलके नाश होने पर आत्मामें होने वाले विकारका नाश हो जाता है । क्योंकि विकार कर्मसे होनेवाला परिणाम है । वह सदा नहीं रहता कदाचित् होता है इसलिये वह गुण नहीं है पर्याय है ।

गुणका नाश कभी नहीं होता—

नष्टे चाशुद्धपर्याये मा भूद्भ्रान्तिर्गुणव्यये ।
ज्ञानानन्दत्वमस्योच्चैर्नित्यत्वात्परमात्मनि ॥ ३६६ ॥

अर्थ—आत्माकी अशुद्ध पर्यायके नाश होने पर उसके नाशका भ्रम नहीं करना चाहिये क्योंकि ज्ञान और सुख इस आत्माके नित्य गुण हैं, वे परमात्मामें पूर्णतासे रहते हैं।

दृष्टान्त—

दृषदादिमलापाये यथा पावकयोगतः ।
पीतत्वादिगुणाभावो न स्यात्कार्तस्वरोस्ति चेत् ॥ ३६७ ॥

अर्थ—यदि वह वास्तवमें सोना है तो अग्निके निमित्तसे पाषाण (किट्टिकालिमा) आदि मलके दूर होने पर सोनेके पीतत्वादि गुणोंका नाश कभी नहीं होता।

भावार्थ—सोनेका पीला गुण नित्य है उसका नाश कभी नहीं होता। परन्तु उस सोनेमें जो मल है वह उसका निजी गुण नहीं है इसलिये वह अग्नि द्वारा दूर किया जाता है। इसी प्रकार आत्माके ज्ञान, सुख गुण हैं। वे नित्य हैं, परन्तु कर्म मल उसके निजी नहीं हैं उनका नाश होजाता है।

नैयायिक मतके अनुसार मोक्षका स्वरूप—

एकविंशतिदुःखानां मोक्षो निर्मोक्षलक्षणः।
इत्येके तदसज्जीवगुणानां शून्यसाधनात् ॥ ३६८ ॥

अर्थ—"एकविंशतिदुःखध्वंसो मोक्षः" इस गौतमसूत्रके अनुसार नैयायिक लोग कहते हैं कि ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इक्कीस दुःखोंका नाश होना ही मोक्ष है। यह उनका कहना ठीक नहीं है ऐसे कथनसे जीवके गुणोंकी शून्यता सिद्ध होती है।

भावार्थ—नैयायिक दर्शनवाले मुक्तात्माको ज्ञान, सुखादिकसे रहित जड़वत् मानते हैं ऐसा उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। मोक्ष सुखका स्थान है या आत्माकी ज्ञानादिक निजी सम्पत्तिका अभाव होनेसे महा दुःखका स्थान है? जब मोक्षमें सुख गुण ही नष्ट हो जाता है तो फिर ऐसे मोक्षका प्रयत्न क्यों किया जाता है? इससे तो संसार ही अच्छा, जहां पर दुःख भले ही हो परन्तु निज गुणका नाश तो नहीं होता। इसलिये नैयायिक सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। कहीं आत्माके गुणोंका भी नाश होता है? वह वास्तवमें नैयायिक (न्याय जाननेवाला) ही नहीं है। क्योंकि वह स्वयं अपने दर्शनमें यह बात मानता है कि " समवाय सम्बन्ध गुण गुणीमें होता है और वह नित्य होता है।" जब वह नित्य है तब मोक्षमें गुण नाश कैसा? क्या नैयायिक दर्शन ऐसे स्थलमें स्वागम बाधित नहीं होता? इस लिये मोक्षका लक्षण जैनसिद्धान्तानुसार "कर्मोंके सर्वथा नाशसे आत्मीक गुणोंका प्रकट होना ही मोक्ष है" यही ठीक है।

निजगुणका विकाश दुःखका कारण नहीं है—

न स्यान्निजगुणव्यक्तिरात्मनो दुःखसाधनम्।
सुखस्य मूलतो नाशादतिदुःखानुषङ्गतः ॥ ३६९ ॥

अर्थ—आत्मामें निज गुणोंका प्रकट होना दुःखका साधन कभी नहीं हो सक्ता। जहां पर सुखका जड़ मूलसे नाश माना जाता है, वहां अति दुःखका प्रसंग अवश्य होगा।

भावार्थ—सुख और दुःख दोनों प्रतिपक्षी हैं। एक समयमें सुख और दुःखमेंसे एक

कोई आत्मामें अवश्य रहेगा । जब मोक्षमें सुखका नाश होजाता है तो दुःखका सद्भाव अवश्यंभावी है । ऐसी अवस्थामें नैयायिककी मानी हुई मोक्ष दुःखोत्पादक ही होगी ।

सारांश—

निश्चितं ज्ञानरूपस्य सुखरूपस्य वा पुनः ।
देहेन्द्रियैर्विनापि स्तो ज्ञानानन्दौ परात्मनः ॥ ३७० ॥

अर्थ—ज्ञान स्वरूप और सुखस्वरूप परमात्मा है उसके शरीर और इन्द्रियोंके विना भी ज्ञान और सुख हैं यह बात निश्चित हो चुकी । अथवा निश्चयसे परमात्माके ज्ञान और सुख दोनों हैं ।

सम्यग्दृष्टिका स्वरूप—

इत्येवं ज्ञाततत्त्वोसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक् ।
वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ॥ ३७१ ॥

अर्थ—इस प्रकार वस्तु स्वरूपको जाननेवाला यह सम्यग्दृष्टि अपनी आत्माका स्वरूप देखता हुआ विषयोंसे होने वाले सुख और ज्ञानमें राग द्वेष नहीं करता है ।

भावार्थ—वह वैषयिक सुख और ज्ञानसे उदासीन होजाता है ।

प्रश्न—

ननूल्लेखः किमेतावान् अस्ति किंवा परोप्यतः ।
लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनाञ्चितः पुमान् ॥ ३७२ ॥

अर्थ—क्या सम्यग्दृष्टिके विषयमें इतना ही कथन है, या और भी है ? ऐसा कोई लक्षण है जिससे कि सम्यग्दृष्टी जाना जासके ?

उत्तर—

अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैः संलक्ष्यते सुदृक् ॥ ३७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके और भी बहुतसे लक्षण हैं, जो कि सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं। उन्हींसे सम्यग्दृष्टी जाना जाता है । (जो लक्षण सम्यग्दर्शनके बिना हो नहीं सक्ते वे सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं ।

सम्यग्दृष्टीका स्वरूप—

उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः ।
नादेयं कर्म सर्वं च तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥ ३७४ ॥

अर्थ—ऊपर जितना भी इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान बतलाया गया है, सम्यग्दृष्टिके लिये वह सभी हेय (त्याज्य) है तथा उसी प्रकार सम्पूर्ण कर्म भी त्याज्य हैं यह बात प्रत्यक्ष है ।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् ।
गोचरं स्वावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥ ३७५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन वास्तवमें आत्माका अति सूक्ष्म गुण है वह केवलज्ञानका विषय है । तथा परमावधि, सर्वावधि और मनःपर्यय ज्ञानका भी विषय है अर्थात् इन्हीं तीनों ज्ञानोंसे जाना जासक्ता है ।

किन्तु—

न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानद्वयोर्मनाक् ।
नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥ ३७६ ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका किञ्चित् भी वह विषय नहीं है और न देशावधिका ही विषय है । इनके द्वारा उसका बोध नहीं होता है ।

सम्यक्त्वमें विपरीतता—

अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित् सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादुरूपमनादितः ॥ ३७७ ॥

अर्थ—आत्माका एक विलक्षण निर्विकल्पक गुण सम्यक्त्व है । वह सम्यग्दर्शन दर्शन-मोहनीय कर्मके उदयसे अनादिकालसे मिथ्या-स्वादुरूप हो रहा है ।

भावार्थ—मोहनीय कहते ही उसे हैं जो मूर्च्छित करदे । जिस प्रकार कडुवी तूंबीमें डाला हुआ मीठा दूध उस तूंबीके निमित्तसे कडवा हो जाता है, उसी प्रकार दर्शन-मोहनीयके निमित्तसे वह सम्यक्त्व भी अपने स्वरूपको छोड़कर विपरीत स्वादवाला (मिथ्या-त्व) हो जाता है । यह अवस्था उसकी अनादिकालसे हो रही है ।

सम्यक्त्वकी प्राप्तिका उपाय—

दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे ।
भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥ ३७८ ॥

अर्थ—दैवयोगसे (विशेष पुण्योदयसे) कालादि लब्धियोंके प्राप्त होने पर तथा संसारसमुद्र निकट (थोड़ा) रह जाने पर और भव्य भावका विपाक होनेसे यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ।

भावार्थ—खयुवसम विसोही देसणपाउग्ग करण लद्धीए । चत्तारिवि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते " । इस गोम्मटसारके गाथाके अनुसार सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके लिये कारणभूत पांच लब्धियां बतलाई गई हैं । क्षायोपशमिक लब्धि कर्मोंके क्षयोपशम होनेपर

होती है । कर्मोंके क्षयोपशम होनेपर आत्मामें जो विशुद्धता होती है, उसीका नाम विशुद्धि लब्धि है । किसी मुनि आदिकके उपदेशकी प्राप्तिको देशना लब्धि कहते हैं । कर्मोंकी स्थिति घट कर अंतः कोटा कोटि मात्र रह जाय इसीका नाम प्रायोगिकी लब्धि है । आत्माके परिणामोंमें जो कर्मोंकी स्थिति खण्डन और अनुभाग खण्डनकी शक्तिका पैदा होना है इसीका नाम करणलब्धि है । करणलब्धि तीन प्रकार है । अधःकरण अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ।

अधःकरणके असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं । एक समयमें रहने वाले अथवा भिन्न २ समयमें रहने वाले जीवोंके परिणामोंमें समानता भी हो सक्ती है अथवा असमानता भी हो सक्ती है परन्तु अपूर्वकरणमें एक समयमें रहनेवाले जीवोंमें तो समानता और असमानता हो सकती है, परंतु भिन्न २ समयोंमें रहनेवाले जीवोंमें समानता नहीं होसक्ती किन्तु नवीन २ ही परिणाम होते हैं । इस करणके परिणाम अधःकरणसे असंख्यात लोकगुणित हैं । अनिवृत्तिकरणमें एक समयमें एक ही परिणाम होता है । जितने भी जीव उस समयमें होंगे सबोंके एक ही परिणाम होगा । दूसरे समयमें दूसरा ही परिणाम सबोंके होगा इस करणके परिणाम उसके कालके समयोंके बराबर हैं। ये पांचो लब्धियां सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें कारण हैं । परन्तु इतना विशेष है कि पहली चारोंके होने पर सम्यग्दर्शनका होना जरूरी नहीं हैं लेकिन करणलब्धि तभी होती है जब कि सम्यग्दर्शन प्राप्तिमें अन्तर्मुहूर्त काल शेष रहजाता है अर्थात् करणलब्धिके होनेपर अन्तर्मुहूर्त बाद अवश्य ही सम्यग्दर्शन होजाता है । और भी सामग्री काललब्धि आदिक सम्यक्त्वप्राप्तिमें कारण हैं । इन सबोंके होनेपर फिर कहीं सम्यक्त्व प्रकट होता है ।

यहां पर श्लोकके तीसरे चरणमें पड़े हुए "भव्यभावविपाकाद्वा" इस वाक्यका यह आशय है कि जिस समय आत्मामें मिथ्यात्व कर्मका उदय रहता है उस समय उस भव्यत्व गुणका अपक्वपरिणमन (अशुद्ध अवस्था) रहता है । सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय उस गुणका विपक्व परिणमन होजाता है अर्थात् वह अपने परिणाममें आजाता है इसी आशयसे स्वामी उमास्वामि आचार्यवर्यने "औपशमिकादि भव्यत्वानाञ्च" इस सूत्रद्वारा मुक्तावस्थामें भव्यत्वभावका नाश बतला दिया है । वास्तवमें भव्यत्वभाव पारिणामिक गुण है, उसका नाश हो नहीं सक्ता । परन्तु उसका आशय यही है कि भव्यभावका जो मिथ्यात्व अवस्थामें अपक्व परिणमन हो रहा था उसका नाश हो जाता है अर्थात् उस भव्यत्व गुणकी मलिन पर्यायका नाश होजाता है । उसकी निर्मल पर्याय सिद्धोंमें सदा रहती है । पर्याय नाशकी अपेक्षासे ही उक्त सूत्र कहा गया है ।

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत् ।
अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥ ३७९ ॥

अर्थ—फिर अन्तर्मुहूर्तमें ही विना किसी प्रयत्नके दर्शनमोहनीयका उपशम हो जाता है । उस अवस्थामें भी गुणश्रेणीके क्रमका उलङ्घन नहीं होता ।

अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा ।
पुंसोवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥ ३८० ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होनेसे उपशम सम्यक्त्व होता है। वह मिथ्यात्व अवस्थासे पुरुषकी दूसरी अवस्थाविशेष है । सम्यग्दर्शन आत्माका निर्विकल्पक–निराकार गुण है उसीका स्पष्ट कथन नीचे किया जाता है––

सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ।
सत्तारूपं च परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥ ३८१ ॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे अथवा विशेष रीतिसे सम्यक्त्व निर्विकल्पक है, सत्वरूप है और आत्माके प्रदेशोंमें परिणमन करने वाला है ।

उल्लेख––

तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोऽरेरिव रश्मिभिः ।
दिशः प्रसत्तिमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥ ३८२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व आत्मामें किस प्रकार निर्मलता पैदा करता है, इस विषयमें सूर्यका उल्लेख है कि जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंसे अन्धकारका नाश होने पर सब जगह दिशायें निर्मलता धारण करती हुई प्रसन्नताको प्राप्त होती हैं ।

उसी प्रकार—

दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव सः ।
शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥ ३८३ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम होने पर सम्यग्दृष्टिका भी वही उल्लेख है अर्थात् उसका आत्मा निर्मलता धारण करता हुआ प्रसन्नताको प्राप्त होजाता है । उस आत्माके सम्पूर्ण प्रदेशोंमें शुद्धता होजाती है, और वह सम्यक्त्व तीन प्रकार (भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म)से होनेवाले बन्धका नाश करनेवाला है ।

दूसरा उल्लेख—

यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तंगतस्य वै ।
उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥ ३८४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई आदमी मदिरा या धतूरा पी लेता है तो उसे मूर्छा आजाती है, परन्तु कुछ काल बाद उसका नशा उतर जाता है तब वह मूर्छित आदमी मूर्छा रहित नीरोग होजाता है ।

उसी प्रकार—

दृङ्मोहस्योदयान्मूर्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः ।
प्रशान्ते त्वस्य मूर्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥ ३८५ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवको मूर्छा रहा करती है, तथा इसका चित्त ठिकाने नहीं रहता है और हरएक पदार्थमें भ्रम रहता है, परन्तु उस मोहनीयके शान्त (उपशमित) होने पर मूर्छाका नाश होनेसे यह जीव नीरोग होजाता है ।

सम्यग्दर्शनके लक्षणोंपर विचार—

श्रद्धानादिगुणा बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः ।
न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥ ३८६ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके जो श्रद्धान, आदि गुण बतलाये हैं वे सब बाह्य लक्षण हैं, क्योंकि श्रद्धानादिक सम्यक्त्वरूप नहीं हैं, किन्तु वे सब ज्ञानकी पर्याय हैं ।

भावार्थ—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" इस सूत्रमें सम्यग्दर्शनका लक्षण जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान बतलाया है । परन्तु वास्तवमें ज्ञान भी यही है कि जैसेका तैसा जानना और सम्यक्त्व भी यही है कि जैसेका तैसा श्रद्धान करना । इसलिये उपर्युक्त लक्षण ज्ञानरूप ही पड़ता है । इसी प्रकार समन्तभद्रस्वामीने जो " श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् । त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् " इस श्लोक द्वारा देव शास्त्र गुरुका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यक्त्व बतलाया है वह भी ज्ञान ही की पर्याय है । इसलिये ये सब बाह्य लक्षण हैं ।

और भी—

अपि चित्सानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् ।
अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥ ३८७ ॥

अर्थ—और भी समयसारकारने सम्यक्त्वका लक्षण आत्मानुभूतिको बतलाया है । वह लक्षण ज्ञानरूप ही पड़ता है क्योंकि आत्माका अनुभव (प्रत्यक्ष) ज्ञानकी ही पर्याय विशेष है । इसलिये ज्ञानरूप होनेसे यह भी सम्यक्त्वका लक्षण नहीं होसक्ता, यदि माना जाय तो केवली इसे बाह्य लक्षण ही कह सक्ते हैं । *

---

* **नोट**—यहांपर यह कह देना आवश्यक है कि उपर्युक्त सम्यक्त्वके लक्षण भिन्न२ आचार्यों द्वारा भिन्न२ रीतिसे कहे गये हैं । इस विषयमें कोई२ महाशय सन्देह करेंगे कि आचार्योंके कथनमें यह विरोध कैसा ? किसका लक्षण ठीक माना जावे और किसका अशुद्ध समझा जावे ? तथा पञ्चाध्यायीकारने सभीके लक्षणोंको ज्ञानकी ही पर्याय बतला दिया है फिर सम्यक्त्वका स्वरूप कैसे जाना जा सक्ता है ? ऐसे सन्देह करनेवाले सज्जनोंसे प्रार्थना है कि वे आगेका कथन पढते जांय, उन्हें अपने आप ही मालूम होजायगा कि न तो किसी आचार्यका कथन मिथ्या है, और न किसीके कथनमें परस्पर

सम्यक्त्वकी दुर्लक्ष्यतामें दृष्टान्त—

यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः ।
वा मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥ ३८८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसी रोगीकी नीरोगताका जानना बहुत कठिन है, परन्तु मन और शरीरकी चेष्टाओंके उत्साहादिक स्थूल लक्षणोंसे उसकी नीरोगताका ज्ञान कर लिया जाता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन एक निर्विकल्पक सूक्ष्म गुण है । तथापि उपर्युक्त बाह्य लक्षणोंसे उसका ज्ञान कर लिया जाता है ।

शङ्काकार—

नत्वात्मानुभवः साक्षात् सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम् ।
सर्वतः सर्वकालेऽस्य मिथ्यादृष्टेरसंभवात् ॥ ३८९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि वास्तवमें आत्मानुभव ही साक्षात् सम्यक्त्व है क्योंकि आत्मानुभव मिथ्यादृष्टिके कभी कहींभी नहीं हो सक्ता । मिथ्यादृष्टिके आत्मानुभवका होना असंभव है इसलिये आत्मानुभव ही स्वयं सम्यक्त्व है ?

उत्तर—

नैवं यतोऽनभिज्ञोसि सत्सामान्यविशेषयोः ।
अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥ ३९० ॥

अर्थ—शङ्काकारसे आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक नहीं है, तुम सामान्य और विशेषमें कुछ भेद ही नहीं समझते, और न अनाकार, साकारका ही तुम्हें ज्ञान है इस लिये तुम सुनो हम कहते हैं—

ज्ञानका लक्षण—

आकारोर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः ।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥ ३९१ ॥

अर्थ—आकार कहते हैं अर्थ विकल्पको । अर्थ नाम है स्वपर पदार्थका । विकल्प नाम है उपयोगावस्थाका । यह ज्ञानका लक्षण है ।

भावार्थ—आत्मा और इतर पदार्थोंका उपयोगात्मक भेद विज्ञान होना ही आकार कहलाता है । यही आकार ज्ञानका लक्षण है । पदार्थोंके भेदाभेदको लिये हुए निश्चयात्मक

विरुद्धता है तथा वास्तवमें भिन्नता भी नहीं है । यह जो आपको विरोधसा दीखता है वह केवल कथन शैली है, अपेक्षाका ध्यान रखने पर सभी कथन अविरोधी हो जाता है । जितना भी भिन्न२ कथन है वह अपेक्षा कृतभेदको लिये हुए है वह अपेक्षा कौनसी है और सम्यक्त्व कैसे जाना जासक्ता है, इन सब बातोंका विवेचन स्वयं आगे चल कर खुल जायगा ।

बोधको ही आकार कहते हैं अर्थात् पदार्थोंका जानना ही आकार कहलाता है । यह ज्ञानका ही स्वरूप है ।

अनाकारता—

नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता ।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥ ३९२ ॥

अर्थ—आकारका स्वरूप ऊपर कह चुके है । उस आकारका न होना ही अनाकार कहलाता है । उसीका नाम वास्तवमें निर्विकल्पता है । वह निर्विकल्पता अथवा अनाकारता ज्ञानको छोड़ कर बाकी सभी अनन्तगुणोंका लक्षण है ।

भावार्थ—जिसके द्वारा पदार्थका विचार हो सकै, स्वरूप विज्ञान हो सकै वह विकल्पात्मक कहलाता है । ऐसा ज्ञान ही है बाकीके सभी गुण न तो कथनमें ही आसक्ते हैं, और न स्पष्टतासे स्वरूप ही उनका कहा जा सक्ता है । इस लिये वे निर्विकल्पक हैं । ज्ञान स्वपर-स्वरूप निश्चायक है इस लिये वह विकल्पात्मक है और बाकीके गुण इससे उल्टे हैं ।

शङ्काकार—

नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सत्सामान्यं विशेषवत् ।
तत्किं किञ्चिदनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ॥ ३९३ ॥

अर्थ—सत्सामान्य और सत् विशेष दोनों ही वास्तविक हैं तो फिर कोई अनाकार है और कोई साकार है ऐसा क्यों ?

उत्तर—

सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमर्थाच्चास्ति विशेषवत् ।
यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥ ३९४ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि ज्ञान दोनों ही प्रकारका होता है । सामान्य रीतिसे और विशेष रीतिसे । उन दोनोंमें जो सामान्य है वह अनाकार है और जो विशेष है वह साकार है ।

भावार्थ—सबसे पहले इन्द्रिय और पदार्थका संयोग होनेपर जो वस्तुका सत्तामात्र बोध होता है उसीका नाम दर्शन है । उसमें वस्तुका निर्णय नहीं होपाता । दर्शन ज्ञानके पूर्व होने वाली पर्याय है । उसके पीछे जो वस्तुका ज्ञान होता है कि यह अमुक वस्तु है इसीका नाम अवग्रहात्मक ज्ञान है । फिर उत्तरोत्तर विशेष बोध होता है उसको क्रमसे ईहा, अवाय, धारणा कहते हैं । जिस प्रकार दर्पणका स्वभाव है कि उसके भीतर पदार्थका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह दर्पण पदार्थाकार हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानका स्वभाव है कि वह भी जिस पदार्थको विषय करता है उसी पदार्थके आकार होजाता है । पदार्थाकार होते ही उस

वस्तुका बोध कहलाता है। इसलिये ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार है। दूसरी बात यह भी है कि ज्ञानमें वस्तुके विशेषण, विशेष्य सम्बन्धका निर्णय होता है इसलिये वह साकार है ओर इतर गुण निराकार हैं। तथा ज्ञान अपने स्वरूपका भी ज्ञान कराता है इसलिये साकार है, इतर गुण अपना भी स्वरूप नहीं प्रगट करसक्ते इसलिये निराकार हैं।

यहां पर दर्शन (यह दर्शन सम्यग्दर्शनसे सर्वथा भिन्न है) का एक दृष्टान्त मात्र दे दिया है। वास्तवमें ज्ञानको छोड़ कर सभी गुण अनाकार हैं।

ज्ञानको छोड़कर सभी गुण निराकार हैं—

ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः।
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः ॥ ३९५ ॥

अर्थ—ज्ञानको छोड़कर बाकीके सभी गुण सन्मात्र हैं। चाहें वे सामान्य गुण हो, चाहे विशेष गुण हों सभी आकार रहित हैं अर्थात् निर्विकल्पक हैं।

भावार्थ—ज्ञानके सिवा सभी गुण अपनी सत्ता मात्र रखते हैं, ज्ञान ही एक ऐसा है जो अपनी सत्तासे अपना और दूसरोंका बोध कराता है इस लिये यही साकार है।

अनाकारताका फल—

ततो वस्तुमशक्यत्वात् निर्विकल्पस्य वस्तुनः।
तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥ ३९६ ॥

अर्थ—इस लिये जो निर्विकल्पक वस्तु है, उसका कथन ही नहीं हो सक्ता है वह वचनके अगोचर है। इस लिये उसका उल्लेख ज्ञानद्वारा किया जाता है।

ज्ञानका स्वरूप—

स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः।
नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥ ३९७ ॥

अर्थ—निज और अनिश्चित पदार्थ, दोनोंके ही स्वरूपका ग्राहक ज्ञान है, वह दोनोंका ही एक समयमें निश्चय कराता है, परन्तु अनिश्चित पदार्थका निश्चय कराते समय ज्ञान स्वयं उस पदार्थरूप नहीं होजाता है। ज्ञान ज्ञान ही रहता है और पर पदार्थ पर ही रहता है।

भावार्थ—जिस प्रकार दीपक अपना स्वरूप भी स्वयं दिखलाता है और साथ ही इतर घटपटादि पदार्थोंको भी दिखलाता है। उसी प्रकार ज्ञान भी अपने स्वरूपका भी बोध कराता है साथ ही पर पदार्थोंका भी बोध कराता है। परन्तु पर पदार्थका बोध कराते समय वह ज्ञान स्वयं पर पदार्थ रूप नहीं है वह पदार्थाकार होते हुए भी अपने ही स्वरूपमें है। पदार्थाकार होना ज्ञानका निज स्वरूप है।

स्वार्थ, परार्थमें भेद—

स्वार्थो वै ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः ।
परार्थस्स्वार्थसम्बन्धी गुणाः शेषे सुखादयः ॥ ३९८ ॥

अर्थ—ज्ञान–स्वार्थ परार्थ दोनोंका निश्चय कराता है, यहां पर ज्ञानका स्वार्थ तो क्या है, और परार्थ क्या है ? इसे ही बतलाते हैं—अपने स्वरूप जो पदार्थ है वही स्वार्थ है । अपने स्वरूप पदार्थ ज्ञानका ज्ञान ही है । आत्माका ज्ञान रूप जो गुण है वही ज्ञान गुण, ज्ञानका स्वार्थ है । बाकी सब परार्थ हैं । पर स्वरूप जो पदार्थ है वह परार्थ है । पर स्वरूप पदार्थ ज्ञानसे पर ही होगा । परन्तु परार्थ भी स्वार्थ–ज्ञानसे सम्बन्ध रखने वाला है । इसलिये आत्मामें जितने भी सुखादिक अनन्त गुण हैं सभी ज्ञानके परार्थ हैं, परन्तु वे सब ज्ञानसे सम्बन्ध अवश्य रखते हैं ।

भावार्थ—ज्ञान अपने स्वरूपका निश्चायक है और इतर जितने भी आत्मीक गुण हैं उनका भी निश्चायक है । इसलिये ज्ञान, स्वार्थ, परार्थ दोनोंका निश्चायक है । इतना विशेष है कि ज्ञान घटपटादि पर पदार्थोंका भी निश्चायक है परन्तु वह घटपटादिसे सर्वथा भिन्न है। किन्तु सुखादि गुणोंसे सर्वथा भिन्न नहीं है । सुखादिकके साथ ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है तो भी ज्ञान गुण भिन्न है और अन्य अनन्त गुण भिन्न हैं ।

गुण सभी जुदे २ हैं—

तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् ।
ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाज्ज्ञानं सुखादिमत् ॥ ३९९ ॥

अर्थ—सुख दुःखादि भाव, जीवके ही गुण हैं, ज्ञान उन सबका जाननेवाला है। परन्तु वह सुखादि रूप स्वयं नहीं है ।

भावार्थ—अनन्त गुणोंका तादात्म्य होते हुए भी भिन्न२ कार्योंकी अपेक्षासे सभी गुण भिन्न२ हैं, परन्तु इतर गुणोंसे ज्ञान गुण विशेष है । और गुण निर्विकल्पक (स्व-पराऽवेदक) हैं और ज्ञान गुण सविकल्पक (स्व-परवेदक) है ।

सम्यग्दर्शन वचनके अगोचर है—

सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्ममस्ति वाचामगोचरम् ।
तस्माद्वक्तुं च श्रोतुं च नाधिकारी विधिक्रमात् ॥ ४०० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन वास्तवमें आत्माका सूक्ष्म गुण है, वह वचनोंके गोचर नहीं है अर्थात् वचनों द्वारा हम उसे नहीं कह सक्ते । इसलिये उसके कहने सुननेके लिये विधिक्रमसे कोई अधिकारी नहीं होसक्ता ।

फिर सम्यक्त्व कैसे जाना जाय?—

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः ।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत्परमं पदम् ॥ ४०१ ॥

अर्थ—बस आत्माका एक ज्ञान गुण ही प्रसिद्ध है जो कि हरएक पदार्थकी सिद्धि कराता है। सम्यग्दर्शनके जाननेके लिये स्वानुभूति ही एक हेतु है, इसलिये वही सर्वोत्कृष्ट वस्तु है।

स्वानुभूतिका स्वरूप—

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकतः ॥ ४०२ ॥

अर्थ—वह आत्मानुभूति आत्माका ज्ञानविशेष है, और वह ज्ञानविशेष, सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनोंसे अविनाभाव रखता है ।

भावार्थ—जो जिसके होने पर होता है उसे अन्वय कहते हैं और जो जिसके नहीं होने पर नहीं होता है उसे व्यतिरेक कहते हैं । सम्यग्दर्शनके प्रगट होने पर ही आत्मामें शुद्ध अनुभव (स्वानुभूति) होता है, विना सम्यग्दर्शनके शुद्धानुभव नहीं होता । इसलिये स्वानुभूति (शुद्ध) का सम्यग्दर्शनके साथ सर्वथा अविनाभाव (सहभाव) है ।

सम्यक्त्वके कहनेकी योग्यता—

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात्साचेच्छुद्धनयात्मिका ॥ ४०३ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व और स्वानुभूतिकी जब साथ २ व्याप्ति (सहभावीपना) है तो फिर सम्यग्दर्शन भी रूपान्तरसे कहने योग्य हो जाता है । यह कहा जा सक्ता है कि स्वानुभूति ही सम्यक्त्व है, परन्तु वह स्वानुभूति शुद्ध नय स्वरूप हो तो ।

भावार्थ—जब आत्मामें शुद्ध स्वानुभूति हो जाती है तब उसके द्वारा उसके अविनाभावी सम्यग्दर्शनकी उद्भूतिका बोध हो जाता है । इसी लिये शुद्ध स्वानुभूतिको ही सम्यक्त्व कह दिया गया है ।

व्याप्तिभेद—

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा ॥ ४०४ ॥

अर्थ—विशेष इतना है कि सम्यग्दर्शन और स्वानुभव इन दोनोंमें विषम व्याप्ति है क्योंकि उपयोगावस्थामें समव्याप्ति नहीं हो सक्ती । परन्तु लब्धि रूप ज्ञानके साथ तो सम्यक्त्वकी समव्याप्ति है ।

भावार्थ—जो व्याप्ति दोनों तरफसे होती है उसे समव्याप्ति कहते हैं। जैसे जहां २ अचेतनपना है वहां २ जड़पना है। और जहां २ जड़पना है वहां २ अचेतनपना है। तथा जो व्याप्ति एक तरफसे ही सम्बन्ध रखती है वह विषमव्याप्ति कहलाती है। जैसे—जहां २ धूंआ होता है वहां २ अग्नि होती है, और जहां २ अग्नि होती है वहां २ धूंआ होता भी है नहीं भी होता। जलते हुए कोयलोंमें अग्नि तो है परन्तु धूंआ नहीं है। इसलिये धूंआकी व्याप्ति तो अग्निके साथ है अर्थात् धूंआ तो अग्निके विना नहीं रहता। परन्तु अग्निकी धूंएके साथ व्याप्ति नहीं है। ऐसी व्याप्ति इक तरफा व्याप्ति (विषम) कहलाती है।

प्रकृतमें स्वानुभूतिकी दो अवस्थायें हैं एक तो क्षयोपशम ज्ञान (लब्धि) रूप अवस्था दूसरी उपयोगात्मक ज्ञान रूप अवस्था। उपयोगात्मक ज्ञान कभी २ होता है। प्रत्येक समय उपयोग नहीं होता है परन्तु क्षयोपशम रूप ज्ञान सदा रहता है। इसलिये क्षयोपशमरूप स्वानुभवकी तो सम्यक्त्वके साथ समव्याप्ति है। सम्यक्त्वके होने पर क्षयोपशमरूप स्वानुभव होता है, और क्षयोपशमरूपस्वानुभवके होनेपर सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्वके होने पर उपयोगात्मक स्वानुभव हो भी जाय और नहीं भी हो, नियम नहीं। हां उपयोगात्मक स्वानुभवके होते हुए अवश्य ही सम्यग्दर्शनकी प्रकटता है इसलिये यह विषम व्याप्ति है।

इसीका खुलासा—

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत् ॥ ४०५ ॥

अर्थ—जिस आत्मामें जिस कालमें स्वानुभूति है, उस आत्मामें उस समय अवश्य ही सम्यक्त्व है क्योंकि बिना सम्यक्त्वके स्वानुभूति हो नहीं सक्ती।

यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान्।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोस्ति वस्तुतः ॥ ४०६ ॥

अर्थ—अथवा सम्यग्दर्शनके होनेपर शुद्धात्माका उपयोगात्मक अनुभव हो भी, और नहीं भी हो। परन्तु सम्यक्त्वके होनेपर स्वानुभवाऽऽवरण कर्म (मतिज्ञानावरण)का क्षयोपशम रूप (लब्धि) ज्ञान अवश्य है।

लब्धि रूप ज्ञानका कारण—

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेस्त्यवश्यतः।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥ ४०७ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वके होनेपर लब्धि रूप स्वानुभूति अवश्य होजाती है ऐसा होनेमें कारण भी यही है कि जिस समय सम्यक्त्वकी उत्पत्ति होती है, उसी समय स्वानुभूत्यावरण कर्म (मतिज्ञानावरण विशेष)की अवस्था पलट जाती है अर्थात् क्षयोपशम होजाता है।

छद्मस्थके उपयोग सदा नहीं रहता किन्तु लब्धि रहित है—

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत् ।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥ ४०८ ॥

अर्थ—छद्मस्थ (अल्पज्ञ) पुरुषका उपयोग एकसा नहीं रहता, कभी किसी पदार्थ विषयक होता है और कभी किसी पदार्थ विषयक होता है, तथा कभी कभी निद्रादि अवस्थाओंमें अनुपयोगी ज्ञान भी रहता है। इसलिये छद्मस्थोंका उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है। परन्तु सर्वज्ञका उपयोगात्मक ज्ञान सदा नित्य रहता है। छद्मस्थोंका क्षयोपशम (लब्धि) रूप ज्ञान नित्य रहता है।

सारांश—

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषतः ।
तत्सिद्धा विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः ॥ ४०९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन भी सामान्यरीतिसे नित्य ही है इसलिये सम्यक्त्व और अनुभव दोनोंमें विषम व्याप्ति है।

भावार्थ—सम्यक्त्व नित्य है इसका आशय यही है कि उपयोगकी तरह वह बराबर बदलता नहीं है तथा लब्धिरूप अनुभव भी नित्य है। इसलिये सम्यक्त्व और लब्धि रूप—अनुभवकी तो सम व्याप्ति है। परन्तु सम्यक्त्व और उपयोगात्मक—अनुभवकी विषम ही व्याप्ति है क्योंकि उपयोगात्मक ज्ञान सदा नहीं रहता है।

प्रतिज्ञा—

अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादि विकल्पकाः ।
उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाधुनोच्यते ॥ ४१० ॥

अर्थ—स्वानुभूतिके साथ२ होनेवाले सम्यक्श्रद्धान आदि और भी बहुतसे गुण हैं। ग्रन्थकार कहते हैं, कि अब उनका उद्देश्य, लक्षण, परीक्षा बतलाते हैं।

उद्देश्य—

तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः ।
चरणं च यथाम्नायमर्थात्तत्वार्थगोचरम् ॥ ४११ ॥

अर्थ—आम्नाय (शास्त्र—पद्धति)के अनुसार अर्थात् जीवादि तत्त्वोंके विषयमें श्रद्धा करना, रुचि करना, प्रतीति करना, आचरण करना, यह सब कथन उद्देश्य कहलाता है।

लक्षण—

तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा ।
प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥ ४१२ ॥

अर्थ—तत्त्वार्थ (जीवादि तत्त्व)के सन्मुख बुद्धिका होना अर्थात् तत्त्वार्थके जाननेके लिये उद्यत बुद्धिका होना श्रद्धा कहलाती है। और तत्त्वार्थमें आत्मीक भावका होना रुचि कहलाती है। "वह उसी प्रकार है" ऐसा स्वीकार करना प्रतीति कहलाती है और उसके अनुकूल क्रिया करना चरण—आचरण कहलाता है।

भावार्थ—श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, और आचारण (चारित्र) ये चारों ही क्रमसे होते हैं। "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्रमें जो श्रद्धानका लक्षण है, वह इस श्लोकमें कही हुई श्रद्धासे सर्वथा भिन्न है। परन्तु वास्तवमें अपेक्षाकृत ही भेद है। तत्त्वार्थ श्रद्धान और प्रतीति, दोनों एक ही बात हैं। प्रतीतिमें तत्त्वार्थकी स्वीकारता है और श्रद्धान भी इसीका नाम है कि वस्तुको जान कर उसे उसी रूपसे स्वीकार करना। श्रद्धानकी श्रद्धा पूर्व पर्याय है। यही अपेक्षाकृत भेद है।

श्रद्धादिके कहनेका प्रयोजन—

अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवात्र पर्ययात्।
चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥ ४१३ ॥

अर्थ—श्रद्धा, रुचि, प्रतीति, ये तीनों ही ज्ञान स्वरूप हैं क्योंकि तीनों ही ज्ञानकी पर्याय हैं। तथा आचरण—चारित्र—मन, वचन, कायका शुभ कार्योंमें होनेवाला व्यापार है।

श्रद्धादिक सम्यग्दर्शनके विना भी होसक्ते हैं—

व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा।
सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥ ४१४ ॥

अर्थ—श्रद्धा, रुचि आदि चारों ही सम्यग्दृष्टिके लक्षण हो भी सक्ते हैं और नहीं भी होसक्ते। यदि ये सम्यग्दृष्टिके लक्षण हों तो भिन्न भिन्न अवस्थामें भी होसक्ते हैं, और समुदाय अवस्थामें भी होसक्ते हैं। चाहे ये सम्यग्दृष्टिके सपक्षमें हों चाहे विपक्षमें हों, अर्थात् सम्यग्दर्शनके साथ२ हों अथवा मिथ्या दर्शनके साथ२ हों कुछ नियम नहीं है। अथवा श्रद्धादिक सम्यग्दृष्टिके हों या न भी हों, ऐसा भी कुछ नियम नहीं है।

भावार्थ—श्रद्धादिक सम्यग्दृष्टिके भी होसक्ते हैं और मिथ्यादृष्टिके भी हो सक्ते हैं। भिन्न २ भी हो सक्ते हैं और समस्त भी हो सक्ते हैं। सम्यग्दर्शनके होने पर हो भी जावें और न भी हों, ऐसा कुछ भी नियम नहीं है।

सम्यग्दर्शनके विना श्रद्धादिक गुण नहीं हैं—

स्वानुभूतिसनाथाश्चेत् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाऽऽभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥ ४१५ ॥

अर्थ—यदि श्रद्धादिक गुण स्वानुभूतिके साथ हों तो वे गुण (सम्यग्दर्शनके लक्षण)

समझे जाते हैं और विना स्वानुभूतिके गुणाभास समझे जाते हैं । अर्थात् स्वानुभूतिके अभावमें श्रद्धाआदिक गुण नहीं समझे जाते ।

सारांश—

तत्स्याच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिमत् ।
न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत् स्वतः ॥ ४१६ ॥

अर्थ—इसलिये ऊपर कहनेका यही सारांश है कि श्रद्धा आदिक चारों ही यदि स्वानुभूतिके साथ हों तो वे ही श्रद्धा आदिक सम्यग्दर्शन समझे जाते हैं और यदि श्रद्धा आदि मिथ्यारूप हों—मिथ्या श्रद्धा आदि हों तो सम्यक्त्व नहीं समझे जाते किन्तु श्रद्धाभास और रुच्याभास आदि समझे जाते हैं ।

भावार्थ—स्वानुभूति सम्यक्त्वका अविनाभावि गुण है । जिस प्रकार अविनाभावी होनेसे स्वानुभूतिको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं, उसी प्रकार स्वानुभूतिके साथ यदि श्रद्धा आदिक हों तो उन्हें भी सम्यग्दर्शन कहना चाहिये परन्तु यदि श्रद्धा आदिक मिथ्यात्वके साथ हों तो उन्हें सम्यग्दर्शन नहीं कहना चाहिये किन्तु श्रद्धाभास रुच्याभास एवं सम्यक्त्वाभास समझना चाहिये ।

सामान्य श्रद्धादिक भी सम्यक्त्वके गुण नहीं है—

सम्यङ्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः ।
सपक्षवद्विपक्षेपि वृत्तित्वाद्व्यभिचारिणः ॥ ४१७ ॥

अर्थ—जो श्रद्धा आदि न तो सम्यक् विशेषण रखते हों, और न मिथ्या विशेषण ही रखते हों तो वे सपक्षकी तरह विपक्षमें भी रह सक्ते हैं, इसलिये व्यभिचारी हैं ।

भावार्थ—सामान्य श्रद्धा आदिकको न तो सम्यग्दर्शन सहित ही कह सक्ते हैं और न मिथ्यादर्शन सहित ही कह सक्ते हैं । ऐसी सन्दिग्ध अवस्थामें वे सम्यक् मिथ्या विशेषण रहित सामान्य श्रद्धादिक भी सदोषी हैं ।

इसीका स्पष्ट कथन—

अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिः श्रद्धादयो यतः ।
मिथ्या श्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥ ४१८ ॥

अर्थ—अर्थात् श्रद्धादिक यदि सम्यक् (यथार्थ) हों तब तो वे श्रद्धादिक कहलाते हैं परन्तु यदि श्रद्धादिक मिथ्या (अयथार्थ) हों तब वे श्रद्धादिक नहीं कहे जाते किन्तु मिथ्या समझे जाते हैं ।

भावार्थ—श्रद्धादिक कहनेसे सम्यक् श्रद्धा आदिका ही बोध होता है। यदि सम्यक् न हों तो उन्हें श्रद्धादिक न कह कर मिथ्या श्रद्धादि कहना चाहिये।

शङ्काकार—

ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् ।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तत्कुतोर्थतः ॥ ४१९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि तत्वरूचिका नाम ही श्रद्धा है क्योंकि श्रद्धाका लक्षण श्रद्धामात्र ही है। फिर वह श्रद्धा, सम्यक् श्रद्धा और मिथ्या श्रद्धा ऐसे दो भेद वाली वास्तवमें कैसे हो जाती है ?

उत्तर—

नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धा स्वानुभवद्वयोः ।
नूनं नानुपलब्धेर्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥ ४२० ॥

अर्थ—शङ्काकारका उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभूति, इन दोनोंमें समव्याप्ति है। अर्थात् दोनों ही साथ होनेवाली हैं इसलिये अनुपलब्ध पदार्थमें गधेके सींगकी तरह श्रद्धा निश्चयसे नहीं होसक्ती।

विना स्वार्थानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः ।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥ ४२१ ॥

अर्थ—बिना स्वार्थानुभवके जो श्रद्धा केवल सुननेसे अथवा शास्त्रज्ञानसे ही है वह तत्त्वार्थके अनुकूल होने पर भी पदार्थकी उपलब्धि न होनेसे श्रद्धा नहीं कहलाती।

भावार्थ—बिना स्वार्थानुभूतिके होनेवाली श्रद्धा, वास्तवमें श्रद्धा नहीं है और न उसे सम्यग्दर्शन ही कह सक्ते क्योंकि उसमें आत्मतत्त्व विषय नहीं पड़ता है।

लब्धिः स्यादविशेषाद्धा सदसतोरुन्मत्तवत् ।
नोपलब्धिरिहार्थात्सा तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥ ४२२ ॥

अर्थ—उन्मत्त पुरुषकी तरह सत् पदार्थ और असत् पदार्थ (यथार्थ अयथार्थ)में सामान्य रीतिसे होनेवाली लब्धि वास्तवमें उपलब्धि (प्राप्ति) नहीं है। किन्तु अनुपलब्धिकी तरह (ठीक पदार्थको विषय न करनेसे) वह भी अनुपलब्धि ही है।

निष्कर्ष—

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् ।
अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥ ४२३ ॥

अर्थ—इसलिये यौगिक रीतिसे भी श्रद्धा सम्यक्त्वका लक्षण है और रूढिसे भी सम्यक्त्वका लक्षण है। पहलेका यह कथन कि जो स्वानुभूति सहित है वही श्रद्धा कहलाती है, सर्वथा ठीक और अविरोधी है।

सम्यग्दृष्टिके और भी गुण—

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः ।
बहिर्दृष्ट्या यथास्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणाः ॥ ४२४ ॥

अर्थ—और भी प्रशमादिक जो सम्यग्दृष्टिके प्रसिद्ध गुण हैं, वे सब बाह्य दृष्टिसे ही सम्यक्त्वके लक्षण हैं । यदि वे सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं तो लक्षण हैं, अन्यथा नहीं ।

सम्यग्दृष्टिके गुणोंके नाम—

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणक्रमात् ।
अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ४२५ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका पहला गुण प्रशम है दूसरा संवेग है, तीसरा अनुकम्पा है और चौथा आस्तिक्य है । इन चारोंका क्रमसे लक्षण कहते हैं ।

प्रशमका लक्षण—

प्रशमो विषयेष्वेभावक्रोधादिकेषु च ।
लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥ ४२६ ॥

अर्थ—पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावोंमें स्वभावसे ही मनकी शिथिलताका होना प्रशम (शान्ति) कहलाता है **भावार्थ**—विषय क्रोधादिकमें मनकी प्रवृत्तिका न होना ही प्रशम है ।

प्रशमका दूसरा लक्षण—

सद्यः कृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् ।
तद्वाधादि विकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥ ४२७ ॥

अर्थ—जिन जीवोंने अपने साथमें कोई नवीन अपराध किया हो उन जीवोंके विषयमें कभी भी मारने आदि विकारकी बुद्धिका न होना भी प्रशम है । **भावार्थ**—अपराधी जीवों पर क्षमाभाव रखना भी प्रशम है ।

प्रशम होनेका कारण—

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् ।
अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयांशतः ॥ ४२८ ॥

अर्थ—अपराधी जीवों पर भी क्षमाभाव करनेकी बुद्धि क्यों होती हैं ? इसका कारण अनन्तानुबन्धि कषायका उदय न होना और अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायोंका कुछ मन्दोदय होना ही है ।

और भी—

आरम्भादि क्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः ।
अन्तः शुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥ ४२९ ॥

अर्थ—दैवयोगसे (चारित्र मोहनीयके उदयसे) यद्वि सम्यग्दृष्टी विना इच्छाके आरम्भ आदि क्रिया भी करै तो भी अन्तरंगमें शुद्धता होनेसे वह क्रिया उसके प्रशम गुणके नाशका कारण नहीं हो सक्ती ।

प्रशम और प्रशमाभास—

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः ।
अन्यत्र प्रशमम्मन्योऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥ ४३० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके साथ यदि प्रशम हो तब तो वह उत्कृष्ट गुण समझा जाता है और यदि सम्यग्दर्शनके विना ही प्रशम हो, तो वह प्रशम नहीं है, किन्तु प्रशामाऽऽभास और प्रशम मानना मात्र है । सम्यग्दर्शनके अभावमें प्रशम गुण कभी नहीं कहलाता ।

संवेगका लक्षण—

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः ।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥ ४३१ ॥

अर्थ—आत्माके धर्म और धर्मके फलमें पूरा उत्साह होना संवेग कहलाता है । अथवा समान धर्मियोंमें अनुराग करना अथवा पांचों परमेष्ठियोंमें प्रेम करना भी संवेग कहलाता है ।

धर्म और धर्मका फल—

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा ।
तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥ ४३२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वस्वरूप–आत्मा ही धर्म कहलाता है अथवा शुद्धात्माका अनुभव होना ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही धर्मका फल कहलाता है ।

समान धर्मियोंमें अनुराग—

इतरत्र पुना रागस्तद्गुणेष्वनुरागतः ।
नातद्गुणेऽनुरागोपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥ ४३३ ॥

अर्थ—समान धर्मियोंमें जो प्रेम बतलाया है वह केवल उनके गुणोंमें अनुराग-बुद्धिसे होना चाहिये । जिनमें गुण नहीं है, उनमें फलकी इच्छा न रखते हुए भी अनुराग नहीं होना चाहिये ।

अनुरागका शब्दार्थ—

अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते।
किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥ ४३४ ॥

अर्थ—यहां पर अनुराग शब्दसे अभिलाषा अर्थ नहीं लेना चाहिये किन्तु दूसरा ही अर्थ लेना चाहिये अर्थात् गुणप्रेम अनुराग शब्दका अर्थ है अथवा अधर्म और अधर्मके फलसे निवृत्ति होना भी अनुराग शब्दका अर्थ है।

और भी—

अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थतः।
प्राप्तिः स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४३५ ॥

अर्थ—जिस समय अनुराग शब्दका विधिरूप अर्थ करना हो, तब प्राप्ति, उपलब्धि ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक होते हैं। भावार्थ—विधिरूप अर्थ करने पर अनुरागका अर्थ, गुणोंकी प्राप्ति और गुणोंकी उपलब्धि समझना चाहिये।

आशङ्का—

नचाऽशङ्क्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम्।
शुद्धोपलब्धिमात्रेपि हि यो भोगाभिलाषवान् ॥ ४३६ ॥

अर्थ—ऐसी आशङ्का नहीं करना चाहिये कि अभिलाषाका निषेध केवल भोगोंके विषयमें ही कहागया है। शुद्धोपलब्धि होने पर भी जो भोगोंमें अभिलाषा रखता हो उसीकी अभिलाषाका निषेध किया गया है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिये।

अभिलाषामात्र निषिद्ध है—

अर्थात्सर्वोभिलाषः स्यादज्ञानं दृग्विपर्ययात्।
न्यायाद्लब्धतत्त्वार्थो लब्धुं कामो न लब्धिमान् ॥ ४३७ ॥

अर्थ—सभी अभिलाषायें अज्ञानरूप (बुरी) हैं क्योंकि सभी मिथ्यात्वसे होती हैं। न्यायसे यह बात सिद्ध है कि जिसने तत्त्वार्थको नहीं जाना है उसे चाहनेकी इच्छा होने पर भी पदार्थ नहीं मिलता है।

और भी—

मिथ्या सर्वोभिलाषः स्यान्मिथ्याकर्मोदयात्परम्।
स्वार्थसार्थक्रियासिद्धौ नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥ ४३८ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अभिलाषायें मिथ्या हैं। क्योंकि सभी मिथ्यात्वकर्मके उदयसे होनेवाली हैं। तथा कोई भी अभिलाषा अपने अभीष्ट क्रियाकी सिद्धि करानेमें समर्थ नहीं है क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष है।

अभिलाषामें अभीष्टकी सिद्धिका अभाव—

क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः ।
अभिलाषस्याप्यसद्भावे स्वेष्टसिद्धिश्च हेतुतः ॥ ४३९ ॥

अर्थ—कहीं पर अभिलाषाके होने पर भी बिना कारण इष्ट सिद्धि नहीं होती है। और कहीं पर अभिलाषाके न होने पर भी, कारण मिलने पर अपने अभीष्टकी सिद्धि होजाती है।

दृष्टान्त—

यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् ।
नास्य लाभोऽभिलाषेपि विना पुण्योदयात्सतः ॥ ४४० ॥

अर्थ—यश, लक्ष्मी, पुत्र, मित्र आदिकको सभी जगत् चाहता है परन्तु उसकी अभिलाषा होने पर भी बिना पुण्योदयके कोई वस्तु नहीं मिल सक्ती।

और भी—

जरामृत्युदरिद्रादि नहि कामयते जगत् ।
तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राऽशुभोदयात् ॥ ४४१ ॥

अर्थ—बुढ़ापा, मृत्यु, दरिद्रता आदिको कोई भी आदमी नहीं चाहता है परन्तु बिना चाहने पर भी अशुभ कर्मके उदयसे बुढ़ापा आदिका संयोग अवश्य हो ही जाता है।

विधि और निषेध—

संवेगो विधिरूपः स्यान्निषेधश्च निषेधनात् ।
स्याद्विवक्षावशादूद्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥ ४४२ ॥

अर्थ—संवेग कहीं विधिरूप भी होता है और निषेध करनेसे निषेधरूप भी होता है। जैसी विवक्षा (वक्ताके कहनेकी इच्छा) होती है, वैसा ही विधि या निषेधरूप अर्थ ले लिया जाता है। विधि और निषेध, दोनोंमें भेद नहीं है, दोनोंका प्रयोजन एक ही है।

संवेगका लक्षण—

त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा ।
स संवेगोथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥ ४४३ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अभिलाषाओंका त्याग करना अथवा वैराग्य (संसारसे) धारण करना संवेग है और उसीका नाम धर्म है। क्योंकि जिसके अभिलाषा पाई जाती है वह धर्मधारी कभी नहीं होसक्ता।

किन्तु—

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः ।
नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताऽधर्म एव सः ॥ ४४४ ॥

अर्थ—क्रियामात्रको धर्म नहीं कहते हैं। मिथ्यादृष्टि पुरुषके सदा रागादिभावोंका सद्भाव होनेसे उसकी क्रियाको वास्तवमें अधर्म ही कहना चाहिये।

रागी और वैरागी—

नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्क्वचिदरागवान्।
अस्तरागोऽस्ति सदृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥ ४४५ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि पुरुष सदा रागी है, वह कहीं भी राग रहित नहीं होता परन्तु सम्यग्दृष्टिका राग नष्ट होजाता है। वह रागी नहीं है, किन्तु वैरागी है।

अनुकम्पाका लक्षण—

अनुकम्पा क्रिया ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः।
मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थं नैःशल्यं वैरवर्जनात् ॥ ४४६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणियोंमें उपकार बुद्धि रखना अनुकम्पा (दया) कहलाती है अथवा सम्पूर्ण जीवोंमें मैत्री भाव रखना भी अनुकम्पा है। अथवा द्वेषबुद्धिको छोड़कर मध्यमवृत्ति धारण करना भी अनुकम्पा है। अथवा शत्रुता छोड देनेसे सम्पूर्ण जीवोंमें शल्य रहित (निष्कषाय) हो जाना भी अनुकम्पा है।

अनुकम्पाके होनेका कारण—

दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम्।
मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यतः ॥ ४४७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवोंमें दयारूप परिणाम होनेमें कारण केवल दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका न होना ही है। क्योंकि मिथ्या ज्ञानको छोड़कर कहीं भी वैरभाव नहीं होसक्ता है।

भावार्थ—ज्ञान, दर्शनका अविनाभावी है। जैसा दर्शन होता है, वैसा ही ज्ञान होजाता है। दर्शनमें सम्यक् विशेषण लगनेसे ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान होजाता है, और दर्शनमें मिथ्या विशेषण लगनेसे ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान होजाता है। दर्शनमोहनीय, सम्यग्दर्शनको नष्ट कर मिथ्यादर्शन बना देता है। उस समय ज्ञान भी उल्टा ही विषय करने लगता है। जिस समय आत्मामें मिथ्या ज्ञान होता है, उसी समय जीवोंमें वैरभाव होने लगता है, ऐसा वैरभाव मिथ्यादृष्टिमें ही पाया जाता है।

मिथ्या ज्ञान—

मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम्।
इच्छेत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥ ४४८ ॥

अर्थात्—दूसरे जीवोंमें सुखदुःखादिक अथवा जीना मरना देख कर, उनसे अपनेमें

उन बातोंकी चाहना करना अथवा अपनेमें इन बातोंको होती हुई देख कर, अपनेसे पर पुरुषोंके लिये इच्छा करना, यह सब मिथ्या है ।

भावार्थ—इस श्लोकका ऐसा भी आशय है कि जब दूसरोंसे अपनेमें और अपनेसे दूसरोंमें सुख दुःखादि होनेकी इच्छा करता है तब अपनेमें दुःखादिकके होने पर, उनके होनेमें परको कारण समझता है, इसलिये उससे वैरभाव करने लगता है । इसी कारण शत्रु मित्रकी कल्पना भी अन्य जीवोंमें करने लगता है परन्तु यह इसकी अज्ञता है। संसारमें कोई किसीका शत्रु मित्र नहीं है। यदि वास्तवमें कोई जीवका शत्रु है तो कर्म है, मित्र है तो धर्म है, अन्य सब कल्पना मात्र है ।

मिथ्यादृष्टिके विचार—

अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान् ।
अज्ञानाद्धन्तुकामोपि क्षमो हन्तुं न चाऽपरम् ॥ ४४९ ॥

अर्थ—जिस पुरुषके ऊपर कहा हुआ अज्ञान है, वही मिथ्यादृष्टि है और वही शल्यवाला है । अज्ञानसे वह दूसरेको मारना चाहता है, परन्तु वह उसे मारनेमें समर्थ नहीं है ।

अनुकम्पाके भेद—

समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा ।
अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्य वर्जनात् ॥ ४५० ॥

अर्थ—अनुकम्पा दो प्रकारकी है । एक पराऽनुकम्पा, दूसरी स्वानुकम्पा । समग्र जीवोंमें समताभाव धारण करना परमें अनुकम्पा कहलाती है और काँटेकी तरह चुभने-वाली शल्यका त्याग करदेना स्वाऽनुकम्पा कहलाती है। वास्तवमें स्वानुकम्पा ही प्रधान है,।

प्रधानतामें कारण—

रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि ।
न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपाऽऽत्मनि ॥ ४५१ ॥

अर्थ—रागादिक अशुद्ध भावोंके रहते हुए बन्ध ही निश्चयसे होता है और उनके नहीं होने पर बन्ध नहीं होता । इसकिये (जिससे वैर भावका कारण बन्ध ही न होवे) ऐसी कृपा आत्मामें अवश्य करनी चाहिये ।

आस्तिक्यका लक्षण—

आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे विनिश्चितिः ।
धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चाऽऽत्मादि धर्मवत् ॥ ४५२ ॥

अर्थ—स्वतःसिद्ध (अपने आप सिद्ध) तत्त्वोंके सद्भावमें, धर्ममें, धर्मके कारणमें,

धर्मके फलमें, निश्चयबुद्धि विश्वासबुद्धि रखना, इसीका नाम आस्तिक्य है। जिस प्रकार आत्मा आदि पदार्थोंके धर्म हैं उसी प्रकार उनमें यथार्थ विश्वस्तबुद्धि रखना ही आस्तिक्य है।

जीवमें अस्तिक्य—

अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतः सिद्धोप्यमूर्तिमान् ।
चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥ ४५३ ॥

अर्थ—जिसकी जीव संज्ञा है वही आत्मा है, आत्मा स्वतःसिद्ध है अमूर्त है और चेतन है तथा जितना भी अजीव है वह सब अचेतन है।

आत्मा ही कर्त्ता, भोक्ता और मोक्षाधिकारी है—

अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः ।
कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥ ४५४ ॥

अर्थ—कार्माणवर्गणासे बने हुए कर्मोंसे यह आत्मा अनादिकालसे बँधा हुआ है और उन्हीं कर्मोंका कर्ता है तथा उन्हींका भोक्ता है और उन्हीं कर्मोंके क्षय होनेसे मोक्षका अधिकारी हो जाता है।

अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै ।
आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥ ४५५ ॥

अर्थ—उस संसारी जीवके उन कर्मोंके निमित्तसे निरन्तर पुण्य और पाप तथा उनका फल होता रहता है। उसी प्रकार आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा भी होते हैं।

अप्येवं पर्यायादेशाद्बन्धो मोक्षश्च तत्फलम् ।
अथ शुद्धनयादेशाच्छुद्धः सर्वोपि सर्वदा ॥ ४५६ ॥

अर्थ—यह आत्मा पर्यायदृष्टिसे बंधा हुआ है और उसी पर्यायदृष्टिसे मुक्त भी होता है, तथा उनके फलोंका भोक्ता भी है, परन्तु शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे सभी आत्माएं सदा शुद्ध हैं अर्थात् न बन्ध है और न मोक्ष है।

जीवका स्वरूप—

तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः ।
सोहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥ ४५७॥

अर्थ—जो यह जीवसंज्ञाधारी आत्मा है वह स्वसंवेद्य (अपने आपको आप ही जाननेवाला) है, ज्ञानवान् है और वही "सोहं" है अर्थात् उसी ज्ञानधारी जीवात्मामें "वह मैं हूं" ऐसी बुद्धि होती है। बाकी जितने भी रागादिक पुद्गल हैं वे सभी त्यागने योग्य हैं।

सारांश--

इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् ।
निश्चयव्यवहाराभ्यां आस्तिक्यं तत्तथामतिः ॥ ४५८ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनादि कालसे चला आया जितना भी जीवादिक वस्तु समूह है, सभी निश्चय और व्यवहारसे भिन्न भिन्न स्वरूपको लिये हुए है। उसमें वैसी ही बुद्धि रखना जैसा कि वह है, इसीका नाम आस्तिक्य है।

सम्यक् और मिथ्या आस्तिक्य–

सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्यैकलक्षणम् ।
आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥४५९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी अविनाभाविनी स्वानुभूतिके साथ होनेवाला जो आस्तिक्य है वही सम्यक् आस्तिक्य है अथवा सम्यक्त्व है। उससे विपरीत (स्वानुभूतिके अभावमें होनेवाला) जो आस्तिक्य है वह मिथ्या–आस्तिक्य है अथवा मिथ्यात्त्व है।

शङ्काकार—

ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः ।
न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥ ४६० ॥
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोर्थतः ॥ ४६१ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि वास्तवमें एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है बाकीके चारों ही ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हैं। वे सदा परोक्ष ही रहते है ? अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञान भी यदि एक देश प्रत्यक्ष है, जिस प्रकार कि सुखका मानसिक प्रत्यक्ष होता है। तो वास्तवमें आस्तिक्य स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कैसे हो सक्ता है ?

उत्तर--

सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि ।
प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥ ४६२ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि आदिके दोनों ज्ञान (मति–श्रुत) परोक्ष हैं परन्तु वे पर–पदार्थका ज्ञान करनेमें ही परोक्ष हैं, स्वात्मानुभव करनेमें वे भी प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि स्वात्मानुभव दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे होता है। दर्शनमोहनीय कर्म ही स्वानुभूतिके प्रत्यक्ष होनेमें बाधक है और उसका अभाव ही साधक है।

स्वानुभव रूप आस्तिक्य परम गुण है—

स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः ।
भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रं परत्वतः ॥ ४६३ ॥

अर्थ—स्वात्मानुभव स्वरूप जो आस्तिक्य है वही परम गुण है। वह आस्तिक्य पर द्रव्यमें हो, चाहे न हो। पर पदार्थ, पर है, इसलिये उसका प्रत्यक्ष न होकर केवल, ज्ञानमात्र ही होता है।

अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि ।
गाढं प्रतीतिरस्याऽस्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥ ४६४ ॥

अर्थ—यद्यापि स्वानुभव—आस्तिक्यवाले पुरुषके जीवादिक पर पदार्थ परोक्ष हैं। तथापि उसके उन पदार्थोंमें गाढ़ प्रतीति है। जिस प्रकार—सम्यग्दृष्टिकी अपनी आत्मामें गाढ़ प्रतीति है, उसी प्रकार अन्य परोक्ष पदार्थोंमें भी गाढ़ प्रतीति है।

परन्तु—

न तथास्ति प्रतीतिर्वा चास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् ।
दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेर्दृङ्मोहतोऽनिशम् ॥ ४६५ ॥

अर्थ—परन्तु वैसी प्रतीति मिथ्यादृष्टिके कभी नहीं होती। क्योंकि उसके दर्शनमोहनीयका उदय है। दर्शनमोहनीयके निमित्तसे निरन्तर मिथ्यादृष्टिको पदार्थोंमें भ्रम—बुद्धि रहा करती है।

निष्कर्ष—

ततः सिद्धमिदं सम्यक् युक्तिस्वानुभवागमात् ।
सम्यक्त्वेनाऽविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥ ४६६ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात—युक्ति, स्वानुभव और आगमसे भली भांति सिद्ध होचुकी कि सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाला जो आस्तिक्य है वही महान् गुण है।

ग्रन्थान्तरमें सम्यक्त्वके आठ गुण भी बतलाये हैं। वे नीचे लिखे जाते हैं—

ग्रन्थान्तर—

***संवेओ णिव्वेओ णिंदणगरुहा य उवसमो भत्ती ।**
वच्छल्लं अणुकंपा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥ ४ ॥

अर्थ—संवेग, निर्वेग, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा ये आठ गुण सम्यक्त्व होने पर होते हैं।

---

*यह गाथा पञ्चध्यायीमें क्षेपक रूपसे आई है।

ये उपलक्षण हैं—

उक्तगाथार्थसूत्रेपि प्रशमादिचतुष्टयम् ।
नातिरिक्तं यतोस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥ ४६७ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए गाथा-सूत्रमें भी प्रशम, संवेगादिक चारों ही आगये हैं। ये सभी पञ्चाध्यायीमें कहे हुए प्रशमादिक चारोंसे भिन्न नहीं हैं। किन्तु कोई लक्षण रूपसे कहे गये हैं, और कोई उपलक्षण (लक्षणका लक्षण) रूपसे कहे गये हैं अर्थात् ग्रन्थान्तरमें और इस कथनमें कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही बातको कहने वाले हैं।

उपलक्षणका लक्षण—

अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् ।
तत्तथाऽस्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥ ४६८ ॥

अर्थ—लक्षणके लक्षणको उपलक्षण कहते हैं अर्थात् किसी वस्तुका एक लक्षण कहाजाय, फिर उस लक्षणका लक्षण कहाजाय, इसीका नाम (जो दुबारा कहा गया है) उपलक्षण है। जो पहले लक्ष्य (जिसका लक्षण कियाजाय उसे लक्ष्य कहते है) का लक्षण है वही आगे वालेका उपलक्षण है।

प्रकृतमें—

यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः ।
सचोऽपलक्ष्यते भक्तिवात्सल्येनाऽथवार्हताम् ॥ ४६९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार सम्यग्दर्शनका संवेग गुण लक्षण है, वही संवेगगुण अरहन्तोंकी भक्ति अथवा वात्सल्यका उपलक्षण हो जाता है।

भक्ति और वात्सल्यका स्वरूप—

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् ।
वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥ ४७० ॥

अर्थ—मन, वचन, कायकी शान्तिसे उद्धत्ताका नहीं होना ही भक्ति है। अर्थात् किसीके प्रति मन, वचन, काय द्वारा किसी प्रकारकी उद्धत्ता प्रगट नहीं करना ही उसीकी भक्ति है और किसीके गुणोत्कर्षकी प्राप्तिके लिये मनमें उल्लास होना ही उसके प्रति वात्सल्य कहलाता है।

भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा ।
स संवेगो दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणम् ॥ ४७१ ॥

अर्थ—भक्ति अथवा वात्सल्य संवेगके विना नहीं हो सक्ते, वह संवेग सम्यग्दर्शनका लक्षण है और ये दोनों (भक्ति वात्सल्य) उपलक्षण हैं।

प्रशम—

दृङ्मोहस्योदयाभावात् प्रसिद्धः प्रशमो गुणः ।
तत्राभिव्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥ ४७२ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे प्रशम गुण होता है यह प्रसिद्ध है। उसी प्रशम गुणका बाह्य–व्यंजक (बतानेवाला) निंदन है, और उसीका गर्हण है अर्थात् निन्दन और गर्हणसे प्रशम गुण जाना जाता है ।

निन्दन—

निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि ।
पश्चात्तापकरो बन्धो नाऽपेक्ष्यो नाप्युपेक्षितः ॥ ४७३ ॥

अर्थ—कठिनतासे दूर करने योग्य जो रागादि दुष्ट कर्म हैं उनके विषयमें ऐसा विचार करना कि इनके होनेपर पश्चात्तापकारी बन्ध होता है । वह न तो अपेक्षणीय है और न उपेक्षणीय है अर्थात् रागादिको बन्धका कारण समझकर उनके विषयमें रागबुद्धिको दूर कर उन्हें हटानेका प्रयत्न करना चाहिये इसीका नाम निंदन है ।

गर्हण—

गर्हणं तत्परित्यागः पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकः ।
निष्प्रमादतया नूनं शक्तितः कर्महानये ॥ ४७४ ॥

अर्थ—पञ्चगुरुओंकी साक्षीसे कर्मोंका नाश करनेके लिये शक्तिपूर्वक प्रमाद रहित होकर उस रागका त्याग करना–गर्हण कहलाता हैं ।

अर्थादेतद्द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम ।
प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाऽविशेषतः ॥ ४७५ ॥

अर्थ—कषायोंके अनुदयसे होनेवाले प्रशम गुण–लक्षणका धारी जो सम्यक्त्व है उसके ये दोनों उपलक्षण हैं। इन दोनों (निन्दन–गर्हण)का स्वरूप ऊपर अच्छी तरह कहा जाचुका है।

ग्रन्थकारकी लघुता—

शेषमुक्तं यथाम्नायात् ज्ञातव्यं परमागमात् ।
आगमाब्धेः परं पारं मादृग्मन्तुं क्षमः कथम् ॥ ४७६ ॥

अर्थ—बाकीका जो कथन है, वह निर्दिष्ट पद्धतिके अनुसार अर्थात् परम्परासे आये हुए परमागम (शास्त्र)से जानना चाहिये। आगम रूपी समुद्रका पार बहुत लम्बा है, इसलिये उसके पार जानेके लिये हम सरीखे कैसे तयार होसक्ते हैं ?

शङ्काकार—

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्ष्यस्यस्यादशेषतः ।
किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्यनः ॥ ४७७ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण लक्षण इतना ही है कि और भी कोई लक्षण है ? यदि है तो आज हमसे कहिये ?

उत्तर—

सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये ।
लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥ ४७८ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके सब जगह आठ अंग प्रसिद्ध हैं । तथा लक्षण, गुण, अंग ये सभी शब्द एक अर्थके ही कहने वाले हैं ।

आठों अङ्गोंके नाम—

निःशङ्कितं यथा नाम निष्कांक्षितमतः परम् ।
विचिकित्सावर्जं चापि तथा दृष्टेरमूढ़ता ॥ ४७९ ॥
उपबृंहणनामा च सुस्थितीकरणं तथा
वात्सल्यं च यथाम्नायाद् गुणोप्यस्ति प्रभावना ॥ ७८० ॥

अर्थ—निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग क्रमसे परम्परा–आगत हैं ।

निःशंकित गुणका लक्षण—

शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्य निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥ ४८१ ॥

अर्थ—शंका, भी, साध्वस, भीति, भय ये सभी शब्द एक अर्थके वाचक हैं । उस शंका अथवा भयसे रहित जो आत्माका परिणाम है, वही वास्तवमें निःशंकित भाव कहलाता है।

निःशंकित भाव—

अर्थवशादत्र सूत्रे शंका न स्यान्मनीषिणाम् ।
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः स्युस्तदास्तिक्यगोचराः ॥ ४८२ ॥

अर्थ—जैन सिद्धान्तमें (किसी सूत्रमें) प्रयोजन वश बुद्धिमानोंको शंका नहीं करना चाहिये । जो पदार्थ सूक्ष्म हैं, जो अन्तरवाले हैं, अर्थात् जो बीचमें अनेक व्यवधान होनेसे दृष्टिगत नहीं है और जो कालकी अपेक्षा बहुत दूर हैं, वे सब निःशङ्करीतिसे आस्तिक्य गोचर (दृढ–बुद्धिगत) होने चाहिये ।

भावार्थ—जो २ पदार्थ हमारे सामने नहीं हैं, उन पदार्थोंमें अपनी अल्पज्ञताके कारण हम शंका करने लगते हैं और इसी लिये सर्वज्ञकथित--आगममें अश्रद्धा कर बैठते हैं। परन्तु ऐसा करना नितान्त भूल है। ऐसा करनेसे हम स्वयं आत्माको ठगते हैं तथा दूसरोंको हानि पहुंचाते हैं। यह क्या नासमझी नहीं है कि जो पदार्थ हमारे दृष्टिगत नहीं हैं, अथवा जो हमारी बुद्धिसे बाहर हैं वे हैं ही नहीं। यदि विशेष बुद्धिमान हैं तो हमें निर्णय करनेका प्रयत्न करना चाहिये अन्यथा आज्ञा प्रमाण ही ग्रहण करना चाहिये। यथा—

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते ।
आज्ञा सिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान्से कहा हुआ पदार्थ सूक्ष्म है उस तत्त्वका हेतुओंद्वारा खण्डन नहीं हो सक्ता, इस लिये आज्ञा प्रमाण ही उसे ग्रहण करना चाहिये। जिनेन्द्र देव (सर्वज्ञ वीतरागी) अन्यथावादी नहीं है। उपर्युक्त कथनानुसार दृढ़प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शनका चिन्ह है।

सूक्ष्म पदार्थ—

तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः
अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥ ४८३ ॥

अर्थ—धर्म द्रव्य, आदिक पदार्थ सूक्ष्म हैं, कालाणु भी सूक्ष्म हैं और पुद्गल-परमाणु भी सूक्ष्म हैं। इनका हेतु [जतलानेवाला कोई चिन्ह (हेतु)] इन्द्रियोंसे नहीं दीखता इसलिये ये सूक्ष्म हैं।

अन्तरित और दूरार्थ—

अन्तरिता यथा द्वीपसरिन्नाथनगाधिपाः ।
दूरार्था भाविनोतीता रामरावणचक्रिणः ॥ ४८४ ॥

अर्थ—द्वीप, समुद्र, पर्वत आदि पदार्थ अंतरित हैं क्योंकि इनके बीचमें बहुतसी चीजें आगई हैं इसलिये ये दीख नहीं सकते। तथा राम, रावण, चक्रवर्ती (बलभद्र अर्ध-चक्री चक्री) जो हो गये हैं और जो होने वाले हैं वे दूरार्थ (दूरवर्ती पदार्थ) कहलाते हैं।

मिथ्यादृष्टि सदा संदिग्ध ही रहता है—

न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां काप्यसंशयम् ।
संशयस्यादिहेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात्सतः ॥ ४८५ ॥

अर्थ—इन सूक्ष्म, अंतरित और दूरवर्ती पदार्थोंका संशय रहित ज्ञान मिथ्यादृष्टिको कभी नहीं होसक्ता क्योंकि संशयका मूल कारण दर्शनमोहनीयका उदय है और वह उसके मौजूद है।

आशङ्का—

नचाशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः ।
तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षकस्याप्यसंभवात् ॥ ४८६ ॥

अर्थ—वे परोक्ष पदार्थ सम्यग्दृष्टिके विषय कैसे हो सकते हैं ? क्योंकि उनके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध ही असंभव है ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये ।

क्योंकि—

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं दृश्यते महत् ।
यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥ ४८७ ॥

अर्थ—परोक्ष पदार्थोंके बोध करनेमें भी सम्यग्दर्शनका बड़ा भारी माहात्म्य है । सम्यग्दृष्टिको इस जगत्का ज्ञान आस्तिक्य—बुद्धि पूर्वक होजाता है ।

स्वभाव—

नासंभवमिदं यस्मात् स्वभावोऽतर्कगोचरः ।
अतिवागतिशयः सर्वो योगिनां योगशक्तिवत् ॥ ४८८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी आस्तिक्य बुद्धिपूर्वक जगतभरका ज्ञान कर लेता है, यह बात असंभव नहीं है । क्योंकि सम्यग्दर्शनका स्वभाव ही ऐसा है । स्वभावमें तर्कणा हो नहीं सक्ती, योगियोंकी योगशक्तिकी तरह यह सब अतिशय बचनोंसे बाहर है ।

भावार्थ—जिस प्रकार अग्निकी उष्णतामें तर्कणा करना "अग्नि गरम क्यों है" व्यर्थ है, क्योंकि अग्निका स्वभाव ही ऐसा है । किसीके स्वभावमें क्या तर्क वितर्क की जाय, यह एक स्वाभाविक बात है । इसी प्रकार सम्यग्दर्शनका स्वभाव ही ऐसा है कि उसकी बुद्धिमें यथार्थ पदार्थ, आस्तिक्य पुरस्सर ही स्थान पाजाते हैं । जिस प्रकार योगियोंकी योगशक्तिका दूसरोंको पता नहीं चलता कि उसका कहां तक माहात्म्य है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनका माहात्म्य भी मिथ्यादृष्टिकी समझमें नहीं आसक्ता ।

सम्यग्दृष्टिका अनुभव—

अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञानं सम्यग्दृगात्मनः ।
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं शुद्धं सिद्धास्पदोपमम् ॥ ४८९ ॥

अर्थ—आत्माका अनुभव करानेवाला ज्ञान सम्यग्दृष्टिको है । सम्यग्दृष्टिका स्वसंवेदन प्रत्यक्ष शुद्ध है और सिद्धोंकी उपमावाला है ।

अनुभवकी योग्यता—

यत्रानुभूयमानेपि सर्वैराबालमात्मनि ।
मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूतिः शरीरिणाम् ॥ ४९० ॥

अर्थ—बालकसे लेकर सभीको उस शुद्धात्माका अनुभव होसक्ता है। परन्तु मिथ्या कर्मके उदयसे जीवोंको अनुभव नहीं होता है।

भावार्थ—शुद्धात्मवेदन शक्ति सभी आत्माओंमें अनुभूयमान (अनुभव होने योग्य) है। परन्तु मिथ्यात्वके उदयसे जीवोंमें उसका अनुभव नहीं होता। क्योंकि मिथ्यात्वका उदय उसका बाधक है।

शक्तिकी अपेक्षा भेद नहीं है—

सम्यग्दृष्टेः कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोस्ति वस्तुनि ।
न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥ ४९१ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीको वस्तुमें स्वादुभेद होता है परन्तु दोनोंमें वास्तविक भेद कुछ नहीं है। क्योंकि आत्मायें दोनोंकी समान हैं। वस्तु सीमाका उल्लंघन कभी नहीं होता।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी वस्तुका स्वरूप जानता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि उस वस्तुको जानकर मिथ्यादर्शनके उदयसे उसमें इष्ट–अनिष्ट बुद्धि रखता है। इतना ही नहीं किन्तु मिथ्यात्व वश वस्तुका उलटा ही बोध करता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टीके वस्तु स्वादमें भेद है। परन्तु वास्तवमें उन दोनोंमें कोई भेद नहीं। दोनोंकी आत्मायें समान हैं और दोनों ही अनन्त गुणोंको धारण करनेवाले हैं। केवल पर–निमित्तसे भेद होगया है।

अत्र तात्पर्यमेवैतत्तत्त्वैकत्वेपि यो भ्रमः ।
शङ्कायाः सोऽपराधोऽस्ति सातु मिथ्योपजीविनी ॥ ४९२ ॥

अर्थ—यहां पर तात्पर्य इतना ही है कि तत्त्व (सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टी) दोनोंकी आत्माओंके समान होने पर तथा विषयभूत पदार्थके भी एक होने पर जो मिथ्यादृष्टीको भ्रम होता है वह शंकाका अपराध है, और वह शंका मिथ्यात्वसे होनेवाली है।

शङ्काकार—

ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् ।
सा शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥ ४९३ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जो मनुष्योंको मिथ्या अनुभव होता है वह शंकासे होने वाला दोष है। वह शङ्का भी किस न्यायसे मिथ्यात्वसे होनेवाली है ?

उत्तर—

अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्युतः ।
नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः स सप्तभिर्भयैर्मनाक् ॥ ४९४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त शंकाका उत्तर यह है कि जो मिथ्यादृष्टी है उसीको ही सात प्रकारके भय हुआ करते हैं। जो सम्यग्दृष्टी है उसे कोई भी भय थोड़ासा भी नहीं छूपाता।

भावार्थ—मिथ्यादृष्टीको ही भय लगे रहते हैं। इसलिये उसे ही भयोंके निमित्तसे शङ्का पैदा होती है। इसलिये मिथ्यात्वसे ही शंका होती है यह बात सिद्ध हुई।

भय कब होता है—

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी।
भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥ ४९५ ॥

अर्थ—पर पदार्थोंमें आत्माका अनुभव होनेसे भय होता है विना पर पदार्थमें आपा समझे भय किसी प्रकार नहीं हो सक्ता इसलिये जो वैभाविक पर्यायमें ही मूढ़ हो रहे हैं उन्हींको भय लगता है। जिन्होंने आत्मतत्त्वको अच्छी तरह समझ लिया है उन्हें कभी भय नहीं लगता।

भावार्थ—कर्मके निमित्तसे होनेवाली शारीरादिक पर्यायोंको ही जिन्होंने आत्म तत्त्व समझ लिया है, उन्हें ही मरने, जीने आदिके अनेक भय होते हैं, परन्तु जो आत्मतत्त्व-की यथार्थताको जानते हैं उन्हें पर–शरीरादिमें बाधा होनेपर भी उससे भय नहीं होता।

ततो भीत्यानुमेयोस्ति मिथ्याभावो जिनागमात्।
सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतुः स्वानुभवक्षतेः ॥ ४९६ ॥

अर्थ—इसलिये भय होनेसे ही मिथ्या–भावका अनुमान किया जाता है। वह भय आत्मानुभवके क्षयका कारण है। यह बात जिनागमसे प्रसिद्ध है।

भवार्थ—बिना स्वात्मानुभवके क्षय हुए भय होता नहीं। इसलिये भयसे स्वात्मानु-भूतिके नाशका अनुमान करलिया जाता है। जिनके स्वानुभव है उन्हें भय नहीं लगता।

निष्कर्ष—

अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः।
स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसंभवात् ॥ ४९७ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि जो भय सहित है और पराधीन है, वह आत्मानुभवसे गिरा हुआ है। परन्तु जो स्वस्थ है वह आत्मानुभवशील है, उसको भीति (भय) का होना असंभव ही है।

भावार्थ—इस कथनसे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सम्यग्दृष्टीको भय लगता ही नहीं। क्या सम्यग्दृष्टी शेरसे नहीं डरेगा? क्या सर्पसे नहीं डरेगा? अवश्य डरेगा। परन्तु जिन भीतियोंके कारण मिथ्यादृष्टी सदा व्याकुल रहता है, उनसे सम्यग्दृष्टी सर्वथा दूर है। उन भीतियोंके नाम आगे आंयगे।

शङ्काकार—

ननु सन्ति चतस्रोपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् ।
अर्वाक् च तत्परिच्छेदस्थानादस्तित्वसंभवात् ॥ ४९८ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि किसी२ सम्यग्दृष्टीके भी चारों (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह) ही संज्ञायें होती हैं। जहां पर उन संज्ञाओंकी समाप्ति बतलाई गई है उससे पहले२ उनका अस्तित्व होना संभव ही है ?

पुनः शङ्काकार—

तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि ।
अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रयत्नवान् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जब सम्यग्दृष्टीके चारों संज्ञायें पाई जाती हैं तो फिर वह सम्यग्दर्शनका धारी होने पर भी सर्वदा निर्भीक किस प्रकार कहा जा सक्ता है और अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होने पर वह उनसे बचनेके लिये प्रयत्न भी करता है। वह बात प्रत्यक्ष देखते ही हैं ?

उत्तर—

सत्यं भीकोपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः ।
रूपि द्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥ ५०० ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि सम्यग्दृष्टीके चारों संज्ञायें हैं और वह भयभीत भी है। परन्तु वह उन संज्ञाओंका अपनेको स्वामी नहीं समझता है, किन्तु उन्हें कर्मजन्य उपाधि समझता है। जिस प्रकार द्रव्यचक्षु (द्रव्येन्द्रिय) रूपी द्रव्यको देखता हुआ भी वास्तवमें नहीं देखता है।

भावार्थ—जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि चारों संज्ञाओंमें तल्लीन होकर अपनेको उनका स्वामी समझता है, अर्थात् आहारादिको अपना ही समझता है उस प्रकार सम्यग्दृष्टि नहीं समझता, किन्तु उन्हें कर्मका फल समझता है। लोकमें द्रव्यचक्षु पुद्गलको देखनेवाला दीखता है परन्तु वास्तवमें देखनेवाली भावेन्द्रिय है।

कर्मका प्रकोप—

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः ।
मुह्यन् रज्यन् द्विषँस्तत्र तत्फलेनोयुज्यते ॥ ५०१ ॥

अर्थ—संसारि जीवोंके कर्म-परमाणु उदयमें आते रहते हैं। उनके फलमें यह जीव मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है और तल्लीन होजाता है।

एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनात् ।
देशतोप्यत्र मूर्च्छायाः शङ्काहेतोरसंभवात् ॥ ५०२ ॥

अर्थ—इसी कारण सम्यज्ञानी निःशंक है। यह बात न्यायसे सिद्ध है। सम्यज्ञानीमें एक देश भी मूर्छा (ममता—अपनापन) नहीं है इसलिये शंकाका कारण ही वहां असंभव है।

स्वात्मसंचेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते ।
येन कर्मापि कुर्वाणः कर्मणा नोपयुज्यते ॥ ५०३ ॥

अर्थ—उस सम्यज्ञानीकी स्वात्मचेतना (स्वात्मविचार—ज्ञानचेतना) कैसी विचित्र है, अब उसीका विचार किया जाता है। उसी चेतनाके कारण वह कर्म (कार्य) करता भी है, तो भी उससे तल्लीन नहीं होता।

सात भयोंके नाम—

तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वै वेदनाभयम् ।
चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥ ५०४ ॥
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकं ततः ।
क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥ ५०५ ॥

अर्थ—पहला—इस लोकका भय, दूसरा—परलोकका भय, तीसरा—वेदना भय, चौथा—अरक्षा भय, पांचवां—अगुप्ति भय, छठवां—मरण भय और सातवां—आकस्मिक भय। ये क्रमसे सात—भीति बतलाई हैं।

इस लोककी भीति—

तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि ।
इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः ॥ ५०६ ॥

अर्थ—उन सातों भीतियोंमें "मेरे इष्ट पदार्थका तो नाश न हो और मुझे 'अनिष्ट पदार्थका समागम भी न हो ऐसा इस जन्ममें विलाप करना" इस लोक संबंधी पहिली भीति है।

और भी—

स्थास्यतीदं धनं नोवा दैवान्माभूद्दरिद्रता ।
इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽदृगात्मनः ॥ ५०७ ॥

अर्थ—यह धन ठहरेगा या नहीं, दैवयोगसे दरिद्रता कभी नहीं हो। इत्यादि व्याधि-चिंता मिथ्यादृष्टीको जलानेके लिये जलती ही रहती है।

निष्कर्ष—

अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् ।
यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥ ५०८ ॥

अर्थ—अर्थात् अज्ञानी पुरुषको ही भय लगता है। ज्ञानी पुरुषको थोड़ा भी भय

नहीं लगता। पारिशेषानुमानसे (फलवतात्) यह बात सिद्ध होती है कि ज्ञानी और अज्ञानी-में बड़ा भारी अन्तर है। इसका कारण वही मोहनीय कर्म है।

अज्ञानीके विचार—

अज्ञानी कर्मनोकर्मभावकर्मात्मकं च यत् ।
मनुते सर्वमेवैतन्मोहाद्द्वैतवादवत् ॥ ५०९ ॥

अर्थ—अज्ञानी जीव, द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म सभीको मोहसे अद्वैतवादकी तरह अर्थात् आत्मासे अभिन्न ही समझता है।

और भी—

विश्वाद्भिन्नोपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा ।
भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ॥ ५१० ॥

अर्थ—आत्माका नाश करनेवाला--अज्ञानी जीव यद्यपि जगसे भिन्न है, तो भी जगत्को अपना ही बनाता है और विश्वमय बनकर लोकमें कभी भी भयको नहीं छोडता, वह सदा भयभीत ही बना रहता है।

सारांश—

तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणः पाकसंभवात् ।
नित्यबुद्ध्या शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति सः ॥ ५११ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका सारांश इतना ही है कि अज्ञानी पुरुष कर्मके उदय वश सर्वथा अनित्य शरीर--आदि पदार्थोंमें नित्यबुद्धि रखकर भ्रम करता हुआ भय करने लगता है।

ज्ञानीके विचार—

सम्यग्दृष्टिः सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव ।
यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥ ५१२ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी पुरुष सदा अपनेको अकेला ही समझता है और जितना भी कर्मका विकार है, उससे अपनी आत्माको भिन्न, शुद्ध और चैतन्यस्वरूप समझता है।

और भी—

शरीरं सुखदुःखादि पुत्रपौत्रादिकं तथा ।
अनित्यं कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति यः ॥ ५१३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी समझता है कि शरीर, सुख, दुःख आदिक पदार्थ और पुत्र, पौत्र आदिक पदार्थ अनित्य हैं, ये सब कर्मके निमित्तसे हुए हैं, और इसीलिये ये आत्म स्वरूप नहीं हैं।

और भी--

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नूनं नित्योस्ति सोऽर्थतः ।
नाऽपरोऽलौकिको लोकस्ततो भीतिः कुतोऽस्ति मे ॥ ५१४ ॥

अर्थ--वह समझता है कि लोक यह है ? मेरा तो निश्चयसे आत्मा ही लोक है और वह मेरा आत्मा-लोक वास्तवमें नित्य है । तथा मेरा कोई और अलौकिक लोक नहीं है इसलिये मुझे किससे भय होसक्ता है ?

निष्कर्ष--

स्वात्मसंचेतनादेवं ज्ञानी ज्ञानैकतानतः
इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥ ५१५ ॥

अर्थ--ज्ञानमें ही तल्लीन होनेसे ज्ञान चेतना द्वारा ही सम्यग्ज्ञानी इसलोक सम्बन्धी भयसे रहित है और इसीलिये वह कर्म बन्धनसे भी रहित है ।

परलोकका भय--

परलोकः परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् ।
ततः कम्प इव त्रासो भीतिः परलोकतोऽस्ति सा ॥ ५१६ ॥

अर्थ--आगामी जन्मान्तरको प्राप्त होनेवाले-परभव सम्बन्धी आत्माका नाम ही परलोक है । उस परलोकसे-कपाँने वाला दुःख होता है और वही परलोक-भीति कहलाती है।

परलोक भय--

भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ ।
इत्याद्याकुलितं चेतः साध्वसं पारलौकिकम् ॥ ५१७ ॥

अर्थ--यदि स्वर्ग-लोकमें जन्म हो तो अच्छा है, बुरी गतिमें मेरा जन्म न हो । इत्यादि रीतिसे जो चित्तकी व्याकुलता है उसीका नाम पारलौकिक भय है ।

परलोक भयका स्वामी--

मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् ।
तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्क्षयत्ययात् ॥ ५१८ ॥

अर्थ--मिथ्यादृष्टीके मिथ्या भावोंसे परलोक सम्बन्धी भय होता रहता है, परन्तु सम्यग्दृष्टिके ऐसा भय नहीं होता क्योंकि उसके मिथ्यात्व कर्मका उदय नहीं है । कारणके अभावमें कार्य भी नहीं होसक्ता ।

मिथ्यादृष्टि--

बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिकः ।
स्वं समासादयत्यज्ञः कर्म कर्मफलात्मकम् ॥ ५१९ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी अपने आत्माको नहीं पहचानता है क्योंकि मिथ्यात्व ही उसका एक क्षेत्र है । वह मूर्ख, कर्म और कर्मके फल स्वरूप ही अपनेको समझता है ।

ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव ।
मनुते मृगतृष्णायामम्भोभारं जनः कुधीः ॥ ५२० ॥

अर्थ—इसलिये वह सदा भयभीत रहता है सदा भ्रान्तसा रहता है और वह कुबुद्धि मिथ्यादृष्टी पुरुष मृगतृष्णामें (सफेद रेतीली जमीनमें) ही जल समझता है ।

सम्यग्दृष्टी—

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः ।
भीतिहेतोरिहावश्यं भ्रान्तेरत्राप्यसंभवात् ॥ ५२१ ॥

अर्थ—अन्तरात्मा (सम्यग्दृष्टी) तो सदा निर्भय रहता है, क्योंकि वह निर्भय स्थान (आत्मतत्त्व) पर पहुंच चुका है । इसीलिये भयका कारण--भ्रान्ति भी उसके असंभव है अर्थात् सम्यग्दृष्टीको भ्रमबुद्धि भी नहीं होती ।

मिथ्यादृष्टी—

मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः ।
यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद्द्रवत्यधीः ॥ ५२२ ॥

अर्थ—जो मिथ्या--भ्रम होता है और जो अयथार्थ (अन्य वस्तुका) श्रद्धान होता है वह मिथ्यादृष्टीके ही होता है । जिस प्रकार अन्धकारके कारण रस्सीमें सर्पका निश्चय होनेसे डर लग जाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टी सदा मोहान्धकारके कारण डरता ही रहता है ।

सम्यग्दृष्टी—

स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् ।
स बिभेति कुतो न्यायादन्यथाऽभवनादिह ॥ ५२३ ॥

अर्थ—जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूप ज्योतिको अपनेसे अभिन्न समझता है, वह (सम्यग्दृष्टी) किस न्यायसे डरेगा । उसे निश्चय है कि अन्यथा कुछ नहीं होसकता, अर्थात् वह आत्माको सदा अविनश्वर समझता है इसलिये किसीसे नहीं डरता ।

वेदना—भय—

वेदनाऽऽगन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ ।
भीतिः प्रागेव कम्पः स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम् ॥ ५२४ ॥

अर्थ—शरिरमें वात, पित्त, कफ, इन तीन मलोंका कोप होनेसे आनेवाली जो बाधा

है, उसीका नाम वेदना है। उस आनेवाली वेदनासे पहले ही कंप होने लगता है वही वेदना–भय है अथवा मोहबुद्धिसे विलापका होना भी वेदना भय है।

उल्लाघोहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित्।
मूर्च्छैव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥ ५२५ ॥

अर्थ—मैं नीरोग होजाऊं, मुझे वेदना कभी भी नहीं हो इस प्रकार बार बार चिंतवन करना ही वेदना--भय है, अथवा मूर्छा (मोह बुद्धि) ही वेदना भय है।

वेदना भयका स्वामी--

अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः।
नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥ ५२६ ॥

अर्थ—वह वेदना भय मिथ्यादर्शनके कारण नियमसे मिथ्यादृष्टीके ही होता है। अज्ञानसे होने वाला कह वेदना--भय सदा नीरोगी ज्ञानीके कभी नहीं होता।

सम्यग्दृष्टिके विचार--

पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम्।
व्याधिः सर्वो शरीरस्य नाऽमूर्तस्येति चिन्तनम् ॥ ५२७ ॥

अर्थ—मेरा ज्ञानमय–आत्मा ही स्थान है और वह पुद्गलसे सर्वथा भिन्न है। इसलिये मुझे कोई व्याधि (रोग) नहीं होसकती। फिर मुझे भय किसका ? जितनी भी व्याधियां हैं सभी शरीरको ही होती हैं, अमूर्त–आत्माको एक भी व्याधि नहीं होसक्ती। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि सदा चिन्तवन करता रहता है।

और भी--

यथा प्रज्वलितो वन्हिः कुटीरं दहति स्फुटम्।
न दहति तदाकारमाकाशमिति दर्शनात् ॥ ५२८ ॥

अर्थ—जैसे–बहुत जोरसे जलती हुई अग्नि मकानको जला देती है, परन्तु मकानके आकारमें आया हुआ जो आकाश है उसे नहीं जला सक्ती, यह बात प्रत्यक्ष–सिद्ध है।

भावार्थ—जिस प्रकार आकाश अमूर्त पदार्थ है वह किसी प्रकार जल नहीं सक्ता, उसी प्रकार आत्मा भी अमूर्त पदार्थ है उसका भी नाश नहीं होसक्ता। यह सम्यग्दृष्टीका विचार है।

और भी--

स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु।
नादरो यस्य सोस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥ ५२९ ॥

अर्थ—वर्तमानमें प्राप्त जो स्पर्शनादि इन्द्रियोंके विषय हैं अथवा जो आगामी मिलने वाले हैं, उनमें जिसका आदर नहीं है, वही (सम्यग्दृष्टी) वास्तवमें वेदना—भयसे निडर है।

व्याधिस्थानेषु तेष्वैनाऽसिद्धोऽनादरो मनाक्।
बाधाहेतोः स्वतस्तेषामाभयस्याविशेषतः ॥ ५३० ॥

अर्थ—इन्द्रियोंके विषय, व्याधियोंके मुख्य स्थान हैं क्योंकि वे बाधाके कारण हैं। इसलिये उनमें रोगसे कोई विशेषता नहीं है अर्थात् आत्माको दुःख देनेवाले रोग इन्द्रियोंके विषय हैं।

अत्राण (अरक्षण) भय—

अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत्।
नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमताऽऽत्मनः ॥ ५३१ ॥

अर्थ—सर्वथा क्षणिक मानने वाला बौद्ध दर्शन है वह चित्तका क्षणमात्रमें नाश मानता है। चित्त पदसे आत्मा समझना चाहिये। जिसप्रकार वह आत्माको क्षण नाशी मानता है उसी प्रकार अन्यान्य सभी पदार्थोंको भी क्षण—विनाशी मानता है। साथमें चित्त-सन्तति मानता है। आत्मा नाशवाला है परन्तु उसकी सन्तान बराबर चलती रहती है। ऐसा बौद्ध सिद्धान्त है परन्तु जैन सिद्धान्त ऐसा सर्वथा नहीं मानता वह पर्यायकी अपेक्षा आत्मा तथा इतर पदार्थोंका नाश मानता है किंतु द्रव्यकी अपेक्षासे सभीको नित्य मानता है। परन्तु मिथ्यादृष्टी इससे उलटा ही समझता है। जिस समय मनुष्य पर्यायका नाश तो नहीं हुआ है, परन्तु धीरे २ आयु कम हो रही है ऐसी अवस्थामें वह (मिथ्यादृष्टी) उसकी रक्षा तो कर नहीं सक्ता, परन्तु नाशका भय उसे बराबर लगा रहता है। उसीका नाम अत्राण—भय (अरक्षा—भय) है।

मिथ्यादृष्टिका विचार—

भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोन्वयात्।
मिथ्यात्वैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥ ५३२ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी समझता है कि धीरे २ आत्माकी पर्यायोंका नाश होनेसे संभव है कि कभी सम्पूर्ण आत्माका ही नाश हो जाय। क्योंकि सन्तानके नाशसे सन्तानीके नाशका भी डर है। इस प्रकारका भय मिथ्यादृष्टीको पहलेसे ही हुआ करता है। इसमें कारण केवल मिथ्यात्वकर्मका उदय ही है ऐसा भय नियमसे मिथ्यादृष्टीको ही होता है सम्यग्दृष्टीको कभी नहीं होता।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टिने आत्माका स्वरूप अच्छी तरह समझ लिया है, इतना ही नहीं किन्तु स्वात्मसंवेदन जनित सुखका भी वह स्वाद लेचुका है इसलिये उसे ऐसी मिथ्या भ्रान्ति कि आत्मा भी कभी नष्ट होजायगा कभी नहीं हो सक्ती ।

शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयात् ।
तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥ ५३३ ॥

अर्थ—वास्तवमें पर्यायका नाश होनेपर भी आत्मसत्ताकी शृंखला सदा रहेगी और वह आत्मसत्ता ही शरण है परन्तु मूर्ख--मिथ्यादृष्टि इस बातको नहीं मानता हुआ अत्राण भय (आत्माकी रक्षा कैसे हो इस भयसे) सदा दुःखी रहता है ।

सम्यग्दृष्टी--

सदृष्टिस्तु चिदंशैः स्वैः क्षणं नष्टे चिदात्मनि ।
पश्यन्नष्टमिवात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतितः ॥ ५३४ ॥

अर्थ--सम्यग्दृष्टी तो आत्माको पर्यायकी अपेक्षासे नाश मानता हुआ भी अत्राण भयसे सदा निडर रहता है । वह आत्माको नाश होती हुई सी देखता है तथापि वह निडर है ।

सिद्धान्त कथन--

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावतः ।
नाऽत्राणमंशतोप्यत्र कुतस्तद्धि महात्मनः ॥ ५३५ ॥

अर्थ—इस आत्माका अथवा इस संसारमें किसी भी पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे अंशमात्र भी अरक्षण (नाश) नहीं होता है तो फिर महान् पदार्थ आत्मा--महात्माका नाश कैसे हो सक्ता है ?

अगुप्ति भय-

दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिः यस्यचैकान्तवादिनी ।
तस्यैवागुप्ति भीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥ ५३६ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयके उदयसे जिसकी बुद्धि एकान्तकी तरफ झुक गई है उसीके अगुप्ति--भय होता है । जिसके दर्शनमोहनीयका उदय नहीं हैं उसके कभी भी ऐसी बुद्धि नहीं होती ।

मिथ्यादृष्टी—

असज्जन्म सतोनाशं मन्यमानस्य देहिनः ।
कोवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात् ॥ ५३७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य असत् पदार्थकी उत्पत्ति मानता है और सत् पदार्थका नाश मानता है तथा फिर अगुप्ति–भयसे छूटना चाहता है वह ऐसा मानने वाला अगुप्ति भयसे कहां छुटकारा पा सक्ता है ?

सम्यग्दृष्टी—

सम्यग्दृष्टिस्तु स्वरूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् ।
निर्भयोऽगुप्तितो भीतेः भीतिहेतोरसंभवात् ॥ ५३८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि तो वस्तुके स्वरूपको निश्चयरीतिसे रक्षित ही मानता है, वह भयके कारणको ही असंभव मानता है इसलिये वह अगुप्ति–भीतिसे निर्भय रहता है ।

मृत्यु भय—

मृत्युः प्राणात्ययः प्राणाः कायवागिन्द्रियं मनः ।
निःश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥ ५३९ ॥

अर्थ—प्राणोंका नाश होना ही मृत्यु है । काय, वचन, पांच इन्द्रिय, मन, निःश्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण हैं । ये दश प्राण विस्तार रूप हैं । यदि इन्हींको संक्षेपमें कहा जाय तो बल (काय, वचन, मन) इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और आयु, ऐसे चार प्राण हैं।

तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित् ।
कदा लेभे न वा दैवात् इत्याधिः स्वे तनुव्यये ॥ ५४० ॥

अर्थ—मृत्यु-भय इस प्रकार होता रहता है कि मैं जीता रहूं, मैं कभी नहीं मरूँ, अथवा दैवयोगसे कभी मर न जाऊं, इत्यादि पीडा अपने शरीरके नष्ट होनेके भयसे होती रहती है ।

मृत्यु भयका स्वामी—

नूनं तद्भीः कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् ।
अन्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुतः ॥ ५४१ ॥

अर्थ—निश्चयसे मृत्यु भय तत्त्वको नहीं पहचानने वाले मिथ्यादृष्टियोंको ही सदा बना रहता है । जिन्होंने आत्माके स्वरूपमें ही अपनी वृत्तियोंको लगा रक्खा है ऐसे सम्यग्ज्ञानियोंको मृत्यु भय कहांसे होसकता है ?

सम्यग्दृष्टीको मृत्यु भय क्यों नहीं ?

जीवस्य चेतना प्राणाः नूनं सात्मोपजीविनी ।
नार्थान्मृत्युरतस्तद्भीः कुतः स्यादिति पश्यतः ॥ ५४२ ॥

अर्थ—जीवके चेतना ही प्राण हैं । वह चेतना निश्चयसे आत्मोपजीविनी (आत्माका उपजीवी गुण) है । ऐसा देखनेवाला मृत्यु होना ही नहीं समझता, फिर मृत्यु–भय उसे कहांसे हो सकता है ?

आकस्मिक-भय—

अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् ।
तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥ ५४३ ॥

अर्थ—जो भय अकस्मात् (अचानक) होजाता है उसे आकस्मिक भय कहते हैं। वह बिजली आदिके गिरनेसे प्राणियोंका नाश होना आदि रूपसे होता है।

भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूदौस्थ्यं कदापि मे ।
इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा ॥ ५४४ ॥

अर्थ—आकस्मिक भय इस प्रकार होता है कि सदा मैं स्वस्थ बना रहूं, मुझे अस्वस्थता कभी न हो। इस प्रकार आकुल चित्तवाला मानसिक चिन्तासे पीडित रहता है।

इसका स्वामी—

अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः ।
कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युतेः ॥ ५४५ ॥

अर्थ—आकस्मिक भय मिथ्यादृष्टीको ही होता है क्योंकि वह निर्भीक स्थानसे गिरा हुआ है और सदा भयभीत रहता है। फिर भला उसे मोक्ष कहांसे होसक्ती है।

निर्भीकैकपदो जीवो स्यादनन्तोप्यनादिसात् ।
नास्ति चाकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छतः ॥ ५४६ ॥

अर्थ—जीव सदा निर्भीक स्थानवाला है, अनन्त है, और अनादि भी है। उस निर्भीकस्थानको चाहनेवाले जीवको आकस्मिक भय कभी नहीं होता? क्योंकि अनादि अनन्त जीवमें आकस्मिक घटना हो ही क्या सकती है?

निःकांक्षित अंग—

कांक्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृतेऽमुष्य क्रियासु वा ।
कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥ ५४७ ॥

अर्थ—जो काम किये जाते हैं उनसे पर लोकके लिये भोगोंकी चाहना करना इसीका नाम कांक्षा है। अथवा कर्म और कर्मके फलमें आत्मीय-भाव रखना अथवा मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशंसा करना आदि सब कांक्षा कहलाती है।

कांक्षाका चिन्ह—

हृषीकारुचितेष्वैरुद्वेगो विषयेषु यः ।
स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिंगं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥ ५४८ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंको रुचिकर विषय नहीं हैं, उनमें बहुत दुःख करना, बस यही

भोगोंकी अभिलाषाका चिन्ह है । क्योंकि इन्द्रियोंके अरुचिकर विषयोंमें दुःख प्रकट करनेसे अपने अभीष्ट पदार्थोंमें राग अवश्य होगा ।

रागद्वेष दोनों सापेक्ष हैं—

तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षेप्यरतिं विना ।
नारतिर्वा स्वपक्षेपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥ ५४९ ॥

अर्थ—विपक्षमें विना द्वेष हुए स्व-पक्षमें राग नहीं होता है और विपक्षमें विना राग हुए स्वपक्षमें द्वेष नहीं होता है ।

भावार्थ—राग और द्वेष, दोनों ही सापेक्ष हैं । एक वस्तुमें जब राग है तो दूसरीमें द्वेष अवश्य होगा अथवा दूसरीमें जब राग है तब पहलीमें द्वेष अवश्य होगा । रागद्वेष दोनों ही सहभावी हैं । इसी प्रकार इन्द्रियोंके किसी विषयमें द्वेष करनेसे किसीमें राग अवश्य होगा ।

सहयोगिताका दृष्टान्त—

शीतद्वेषी यथा कश्चित् उष्णस्पर्शं समीहते ।
नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥ ५५० ॥

अर्थ—जैसे कोई शीतसे द्वेष करनेवाला है तो वह उष्णस्पर्शको चाहता है । जो उष्णस्पर्शकी अभिलाषा रखता है वह शीतस्पर्शको नहीं चाहता ।

कांक्षाका स्वामी—

यस्यास्ति कांक्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिर्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ५५१ ॥

अर्थ—जिसके कांक्षित (भोगाभिलाषा) भाव है वह नियमसे मिथ्यादृष्टी है । जिसके वह भाव नहीं है वह सम्यग्दृष्टी है । यह बात स्वानुभव, युक्ति और आगम तीनोंसे सिद्ध है ।

मिथ्यादृष्टीकी भावना—

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्रभोगाभिलाषतः ।
स्वार्थसार्थैकसंसिद्धि र्न स्यान्नामैहिकात्परम् ॥ ५५२ ॥

अर्थ—परलोकमें भोगोंकी अभिलाषासे इष्ट पदार्थोंका संयोग मिले यह भावना तो मिथ्यादृष्टिके लगी ही रहती है परंतु वह यह भी समझता है कि अपने समग्र अभीष्टोंकी सिद्धि इसलोकके सिवा कहीं नहीं है अर्थात् जो कुछ सुख सामग्री है वह यही (सांसारिक) है, इससे बढ़कर और कहीं नहीं है ।

निःसारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः ।
जन्तोरुन्मत्तवच्चापि नार्थनीतोत्तरङ्गवत् ॥ ५५३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टीको ऐसी ऐसी (जो कुछ है सो इसी संसारमें है) निस्सार भावनायें मिथ्या कर्मके उदयसे आया करती हैं। वे ऐसी ही हैं जैसे कि किसी उन्मत्त (पागल) आदमी-को हुआ करती हैं। वायुसे हिलोरा हुआ समुद्र जिस प्रकार तरंगोंसे उछलने लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्त्वके उदयसे मिथ्यादृष्टी अज्ञानभावोंसे उछलने लगता है।

शङ्काकार—

ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते।
भोगाकांक्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत्॥ ५५४॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि बिना किसी कार्यको लक्ष्य किये मन्द पुरुष भी किसी काममें नहीं लगता है तो फिर विशेष ज्ञानी–सम्यग्ज्ञानी बिना भोगोंकी चाहनाके कैसे व्रतोंको धारण करता है?

फिर भी शङ्काकार—

नासिद्धं बन्धमात्रत्वं क्रियायाः फलमद्वयम्।
शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाऽशुभावहम्॥ ५५५॥
नचाऽऽशङ्क्यं क्रियाप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित्।
दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेपि विरागवत्॥ ५५६॥
यतः सिद्धं प्रमाणाद्धै नूनं बन्धफला क्रिया।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्योऽवश्यं तद्धेतुसंभवात्॥ ५५७॥
सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया।
अस्ति बन्धफलाऽवश्यं मोहस्यान्यतमोदयात्॥ ५५८॥
न वाच्यं स्यादात्मदृष्टिः कश्चित् प्रज्ञापराधतः।
अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन्॥ ५५९॥
यतः प्रज्ञाविनाभूतमास्ति सम्यग्विशेषणम्।
तस्याश्चाऽभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः॥ ५६०॥

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि जितनी भी क्रियायें की जाती हैं सबोंका एक बन्ध होना ही फल है। यह बात भली भांति सिद्ध है। यदि वह शुभ क्रिया है तो उसका फल शुभरूप होगा और यदि वह अशुभ है तो उसका फल भी अशुभ ही होगा। परन्तु कोई सी क्रिया क्यों न हो वह बन्ध अवश्य करेगी। ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये कि यह क्रिया कहीं पर बन्ध न करै। जिस प्रकार वीतरागी पुरुषमें क्रिया बन्धरूप फलको नहीं पैदा करती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके अतिशयके कारण सरागीमें भी बन्धफला क्रिया नहीं

होगी ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये । क्योंकि यह बात प्रमाण सिद्ध है कि सभी क्रियायें बन्धरूप फलको पैदा करने वाली हैं । क्षीणकषाय (बारहवां गुणस्थान) से पहले२ अवश्य ही बन्धका कारण संभव है ।

चाहे सरागी हो चाहे वीतरागी (क्षीणकषायसे पहले) हो दोनोंमें ही औदयिकी (उदयसे होनेवाली) क्रिया होती है और वह क्रिया अवश्य ही बन्धरूप फलको पैदा करनेवाली हैं, क्योंकि मोहनीय प्रकृतियोंमेंसे किसी एकका उदय मौजूद है इसलिये बुद्धिके दोषसे किसीको स्वानुभूतिवाला मत कहो और मत बन्ध–जनक क्रिया करनेवालेकी क्रियाको अबन्ध फला क्रिया बतलाओ । क्योंकि बुद्धिका अविनाभावी सम्यक् विशेषण है । उस सम्यक् विशेषणवाली बुद्धि (सम्यग्ज्ञान) का अभाव होनेसे दर्शनको दिव्यता–उत्कृष्टता (सम्यग्दर्शनता) कैसे आसक्ती है ?

उत्तर––

नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया ।
शुभायाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ॥ ५६१ ॥

अर्थ—शंकाकारकी उपर्युक्त शंका व्यर्थ है, क्योंकि पहले यह बात अच्छी तरह सिद्ध होचुकी है कि बिना इच्छाके भी क्रिया होती है । फिर शुभ क्रिया और अशुभ क्रियाकी क्या विशेषता बाकी रह गई ?

भावार्थ—जिस पुरुषको किसी वस्तुकी चाहना नहीं है उसके भी क्रिया होती है । तो ऐसी क्रिया शुभ–अशुभ क्रिया नहीं कहला सक्ती । क्योंकि जो शुभ परिणामोंसे की जाय वह शुभ क्रिया कहलाती है और जो अशुभ–परिणामोंसे की जाय वह अशुभ क्रिया कहलाती हैं । जहां पर क्रिया करनेकी इच्छा ही नहीं है वहां शुभ अथवा अशुभ परिणाम ही नहीं बन सक्ते ।

शंकाकार—

नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः क्रिया ।
विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा साऽनिच्छतः कथम् ॥ ५६२ ॥

अर्थ—शंकाकार कहता है कि जो क्रिया अनिष्ट पदार्थोंकी संयोगरूपा है वह तो नहीं चाहने वालेके ही होजाती है । परन्तु विशेष विशेष इष्ट पदार्थोंके संयोग करानेवाली जो क्रिया है वह नहीं चाहने वाले पुरुषके कैसे हो सक्ती है ?

पुनः शंकाकार—

सक्रियाव्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम् ।
तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात् सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥ ५६३ ॥

अर्थ—व्रत-स्वरूप जो अच्छी क्रिया है वह विना व्रत चाहने वालेके कैसे हो सक्ती है ? अर्थात् नहीं होसक्ती। व्रत रूपा क्रिया इच्छानुसार की जाती है इसलिये व्रत करनेवाला व्रत क्रियाका कर्ता है यह वात सिद्ध हुई। भावार्थ—श्रेष्ठ क्रियायें विना इच्छा किये नहीं होसक्तीं ऐसा शंकाकारका अभिप्राय है।

उत्तर—

नैवं यतोस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः।
तस्मान्नाकांक्षते ज्ञानी यावत् कर्म च तत्फलम ॥ ५६४ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है। क्योंकि जितना भी कुछ कर्मके उदय-स्वरूप है सब अनिष्ट-अर्थ है। इसलिये जितना भी कर्म और उसका फल है उसे ज्ञानी पुरुष नहीं चाहता है।

दृष्टिदोष—

यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात्।
तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात् पीतशंखावलोकवत ॥ ५६५ ॥

अर्थ—और जो प्रयोजन वश कोई पदार्थ इष्ट मान लिया जाता है अथवा कोई पदार्थ अनिष्ट मान लिया जाता है वह सब मानना दृष्टि (दर्शन) दोषसे है। जिसप्रकार दृष्टि (नेत्र) दोषसे सफेद शंख भी पीला ही दीखता है उसी प्रकार मोह बुद्धिसे कर्मोदय प्राप्त पदार्थोंमें यह मोही जीव इष्टानिष्ट बुद्धि करता है। वास्तवमें कर्मोदयसे होनेवाला सभी अनिष्ट ही है।

सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि—

दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षात् सूक्ष्मार्थदर्शिनी।
तस्याऽनिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥ ५६६ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके नाश हो जाने पर साक्षात् सूक्ष्मपदार्थोंको देखनेवाली दृष्टि (दर्शन) होजाती है। फिर सम्यग्दृष्टिकी, कर्मके फल स्वरूप अनिष्ट पदार्थोंमें अनिष्ट पदार्थ रूपा ही बुद्धि होती है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टि कर्मके उदयमात्रको ही अनिष्ट समझता है। कर्मोदयसे प्राप्त सभी पदार्थ उसकी दृष्टिमें अनिष्ट रूप ही भासते हैं।

कर्म और कर्मका फल अनिष्ट क्यों है ?

नचाऽसिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च।
सर्वतो दुःखहेतुत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ५६७ ॥

अर्थ—कर्म और कर्मका फल अनिष्ट है, यह वात असिद्ध नहीं है क्योंकि जितना भी कर्म और कर्मका फल है सभी सर्वदा दुःखका ही कारण है। यह वात युक्ति, स्वानुभव और आगमसे प्रसिद्ध है।

सभी क्रियायें अनिष्ट ही हैं—

अनिष्टफलवत्त्वात् स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया ।
दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥ ५६८ ॥

अर्थ—जितनी भी व्रत--क्रिया हैं सब अनिष्टार्थ हैं क्योंकि अनिष्ट फल वाली हैं । जिस प्रकार दुष्ट पुरुषका उपदेश दुष्ट--कार्यको पैदा करता है, उसी प्रकार यह भी दुष्ट--कार्यको उत्पन्न करने वाली हैं ।

व्रत क्रिया स्वतन्त्र नहीं है--

अथाऽसिद्धं स्वतन्त्रत्त्वं क्रियायाः कर्मणः फलात् ।
कृते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चाऽसंभवो यतः ॥ ५६९ ॥

अर्थ—पहले यह शंका की गई थी कि क्रिया स्वतन्त्र होती है, उसका कर्ता सम्यग्दृष्टि है ? सो वास्तवमें ठीक नहीं है । क्रिया कर्मके फलसे होती है अथवा कर्मका फल है । इसलिये क्रियाको स्वतन्त्र बतलाना असिद्ध है क्योंकि कर्मोदयरूप हेतुके विना क्रियाका होना ही असंभव है ।

क्रिया–औदयिकी है—

यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चाऽऽत्मनः ।
यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥ ५७० ॥

अर्थ—जिस आत्माका मोह क्षीण होगया है अथवा जिसका क्षीण नहीं हुआ है, दोनों ही की जितनी भी क्रिया हैं सभी औदयिकी अर्थात् कर्मके उदयसे होनेवाली हैं ।

पौरुषो न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति ।
न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥ ५७१ ॥

अर्थ—पुरुषका पुरुषार्थ कर्मोदयके प्रति भर सक उपयुक्त नहीं होता, और पुरुषार्थ केवल पुरुषार्थसे भी नहीं होता किन्तु दैव (कर्म) से होता है । **भावार्थ**—पुरुषार्थ कर्मसे होता है इसलिये क्रिया औदयिकी है।

निष्कर्ष—

सिद्धो निष्कांक्षितो ज्ञानी कुर्वाणोऽप्युदितां क्रियाम् ।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥ ५७२ ॥

अर्थ—यह बात सिद्ध हुई कि सम्यग्ज्ञानी उदयरूपा क्रियाको करता हुआ भी निःकांक्षित है अर्थात् आकांक्षा रहित है । विरागियोंका विना इच्छाके किया हुआ कर्म रागके लिये नहीं होता है ।

आशंका—

नाशंक्यं चास्ति निःकांक्षः सामान्योपि जनः क्वचित् ।
हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ॥ ५७३ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके अतिशय रूप हेतुको छोड़ कर कहीं दूसरी जगह सामान्य आदमी भी आकांक्षा रहित हो जाता है ? ऐसी आशंका नहीं करना चाहिये।

क्योंकि—

यतो निष्कांक्षता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना ।
नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥ ५७४ ॥

अर्थ—क्योंकि विना सम्यग्दर्शनके हुए निष्कांक्षता हो ही नहीं सकती है, यह न्याय सिद्ध है क्योंकि जो अतीन्द्रिय सुखको नहीं चाहता है उसकी इन्द्रियजन्य सुखमें अनिच्छा भी नहीं होती है ।

मिथ्यादृष्टी—

तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति ।
दृङ्मोहस्य तथा पाकः शक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥ ५७५ ॥

अर्थ—उस अतीन्द्रिय सुखको मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि नहीं चाहता है क्योंकि शक्तिका सद्भाव होनेसे दर्शन मोहनीयका निरन्तर पाक ही वैसा होता रहता है।

उक्तो निष्कांक्षितो भावो गुणः सद्दर्शनस्य वै ।
सस्तु का नः क्षतिः प्राक्चेत्परीक्षा क्षमता मता ॥ ५७६ ॥

अर्थ—निष्कांक्षित भाव कहा जाचुका, यह सम्यग्दृष्टिका ही गुण है ऐसा कहनेमें हमारी कोई हानि नहीं हैं यह परीक्षा सिद्ध बात है।

भावार्थ—परीक्षक स्वयं निश्चय कर सक्ता है कि निष्कांक्षित भाव विना सम्यग्दर्शनके नहीं हो सक्ता इस लिये यह सम्यग्दृष्टिका ही गुण है ।

निर्विचिकित्सा—

अथ निर्विकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स यः ।
अद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥ ५७७ ॥

अर्थ—अब निर्विकित्सा नामक गुण कहा जाता है। जो कि युक्ति द्वारा भी सम्यग्दृष्टिका ही एक उन्नत गुण समझा गया है।

विचिकित्सा—

आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्यां स्वात्मप्रशंसनात् ।
परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥ ५७८ ॥

अर्थ—अपनेमें अधिक गुण समझकर अपनी प्रशंसा करना और दूसरोंको हीनता सिद्ध करनेकी बुद्धि रखना विचिकित्सा मानी गई है ।

निर्विचिकित्सा—

निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः ।
गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥ ५७९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कही हुई विचिकित्सासे रहित जो भाव है वही निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है । वह सम्यग्दृष्टिका उत्तम गुण है, उसका लक्षण कहा जाता है—

दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्राऽसातादृणास्पदे ।
यन्नादयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥ ५८० ॥

अर्थ—जो पुरुष खोटे कर्मके उदयसे दुखी हो रहा है, और तीव्र असातावेदनीयक जो निन्द्यस्थान बन रहा है ऐसे पुरुषके विषयमें चित्तमें अदयाबुद्धि नहीं होना वही निर्विचिकित्सा गुण कहा गया है ।

विचार-परम्परा—

नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् ।
नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥ ५८१ ॥

अर्थ—इस प्रकारका मनमें अज्ञान नहीं होना चाहिये कि मैं सम्पत्तियोंका घर हूं और यह बिचारा दीन विपत्तियोंका घर है, यह मेरे समान नहीं हो सका ।

प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः ।
प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥ ५८२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त अज्ञान न होकर ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि कर्मके उदयसे सभी त्रस, स्थावर योनिवाले प्राणी समान हैं ।

दृष्टान्त—

यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् ।
शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥ ५८३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार शूद्रीके गर्भसे दो बालक पैदा हुए । वास्तवमें वे दोनों ही निर्भ्रान्तरीतिसे शूद्र हैं, परन्तु भ्रमात्मा उनमें भेद समझने लगता है । **भावार्थ**—ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि शूद्रीके दो बालक हुए थे । उन्होंने भिन्न २ कार्य करना शुरू किया था । एकने उच्च वर्णका कार्य प्रारम्भ किया था और दूसरेने शूद्रका ही कार्य प्रारम्भ किया था । बहुतसे मनुष्य भ्रमसे उन्हें भिन्न २ समझने लगे थे । परन्तु वास्तवमें वे दोनों ही एक जातिसे

पैदा हुए थे। इसी प्रकार कर्मकृत भेदसे जीवोंमें कुछ भ्रमशील भेद ही समझने लगते हैं। परन्तु वास्तवमें सभी आत्मायें समान हैं।

जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम्।
अहंता चाऽविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसः॥ ५८४॥

अर्थ—जलमें काईकी तरह इस जीवमें जब तक अपवित्र कर्मका सम्बन्ध है, तब तक इस कर्म–मलीन आत्माके सामान्य रीतिसे अहं बुद्धि लगी हुई है। अर्थात् इतर पदार्थोंमें इसने आपा मान रक्खा है।

निष्कर्ष—

अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सकः।
यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित्॥ ५८५॥

अर्थ—यह निर्विचिकित्सा–गुण सम्यग्दृष्टिका ही गुण है। क्योंकि सम्यग्दृष्टिमें वह अवश्य है। सम्यग्दृष्टिसे अतिरिक्त कहीं नहीं पाया जाता है।

कर्मपर्यायमात्रेषु रागिणः स कुतो गुणः।
सद्विशेषेऽपि सम्मोहाद्द्वयोरैक्योपलब्धितः॥ ५८६॥

अर्थ—जड़ और चैतन्यमें परस्पर विशेषता होनेपर भी मोहसे दोनोंको एक समझने वाला–कर्मकी पर्यायमात्रमें जो रागी होरहा है, उसके वह निर्विचिकित्सा गुण कहांसे हो सक्ता है?

इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुणः सद्दर्शनस्य यः।
नाविवक्षो हि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये॥ ५८७॥

अर्थ—इस प्रकार युक्तिपूर्वक निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दृष्टिका कहा गया है। यदि यह गुण न कहा जाय तो कोई दोष नहीं होसक्ता, और कहनेपर कोई विशेष लाभ नहीं है। **भावार्थ**–यह एक सामान्य कथन है। निर्विचिकित्सा गुणके कहने और न कहने पर कोई गुण दोष नहीं होता, इसका यही आशय है कि सम्यग्दर्शनके साथ इसका होना अवश्यंभावी नहीं है। हो तो भी अच्छा और न हो तो कोई हानि भी नहीं है।

अमूढ़दृष्टि—

अस्ति चामूढ़दृष्टिः सा सम्यग्दर्शनशालिनी।
ययालंकृतवपुष्येतद्भाति सद्दर्शनं नरि॥ ५८८॥

अर्थ—अमूढ़दृष्टि गुण भी सम्यग्दर्शन सहित ही होता है। अमूढ़दृष्टि गुणसे विभूषित आत्मामें यह सम्यग्दर्शन शोभायमान होता है।

अमूढदृष्टिका लक्षण—

अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात् ।
नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोस्त्यमूढदृक् ॥ ५८९ ॥

अर्थ—अतत्त्वमें तत्त्व–श्रद्धान करना, मूढदृष्टि कहलाती है। मूढ़ जो दृष्टि वह मूढ़दृष्टि, ऐसा मूढ़दृष्टि शब्दसे ही स्पष्टार्थ है । जिस जीवके ऐसी मूढ़–दृष्टि नहीं है वह अमूढ़दृष्टि प्रसिद्ध है ।

अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैमिथ्याऽर्थः साधितोऽपरैः ।
नाप्यलं तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षतेः ॥ ५९० ॥

अर्थ—दूसरे मतवालोंसे मिथ्या हेतु और दृष्टातों द्वारा मिथ्या (विपरीत) पदार्थ सिद्ध किया है । वह मिथ्यापदार्थ, मोहनीय कर्मके क्षय होनेसे सम्यग्दृष्टिमें मोह (विपरीतता) पैदा करनेके लिये समर्थ नहीं है ।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभिः ।
नाल्पश्रुतः स मुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुतः ॥ ५९१ ॥

अर्थ—सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थोंको मिथ्यादृष्टि पुरुष यदि विपरीत रीतिसे दिखाने लगें तो जो थोड़े शास्त्रका जाननेवाला है वह भी मोहित नहीं होता है । यदि बहुत शास्त्रोंका पाठी हो तो फिर क्या है ? अर्थात् बहुश्रुत किसी प्रकार धोखेमें नहीं आ सक्ता है ।

अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चैः सम्यग्दृष्टेर्न मूढता ।
सूक्ष्मानन्तरितोपात्तमिथ्यार्थस्य कुतो भ्रमः ॥ ५९२ ॥

अर्थ—जहां कहीं अर्थ–आभास भी हो वहां भी सम्यग्दृष्टि मूढ़ नहीं होता है । तो फिर आगम प्रसिद्ध सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ मिथ्या बतलाये हुए पदार्थोंमें सम्यग्दृष्टिको कैसे भ्रम हो सक्ता है ?

सम्यग्दृष्टिके विचार—

तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नाना विकल्पसात् ।
निःसारैराश्रिता पुम्भिरथाऽनिष्टफलप्रदा ॥ ५९३ ॥

अर्थ—लौकिकी रूढ़ि नाना विकल्पोंसे होती है अर्थात् अनेक मिथ्या विचारोंसे की जाती है । निस्सार पुरुष उसे करते रहते हैं । लोकरूढ़ि सदा अनिष्ट फलको ही देती है ।

अफलाऽनिष्टफला हेतुशून्या योगापहारिणी ।
दुस्त्याज्या लौकिकी रूढ़िः कैश्चिदुष्कर्मपाकतः ॥ ५९४ ॥

अर्थ—लोकमें प्रचलित रूढ़ि फल शून्य है, अथवा अनिष्ट फलवाली है, हेतु शून्य

है और योगका नाश करनेवाली है। खोटे कर्मके उदयसे कोई २ पुरुष इस लोकरूढ़िको छोड़ भी नहीं सकते हैं।

देवमूढ़ता—

अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह।
अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढ़ता ॥ ५९५ ॥

अर्थ—अदेवमें देवबुद्धिका होना, अधर्ममें धर्मबुद्धिका होना, अगुरुमें गुरुबुद्धिका होना ही देवमूढ़ता कही गई है।

लोकमूढ़ता—

कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः।
मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढ़ता ॥ ५९६ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि सांसारिक सुखके लिये कुदेवोंका आराधन-पूजन करता है। ऐसा करना मिथ्या लोकाचार है, इसीका नाम लोकमूढ़ता है, लोकमूढ़ता महा-अहितकर है।

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढ़वशादिह।
धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका ॥ ५९७ ॥

अर्थ—लोकमूढ़तावश किन्हीं २ पुरुषोंको ऐसा श्रद्धान हो रहा है कि भले प्रकार आराधना की हुई अम्बिका देवी (चण्डी-मुण्डी आदि) निश्चयसे धन धान्य-सम्पत्तियोंको देवेगी।

अपरेऽपि यथाकामं देवमिच्छन्ति दुर्धियः।
सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञाऽपराधतः ॥ ५९८ ॥

अर्थ—और भी बहुतसे मिथ्या-बुद्धिवाले पुरुष इच्छानुसार देवोंको मानते हैं। वे बुद्धिके दोष (अज्ञानता)से सदोषियोंको भी निर्दोषीकी तरह मान बैठते हैं।

नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः।
लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निःसारं ग्रन्थविस्तरम् ॥ ५९९ ॥

अर्थ—उन मिथ्या-विचारवालोंका विशेष उद्देश्य (अधिक वर्णन) प्रसंगवश भी विस्तारभयसे नहीं कहा है क्योंकि जिसको बहुतसे शब्द मिल भी जावें वह भी व्यर्थ ग्रन्थ-विस्तारको नहीं करेगा, अर्थात् कुदेवके स्वरूपके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

अधर्म—

अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः।
तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा सा कायचेतसाम् ॥ ६०० ॥

अर्थ—कुदेवोंकी आराधना करनेका जितना भी उद्यम है, तथा उनके द्वारा कहे हुए धर्मोंमें मन, वचन, कायका जो व्यापार है वह सभी अधर्म कहलाता है।

कुगुरु और सुगुरु—

कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः ।
सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥ ६०१ ॥

अर्थ—जिसका निन्द्य (मलीन) आचरण है, जिसके माया, मिथ्या, निदान–शल्य लगी हुई हैं, और जो परिग्रह सहित है वह कुगुरु है, तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत सहित है वह सद्गुरु है ।

अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान् सर्वतोतीव विस्तरात् ।
आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोनुक्त एव सः ॥ ६०२ ॥

अर्थ—कुधर्म और कुगुरुके विषयमें भी अधिक लिखना लाभकारी नहीं है । क्योंकि इनका पूरा स्वरूप लिखनेसे अत्यन्त ग्रन्थ–विस्तार होनेका डर है । इसलिये इस ग्रन्थमें जो विधि कही गई है, वही ग्रहण करने योग्य है, और जो यहां नहीं कही गई है वह त्यागने योग्य समझना चाहिये । **भावार्थ**–जो विधि उपादेय है, उसीका यहां वर्णन किया गया है और जो अनुपादेय है उसका यहां वर्णन भी नहीं किया गया है ।

सच्चे देवका स्वरूप—

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणकर्म तत् ।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते ॥ ६०३ ॥

अर्थ—रागादिक वैकारिक भाव और ज्ञानावरणादिक कर्म, दोष कहलाते हैं । उनका जिस आत्मामें सम्पूर्णतासे अभाव हो चुका है, वही देव कहा जाता है ।

अनन्तचतुष्टय—

अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् ।
वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥ ६०४ ॥

अर्थ—उस देवमें केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिकवीर्य यह प्रसिद्ध अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाता है ।

देवके भेद—

एको देवः स सामान्याद् द्विधावस्था विशेषतः ।
संख्येया नाम सन्दर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥ ६०५ ॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे देव एक प्रकार है, अवस्था विशेषसे दो प्रकार है, विशेष रचना (कथन) की अपेक्षासे संख्यात प्रकार है, और गुणोंकी अपेक्षासे अनन्त प्रकार है ।

अरहन्त और सिद्ध—

एको यथा सद्द्रव्यार्थात्सिद्धेः शुद्धात्मलब्धितः ।
अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः ॥ ६०६ ॥

अर्थ—सत् द्रव्यार्थ नयकी अपेक्षासे एक प्रकार ही देव है क्योंकि शुद्धात्माकी उपलब्धि (प्राप्ति) एक ही प्रकार है। पर्यायार्थिकनयसे अरहन्त और सिद्ध, ऐसे देवके दो भेद हैं।

अरहन्त और सिद्धका स्वरूप—

दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः।
ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः॥ ६०७॥
मूर्त्तिमद्देहनिर्मुक्तो मुक्तो लोकाग्रसंस्थितः।
ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः॥ ६०८॥
अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात्।
महादेवोधिदेवत्वाच्छङ्करोपि सुखावहात्॥ ६०९॥
विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृत्त्वात्कथञ्चन।
ब्रह्म ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात्॥ ६१०॥
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात्।
यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात्॥ ६११॥
चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता।
तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः॥ ६१२॥

अर्थ—जो दिव्य-औदारिक शरीरमें स्थित है, घाति कर्म चतुष्टयको धो चुका है, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखसे परिपूर्ण है और धर्मका उपदेश देनेवाला है, वह अरहन्त देव है।

जो मूर्तिमान् शरीरसे मुक्त हो चुका है, सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट चुका है, लोकके अग्रभाग (सिद्धालय) में स्थित है, ज्ञानादिक आठ गुण सहित है और कर्ममलकलंकसे रहित है वह सिद्ध देव है।

वह देव जगत्पूज्य है इसलिये अरहन्त कहलाता है, कर्म रूपी शत्रुको जीतनेवाला है इसलिये जिन कहलाता है, सम्पूर्ण देवोंका स्वामी है इसलिये महादेव कहलाता है, सुख देनेवाला है, इसलिये शंकर कहलाता है, ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंमें फैला हुआ है इसलिये कथंचित् विष्णु (व्यापक) कहलाता है, आत्माको पहचाननेवाला है इसलिये ब्रह्मा कहलाता है, और दुःखको दूर करनेवाला है इसलिये हरि कहलाता है। इत्यादि रीतिसे वह देव अनेक नामोंवाला है। तथापि अपने देवत्व लक्षणकी अपेक्षासे वह एक ही है। अनेक नहीं है। क्योंकि अनन्तगुणात्मक एक ही (समान) आत्मद्रव्य प्रसिद्ध है।

और भी चौवीस तीर्थंकर आदि अनेक भेद हैं तथा गुणोंकी अपेक्षा अनन्त भेद हैं। ये सब भेद (बहुपना) किसी प्रकार दोषोत्पादक नहीं हैं क्योंकि सभी देवभेदोंमें देवत्वगुण एक प्रकार ही है।

दृष्टान्त—

प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये ।
यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारता ॥ ६१३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दीपकोंकी अनेक संख्या भी दीपत्त्व बुद्धिको दूर नहीं करसक्ती है ? उसी प्रकार देवोंकी अनेक संख्या भी देवत्त्व बुद्धिको दूर नहीं कर सक्ती है । क्योंकि सभी दीपोंमें और सभी देवोंमें दीपत्व गुण और देवत्व गुण एकसा ही है । वास्तवमें अनेक प्रकारता नहीं है । अर्थात् वास्तवमें भेद नहीं है,

न चाशंक्यं यथासंख्यं नामतोऽस्यास्त्यनंतधा ।
न्यायादेकं गुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥ ६१४ ॥

अर्थ—क्रमसे उसके अनन्त नाम हैं ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये क्योंकि वास्तवमें एक गुणकी अपेक्षा एक नाम कहा जाता है ।

नयतः सर्वतो मुख्यसंख्या तस्यैव संभवात् ।
अधिकस्य ततो वाच्यं व्यवहारस्य दर्शनात् ॥ ६१५ ॥

अर्थ—सबसे अधिक संख्या गुणकी अपेक्षासे ही होसक्ती है । परन्तु यह सब कथन नयकी अपेक्षासे है । इसलिये जैसा जैसा अधिक व्यवहार दीखता जाय उसी २ तरहसे नाम लेना चाहिये ।

वृद्धैः प्रोक्तमतःसूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत् ।
द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं वा श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥ ६१६ ॥

अर्थ—इसीलिये वृद्ध (ज्ञानवृद्ध–आचार्य) पुरुषोंने सूत्रद्वारा तत्त्वको बचनके अगम्य बतलाया है । जो द्वादशाङ्ग अथवा अंगबाह्य श्रुतज्ञान है, वह केवल स्थूल–पदार्थको विषय करनेवाला है ।

सिद्धोंके आठ गुण—

कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः ।
अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यञ्चेति चतुष्टयम् ॥ ६१७ ॥
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः ।
अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धेचाष्टगुणाः स्मृताः ॥ ६१८ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंके क्षय होनेसे क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, अतीन्द्रिय सुख, आत्मासे उत्पन्न वीर्य, इस प्रकार चतुष्टय तो यह, और सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्त्व, अव्याबाधगुण, तथा अगुरुलघुत्त्व, ये आठ स्वाभाविक गुण सिद्धदेवके हैं ।

इत्याद्यनन्तधर्माढ्यो कर्माष्टकविवर्जितः ।
मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥ ६१९ ॥

अर्थ—इत्यादि अनन्त धर्मोंको धारण करनेवाला आठों कर्मोंसे रहित अठारह दोषोंसे रहित, देव पूजने योग्य है। जिसमें उपर्युक्त गुण नहीं पाये जाते वह नहीं पूजने योग्य है।

अर्थाद्गुरुः स एवास्ति श्रेयो मार्गोपदेशकः
आप्तश्चैव स्वतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥ ६२० ॥

अर्थ—अर्थात् वही देव सच्चा गुरु है, वही मोक्ष मार्गका उपदेश देनेवाला है वही आप्त है, और वही मोक्ष मार्गका साक्षात् नेता (प्राप्त कराने वाला) है।

गुरुका स्वरूप—

तेभ्योर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः।
गुरवःस्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्था विशेषभाक् ॥ ६२१ ॥

अर्थ—उन गुरुओंसे नीचे भी जो अल्पज्ञ हैं, परन्तु उसी वेशको लिये हुए हैं; वे भी गुरु हैं। गुरुका लक्षण उनमें भी वैसा ही है, और कोई अवस्थाविशेषवाला नहीं है।

अस्त्यवस्थाविशेषोत्र युक्तिस्वानुभवागमात्।
शेषः संसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥ ६२२ ॥

अर्थ—गुरुओंमें संसारीजीवोंसे कोई अवस्था–विशेष है यह बात युक्ति अनुभव और आगमसे प्रसिद्ध है। उनमें संसारियोंसे विशेष अतिशय है।

भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते।
अवश्यं भावतो व्याप्तेः सद्भावात् सिद्धसाधनम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—भावि नैगम नयकी अपेक्षासे जो होनेवाला है, वह हुआ सा ही समझा जाता है। भाव (गुण) की व्याप्तिका सद्भाव होनेसे यह बात सिद्ध हो जाती है, अर्थात् जो गुण अरहन्तमें हैं वे ही गुण एक देशसे (अंशरूपसे) छद्मस्थ गुरुओंमें भी मौजूद हैं।

अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तितः।
चारित्रं देशतः सम्यक्चारित्रावरणक्षतेः ॥ ६२४ ॥

अर्थ—उन छद्मस्थ गुरुओंमें भी मिथ्यात्व कर्मके उपशम होनेसे सम्यग्दर्शन गुण प्रकट हो चुका है और चारित्र मोहनीय कर्मका (अनन्तानुबंधि, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन कषायोंका) क्षय होनेसे एकदेश सम्यक्चारित्र भी प्रकट हो चुका है।

ततः सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात्।
मोहकर्मोदयाभावात्तत्कार्यस्याप्यसंभवात् ॥ ६२५ ॥

अर्थ—इसलिये स्वभावसे ही उन गुरुओंमें शुद्धता पाई जाती है यह बात हेतुद्वारा सिद्ध हो चुकी क्योंकि मोहनीय कर्मके उदयका अभाव होनेसे उसका कार्य भी असंभव है।

भावार्थ–मलिनता करनेवाला मोहनीयका उदय है । जब मोहनीयका उदय नहीं है तो उससे होनेवाली मलिनता भी नहीं हो सक्ती है ।

तच्छुद्धत्वं सुविख्यातं निर्जराहेतुरञ्जसा ।
निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥ ६२६ ॥

अर्थ—वह शुद्धता निर्जराका समर्थ कारण है यह बात सुप्रसिद्ध है तथा संवरका भी कारण है और क्रमसे मोक्ष–प्राप्त करानेवाली भी है ।

शुद्धता ही निर्जरा, संवर और मोक्ष है—

यद्वा स्वयं तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यतः ।
शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥ ६२७ ॥

अर्थ—अथवा वह शुद्धता ही स्वयं निर्जरा, संवर और मोक्ष है । क्योंकि शुद्ध भावोंका अविनाभावी जो आत्मद्रव्य है वही निर्जरा, संवर और मोक्ष है ।

भावार्थ—आत्मिक शुद्धभावोंका नाम ही निर्जरादित्रय है इसलिये निश्चय नयसे शुद्ध–आत्मा ही निर्जरादि त्रय है ।

निर्जरादिनिदानं यः शुद्धो भावश्चिदात्मनः ।
परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा परं गुरुः ॥ ६२८ ॥

अर्थ—जो निर्जरादिकका कारण आत्माका शुद्ध भाव है वही परम पूज्य है और उस शुद्ध भावको धारण करनेवाला आत्मा ही परम गुरु है ।

गुरुपनेमेंहेतु—

न्यायाद्गुरुत्वहेतुः स्यात् केवलं दोषसंक्षयः ।
निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतरः ॥ ६२९ ॥

अर्थ—न्याय रीतिसे गुरुत्व (गुरुपने) का कारण केवल दोषोंका भले प्रकार क्षय होना है, निर्दोष ही जगत्का जाननेवाला (सर्वज्ञ) है और वही मार्ग (मोक्षमार्ग) का नेता अर्थात् प्राप्त करानेवाला है । जो निर्दोष नहीं है वह न सर्वज्ञ हो सक्ता है, और न मोक्षको प्राप्त करनेवाला तथा करानेवाला ही हो सक्ता है ।

अल्पज्ञता गुरुपनेके नाशका कारण नहीं है—

नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुनेः ।
रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥ ६३० ॥

अर्थ—यह मुनि (गुरु) की अल्पज्ञता भी गुरुपनेको दूर करनेके लिये समर्थ नहीं है क्योंकि गुरुताको दूर करनेवाले रागादिक अशुद्ध भाव हैं, और उनका एक मात्र हेतु मोहनीय कर्म है ।

भावार्थ—निर्मल चारित्रकी अपेक्षासे ही गुरुता आती है। ज्ञानकी हीनता गुरुताका विघातक नहीं है किन्तु मोहनीय कर्म है।

शङ्काकार—

नन्वावृतिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म च।
अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुतः शुद्धत्वमत्र चेत्।

अर्थ—शङ्काकार कहता है कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण और वीर्यको नाश करनेवाला अन्तराय कर्म, अभी छद्मस्थ गुरुओंमें मौजूद है, इसलिये उनमें शुद्धता कहांसे आई ?

उत्तर—

सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च।
मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥ ६३२ ॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि अभी ज्ञानावरण आदि तीन घातिया कर्म छद्मस्थ गुरुओंमें मौजूद हैं। किन्तु इतनी विशेषता है कि ज्ञानावरण आदि कहे हुए तीनों कर्मोंका बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय, मोहनीय कर्मके साथ अविनाभावी है।

खुलासा—

तथथा वध्यमानेऽस्मिंस्तद्बन्धो मोहबन्धसात्।
तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाकः क्षये क्षयः। ६३३ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके बन्ध होने पर ही उसीके आधीन ज्ञानावरणादि बन्धयोग्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है, मोहनीय कर्मके सत्त्व रहेने पर ही ज्ञानावणादि कर्मोंका सत्त्व रहता है, मोहनीय कर्मके पकने पर ही ज्ञानावरणादि पकते हैं और मोहनीय कर्मके क्षय होने पर ही ज्ञानावरणादि नष्ट हो जाते हैं।

आशङ्का—

नोह्यं छद्मस्थावस्थायामवर्गेवास्तु तत्क्षयः।
अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥ ६३४ ॥

अर्थ—छद्मस्थ अवस्थामें, मोहनीय कर्मका ज्ञानावरणादिसे पहले ही क्षय होजाता है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये क्योंकि अंशरूपसे मोहनीयका क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका अंश रूपसे क्षय हो जाता है, और मोहनीयका सर्वथा क्षय होनेसे ज्ञानावरणादिका भी सर्वथा क्षय होजाता है।

नासिद्धं निर्जरातत्त्वं सद्दृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम्।
आदृङ्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणं क्रमात् ॥ ६३५ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके सम्पूर्ण कर्मोंकी निर्जरा होना असिद्ध नहीं है किन्तु दर्शन मोहनीय कर्मका उदयाभाव होनेसे वह क्रमसे असंख्यात गुणी २ होती चली जाती है।

निष्कर्ष—

ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि साम्प्रतम् ।
रागद्वेषविमोहानामभावाद्गुरुता मता ॥ ६३६ ॥

अर्थ—इसलिये छद्मस्थ गुरुओंमें यद्यपि अभी ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म मौजूद हैं तथापि राग, द्वेष, मोहका अभाव होनेसे गुरूपना माना ही जाता है।

गुरु-भेद—

यथास्त्येकः स सामान्यात्तद्विशेषात्त्रिधा गुरुः ।
एकोऽप्यग्निर्यथा तार्णः पार्णो दार्व्यस्त्रिधोच्यते ॥ ६३७ ॥

अर्थ—सामान्य रीतिसे एक ही गुरु है और विशेष रीतिसे तीन प्रकार गुरु हैं। जैसे—अग्नि यद्यपि सामान्य रीतिसे एक ही है तथापि तिनकेकी अग्नि, पत्तेकी अग्नि और लकड़ीकी अग्नि, इस प्रकार एक ही अग्निके तीन भेद होजाते हैं।

तीन प्रकार गुरुओंके नाम—

आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा मतः ।
स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोपि मुनिकुञ्जराः ॥ ६३८ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधु (मुनि) इस प्रकार तीन भेद हैं। ये तीनों ही मुनिवर विशेष विशेष पदों पर नियुक्त हैं अर्थात् विशेष २ पदोंके अनुसार ही आचार्य, उपाध्याय और साधु संज्ञा है।

मुनिपना तीनोंमें समान है—

एको हेतुः क्रियाप्येका वेषश्चैको बहिः समः ।
तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥ ६३९ ॥
त्रयोदश विधं चापि चारित्रं समतैकधा ।
मूलोत्तरगुणाश्चैके संयमोप्येकधा मतः ॥ ६४० ॥
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् ।
आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥ ६४१ ॥
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिर्ज्ञानं चारित्रमात्मनः ।
रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिस्थितम् ॥ ६४२ ॥
ध्याता ध्यानं च ध्येयं च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् ।
चतुर्धाऽऽराधना चापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥ ६४३ ॥

किंवात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते।
विशेषाच्छेदनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥ ६४४ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु तीनोंका ही समान कारण है अर्थात् तीनों ही निष्परिग्रहता और कषायत्रयके जीतनेसे मुनि हुए हैं। क्रिया (आचरण) भी तीनोंकी समान है, बाह्य भेष भी (निर्ग्रन्थ—नग्न) समान है, बारह प्रकारका तप भी सबके समान है, पांच प्रकारका महाव्रत भी समान है, तेरह प्रकारका चारित्र भी समान है, समता भी समान है, अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तरगुण भी समान ही हैं, चारित्र भी समान है, परीषह और उपसर्गोंका सहन करना भी समान है, आहारादिक विधि भी सभीकी समान है। चर्या विधि भी समान है। स्थान आसन आदि भी समान हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो आत्मिक गुण तथा रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग है वह भी अन्तरंग और बाहरमें समान ही है, और भी ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, चार आराधनायें (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप) क्रोधादि कषायोंका जीतना आदि सभी बातें एकसी हैं। इस विषयमें अधिक क्या कहा जाय, इतना ही कहना बस होगा कि वही विशेष रह जाता है जोकि विशेषतासे दूर हो चुका है। अर्थात् न्यायानुसार तीनोंमें सर्वथा समानता है, कोई विशेषता नहीं है। अब तीनोंका भिन्न २ स्वरूप कहते हैं—

आचार्यका स्वरूप—

आचार्योऽनादितो रूढ़ेर्योगादपि निरुच्यते।
पञ्चाचारं परेभ्यः स आचरयति संयमी ॥ ६४५ ॥

अर्थ—आचार्य संज्ञा अनादिकालसे नियत है। पंच परमेष्ठियोंकी सत्ता अनादिकालीन है। यौगिक दृष्टिसे भी आचार्य उसे कहते हैं जो कि दूसरों (मुनियों) को पांच प्रकारका आचार ग्रहण करावे अर्थात् जो दीक्षा देवे वही आचार्य है।

और भी—

अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः।
तत्समावेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥ ॥ ६४६ ॥

अर्थ—और जिस किसी साधुका व्रत भंग हो जाय, और व्रत भंग होने पर वह साधु फिरसे उसको प्राप्त करना चाहे तो आचार्य उस व्रतको फिरसे धारण कराते हुए उस साधुको प्रायश्चित देते हैं, अर्थात् दीक्षाके अतिरिक्त प्रायश्चित देना भी आचार्योंका कर्तव्य है।

आदेश और उपदेशमें भेद—

आदेशस्योपदेशेभ्यः स्याद्विशेषः स भेदभाक्।
आदेशे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधिः ॥ ६४७ ॥

अर्थ—उपदेशोंसे आदेशमें यही विशेष भेद है कि उपदेशमें जो बात कही जाती है वह आज्ञारूप ग्राह्य नहीं होती। मानना न मानना शिष्यकी इच्छापर निर्भर है परन्तु आदेश में यह बात नहीं है, वहां तो जो बात गुरुने बताई वह आज्ञारूपसे ग्रहण ही करनी पड़ती है " गुरुके दिये हुए व्रतको मैं ग्रहण करता हूं " यह आदेश लेनेवालेकी प्रतिज्ञा है।

भावार्थ—आचार्यको आदेश (आज्ञा) देनेका अधिकार है वे जिस बातको आदेश-रूपसे कहेंगे वह आज्ञा प्रधान रूपसे माननी ही पड़ेगी। परन्तु उपदेशमें आज्ञा प्रधान नहीं होती है।

गृहस्थाचार्य भी आदेश देनेका अधिकारी है—

न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम्।
दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥ ६४८ ॥

अर्थ—व्रत धारण करनेवाले जो गृहस्थ हैं उनको भी आदेश निषिद्ध नहीं है। जिस प्रकार दीक्षाचार्य दीक्षा देता है उसी प्रकार गृहस्थ भी आदेश क्रिया करता है।

भावार्थ—आचार्यकी तरह व्रती गृहस्थाचार्य भी गृहस्थोंको आदेश देनेका अधिकारी है।*

आदेशका अधिकारी अव्रती नहीं हो सक्ता है—

स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिना मनागपि।
हिंसकश्चोपदेशोपि नोपयुज्योत्र कारणात् ॥ ६४९ ॥

अर्थ—शास्त्रानुसार अव्रती पुरुष आदेश देनेका सर्वथा अधिकारी नहीं है, और किसी भी कारणसे वह हिंसक उपदेश भी नहीं दे सकता।

भावार्थ—अव्रती पुरुष आदेश देनेका अधिकारी तो है ही नहीं, हिंसक उपदेशक देना भी उसके लिये वर्जित है।

बधाश्रित आदेश और उपदेश देनेका निषेध—

मुनिव्रतधराणां हि गृहस्थव्रतधारिणाम्।
आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो बधाश्रितः ॥ ६५० ॥

अर्थ—मुनिव्रत धारण करनेवाले आचार्योंको और गृहस्थव्रत धारण करनेवाले गृहस्थाचार्योंको वधाश्रित आदेश व उपदेश (जिस आदेश तथा उपदेशसे जीवोंका वध होता हो) नहीं करना चाहिये।

---

* पहले यह प्रथा थी कि गृहस्थ लोगोंको गृहस्थाचार्य हरएक कार्यमें सावधान किया करते थे, गृहस्थाचार्यका आदेश हर एक गृहस्थको मान्य था, इसीलिये धार्मिक कार्योंमें शिथिलता नहीं होने पाती थी, आजकल वह मार्ग सर्वथा उठ गया है, इसीलिये धार्मिक शैथिल्य, अनर्गलभाषण, एवं निरङ्कुशप्रवृत्ति आदि अनर्थोंने पूर्णतासे स्थान पा लिया है।

ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये—

नचाशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभिः ।
मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥ ६५१ ॥

अर्थ—ऐसी भी आशंका नहीं करना चाहिये कि मुनिगण व्रतधारण करनेवाले हैं और उन्होंने मूर्तिमान् पदार्थोंकी सम्पूर्ण शक्तियोंको हस्तरेखाके समान जान लिया है।

भावार्थ—व्रतधारी मुनि मूर्त पदार्थोंकी समस्त शक्तियोंका परिज्ञान स्वयं रखते हैं उन्हें सम्पूर्ण जीवोंके स्थान, शरीरादिका परिज्ञान है, वे सदा त्रस स्थावर जीवोंकी रक्षामें सावधान स्वयं रहते हैं इसलिये उनके प्रति बधकारी आदेश व उपदेशका निषेध कथन ही निरर्थक है, ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये।

क्योंकि—

नूनं प्रोक्तोपदेशोपि न रागाय विरागिणाम् ।
रागिणामेव रागाय ततोवश्यं निषेधितः ॥ ६५२॥

अर्थ—यह बात ठीक है कि जो वीतरागी हैं उनके प्रति बधकारी उपदेश भी रागका कारण नहीं होसक्ता है, वह रागियोंके लिये ही रागका कारण होसक्ता है। इसलिये अर्थात् रागियोंके लिये ही उसका निषेध किया गया है।

भावार्थ—उपदेश सदा उन्नत करनेके लिये दिया जाता है; मुनियोंका राग घट गया है, वे निवृत्ति मार्गके अनुगामी हो चुके हैं इसलिये उन्हें सदा विशुद्धमार्गका ही उपदेश देना ठीक है, यदि उनको वधाश्रित अर्थात् जिनपूजन आदि शुभ प्रवृत्तिमय उपदेश दिया जाय तो वह उपदेश उनकी निम्नताका ही कारण होगा, इसलिये उन्हें वधाश्रित अर्थात् शुभ प्रवृत्तिमय उपदेश न देकर निवृत्तिमार्गमय उपदेश ही देना चाहिये। परन्तु वधाश्रित उपदेश व आदेशका निषेध गृहस्थोंके लिये दूसरे प्रकारसे है। गृहस्थोंमें अशुभ प्रवृत्ति भी पाई जाती है इसलिये उस अशुभ प्रवृत्तिका निषेध कर शुभ प्रवृत्तिका उनके लिये आदेश व उपदेश दिया जाता है। गृहस्थ एकदम शुद्ध मार्गमें नहीं जा सकते हैं अतः उनके लिये पहले शुभ मार्ग पर लानेके लिये शुभ मार्गका आदेश तथा उपदेश देना ही ठीक है इसी बातको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते हैं—

गृहस्थोंके लिये दानपूजनका विधान—

न निषिद्धः स आदेशो नोपदेशो निषेधितः ।
नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥ ६५३ ॥

अर्थ—सत्पात्रोंके लिये दान देनेके विषयमें और अरहन्तोंकी पूजाके विषयमें न तो आदेश ही निषिद्ध है और न उपदेश ही निषिद्ध है।

भावार्थ—दान देना और जिन पूजन करना दोनों ही यद्यपि आरंभजनित कार्य हैं, और जहां आरंभ है वहां हिंसाका होना अवश्यंभावी है इसलिये उक्त दोनों कार्योंका आदेश तथा उपदेश बंधका कारण है। दूसरे—दान देनेमें और जिनपूजन करनेमें शुभ राग होता है और रागभाव हिंसात्मक है तथापि गृहस्थोंके लिये पात्रदान जिनपूजनादि शुभ प्रवृत्तिमय कार्योंकी आज्ञा और उपदेश दोनों ही निषिद्ध नहीं किन्तु विहित हैं।

मुनियोंके लिये सावद्य कर्मका निषेध—

***यद्वादेशोपदेशौ द्वौ स्तो निरवद्यकर्मणि।**
यत्र सावद्यलेशोस्ति तत्रादेशो न जातुचित् ॥ ६५४ ॥

अर्थ—अथवा मुनियोंके लिये, सर्वथा निर्दोष कार्यके विषयमें ही आदेश व उपदेश होसक्ता है। जहां पापका लेश भी हो वहां उनके लिये आदेश तो कभी हो ही नहीं सक्ता।

भावार्थ—जिस कार्यमें पापका थोड़ा भी लेश हो उसके विषयमें मुनियोंके लिये आदेशका सर्वथा निषेध है।

आशङ्का—

सहासंयमिभिर्लोकैः संसर्गं भाषणं रतिम्।
कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हतः ॥ ६५५ ॥

अर्थ—असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध, भाषण और प्रेम भी आचार्य करै, ऐसा भी कोई कहते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि जो असंयमी पुरुषोंके साथ संम्बन्धादिक रखता है वह आचार्य नहीं कहा जासक्ता, और न वह जिनमतका अनुयायी है।

भावार्थ—आचार्यका सम्बन्ध केवल मुनियोंके साथ होता है। भाषण भी उन्हींके साथ होता है, सत्यधर्मके लक्षणमें भी यही कहा गया है कि सत्यधर्मका भाषी साधु पुरुषोंमें ही हित मित वचन बोलता है असाधुओंमें नहीं। आचार्यका मुनियोंके साथ भी केवल धार्मिक सम्बन्ध है, रागांश वहां भी नहीं है। इसलिये आचार्यका असंयमी पुरुषोंके साथ सम्बन्ध और रागादिक जो कहा गया है वह अयुक्त है।

अन्य दर्शन—

संघसम्पोषकः सूरिः प्रोक्तः कैश्चिन्मतेरिह।
धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यतः ॥ ६५६ ॥

अर्थ—कोई दर्शनवाले आचार्यका स्वरूप ऐसा भी कहते हैं कि जो संघका पालन-

* इस श्लोकमें और ऊपरके श्लोकमें यद्यपि गृहस्थ और मुनिपद नहीं आया है तथापि "यद्वा" कहनेसे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त कथन गृहस्थोंके लिये है और यह कथन मुनियोंके लिये है। तथा यही संगत प्रतीत होता है।

पोषण करता है वह आचार्य है । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी कहना अयुक्त है । धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देना ही आचार्यका उपकार है । इसको छोड़कर मुनियोंका पालन पोषण करना आदिक आचार्योंका उपकार नहीं है ।

भावार्थ—मुनियोंका पालनपोषण करना आचार्यका कर्तव्य बतलाना दोनोंका ही स्वरूप बिगाड़ना है । पहले तो मुनिगण ही पालन पोषण किसीसे नहीं चाहते हैं और न उन्हें अपने पोषणका कभी विचार ही होता है । उनका मुख्य कर्तव्य ध्यानस्थ होना है । केवल शरीरकी परिस्थिति ठीक रखनेके लिये वे आहारार्थ नगरमें जाते हैं वहां नवधाभक्ति पूर्वक किसी श्रावकने उनका पड़गाहन किया तो बत्तीस अन्तरायोंको टालकर आहार उसके यहां ले लेते हैं, यदि किसीने पड़गाहन नहीं किया तो वे खेद नहीं करते हैं, सीधे वनको चले जाते हैं, यद्यपि मुनियोंकी वृत्ति भिक्षा है तथापि वह वृत्ति याचना नहीं कही जा सक्ती है । उन्हें आहारमें सर्वथा राग नहीं है परन्तु विना आहारके शरीर अधिक दिन तक तप करनेमें सहायक नहीं हो सक्ता है इसीलिये आहारके लिये उन्हें बाध्य होना पड़ता है । जिस पुरुषको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है वही याचक बनता है । मुनियोंने आवश्यकताओंको दूर करनेके लिये ही तो अखिल राज्य सम्पत्तिका त्याग कर यह निरीहवृत्ति—सिंहवृत्ति अङ्गीकार की है, फिर भी उन्हें याचक समझना नितान्त भूल है । श्रावक भी अपने आत्म-हितके लिये मुनियोंको आहार देता है न कि मुनियोंको पोष्य समझकर आहार देता है । इसलिये मुनियोंको स्वयं अपने पोषणकी इच्छा नहीं है और न आवश्यकता ही है फिर आचार्य उनका पोषक कैसे कहा जा सक्ता है । दूसरे—आचार्यका मुनियोंके साथ केवल धार्मिक सम्बन्ध है—मुनियोंको दीक्षा देना, उन्हें निज व्रतमें शिथिल देखकर सावधान करना, अथवा धर्मसे च्युत होनेपर उन्हें प्रायश्चित देकर पुनः तद्वस्थ करना, धर्मका उन्हें उपदेश देना, तथा धर्मका आदेश देना, तपश्चर्यामें उन्हें सदा दृढ़ बनाना, मरणासन्न मुनिका समाधिमरण कराना इत्यादि कर्तव्य आचार्योंका है धार्मिक कर्तव्य होनेसे ही आचार्योंको रागरहित शासक कहा गया है । शासन करते हुए भी आचार्य प्रमादी नहीं हैं, किन्तु शुद्धान्तःकरण विशिष्ट आत्मध्यानमें तत्पर हैं इसलिये आचार्योंको संघका पालक और पोषक कहना सर्वथा अयुक्त है ।

अथवा—

यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।
तावत्कालं स नाऽऽचार्योप्यस्ति चान्तर्व्रतच्युतः ॥ ६५७ ॥

अर्थ—अथवा मोहके वशीभूत होकर अथवा प्रमादसे जो लौकिक क्रियाको करता है उस कालमें वह आचार्य नहीं कहा जा सक्ता है, इतना ही नहीं किन्तु अन्तरंग व्रतसे च्युत (पतित) समझा जाता है ।

भावार्थ—इस श्लोकसे भलीभांति सिद्ध होता है कि आचार्य केवल धार्मिक क्रियाओंको करता है, और मुनियोंकी धार्मिक वृत्तियोंका ही वह शासक है। यदि मोहके उद्रेकसे कदाचित् वह किसी लौकिक क्रियाको भी कर डाले तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस कालमें वह आचार्य ही नहीं कहा जा सकता है उस समय वह आचार्यपदसे गिर चुका है, अन्तरंग व्रतोंसे विहीन हो चुका है।

उपसंहार—

उक्तव्रततपः शीलसंयमादिधरो गणी ।
नमस्यः स गुरुः साक्षात्तद्न्यो न गुरुर्गणी ॥ ६५८ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनके अनुसार जो व्रत, तप, शील, संयमादिकका धारण करनेवाला है वही गणका स्वामी आचार्य कहा जाता है, वही साक्षात् गुरु है, वही नमस्कार करने योग्य है। उससे भिन्न स्वरूपका धारण करनेवाला गणका स्वामी आचार्य नहीं कहा जा सकता।

उपाध्यायका स्वरूप—

उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः ।
वाङ्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः ॥ ६५९ ॥
कविर्वृत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात् ।
गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥ ६६० ॥
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासो हि कारणम् ।
यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरुः ॥ ६६१ ॥
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधिः ।
कुर्याद्धर्मोपदेशं स नाऽऽदेशं सूरिवत्क्वचित् ॥ ६६२ ॥
तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां संयमं तपः ।
आश्रयेच्छुद्धचारित्रं पञ्चाचारं स शुद्धधीः ॥ ६६३ ॥
मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् ।
परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद्वशी ॥ ६६४ ॥
अत्रातिविस्तरेणालं नूनमन्तर्बहिर्मुनेः ।
शुद्धवेषधरो धीमान् निर्ग्रन्थः स गुणाग्रणी ॥ ६६५ ॥

अर्थ—प्रत्येक प्रश्नका समाधान करनेवाला, वाद करनेवाला, स्याद्वादके रहस्यका जानकार, वचन बोलनेमें चतुर, वचन ब्रह्मका सर्वज्ञ, सिद्धान्त शास्त्रका पारगामी, वृत्ति और प्रधान सूत्रोंका विद्वान, उन वृत्ति और सूत्रोंको शब्द तथा अर्थके द्वारा सिद्ध करनेवाला, अर्थमें मधुरता लानेवाला, बोलनेवाले व्याख्याताओंके मार्गमें अग्रगामी इत्यादि गुणोंका धारी

उपाध्याय होता है। उपाध्याय होनेमें मुख्य कारण शास्त्रोंका अभ्यास है, जो गुरू स्वयं उन शास्त्रोंका अध्ययन करता है तथा जो शिष्योंको अध्ययन कराता (पढ़ाता) है वही उपाध्याय कहलाता है। उपाध्यायमें पढ़ने पढ़ानेके सिवा बाकी व्रतादिकोंका पालन आदि विधि मुनियोंके समान साधारण है। उपाध्याय धर्मका उपदेश कर सक्ता है, परन्तु आचार्यके समान धर्मका आदेश (आज्ञा) कभी नहीं कर सक्ता। बाकी आचार्योंके ही सहवासमें वह रहता है, उसी प्रकार निर्ग्रन्थ अवस्था रखता है, आचार्यके समान ही संयम, तप, शुद्ध चारित्र, और पांच आचारों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक चारित्र, तप, वीर्य)को वह शुद्धबुद्धि उपाध्याय पालता है। मुनियोंके जो अट्ठाईस मूलगुण और चौरासी लाख उत्तर गुण बतलाये गये हैं उन्हें भी वह पालता है, परीषह तथा उपसर्गोंको भी वह जितेन्द्रिय उपाध्याय जीतता है। यहां पर बहुत विस्तार न कर संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि निश्चयसे उपाध्याय मुनिके समान ही अन्तरंग और बाह्यमें शुद्ध रूपका धारण करनेवाला है, बुद्धिमान् है, निष्परिग्रह नग्न दिगम्बर है, और गुणोंमें सर्व श्रेष्ठ है।

नयी प्रतिज्ञा—

उपाध्यायः समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणैः।
अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥ ६६६ ॥

अर्थ—उपाध्याय अपने लक्षणोंसे प्रसिद्ध है, उसका स्वरूप तो कहा जाचुका, अब साधुका लक्षण कहा जाता है जो कि आगमसे भलीभांति सिद्ध है।

साधुका स्वरूप—

मार्गो मोक्षस्य चारित्रं तत्सद्भक्तिपुरःसरम्। *
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः ॥ ६६७ ॥
नोच्याच्चायं यमी किञ्चिदस्तपादादिसंज्ञया।
न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसापि न चिन्तयेत् ॥ ६६८ ॥
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम्।
स्तिमिन्तान्तर्बहिस्तुल्यो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनिः ॥ ६६९ ॥
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत् स मनागपि।
स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुनः ॥ ६७० ॥
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोधिकप्रभः।
दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापरः ॥ ६७१ ॥

* संशोधित पुस्तकमें "सद्दृग् भक्ति पुरःसरम्" ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है।

निर्ग्रन्थोन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी ।
कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपोंशुभिः ॥ ६७२ ॥
परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः ।
एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥ ६७३ ॥
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः ।
नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥ ६७४ ॥

अर्थ—मोक्षका मार्ग चारित्र है उस चारित्रको जो सद्भक्ति पूर्वक आत्मसिद्धिके लिये सिद्ध करता है उसे साधु कहते हैं । यह साधु न तो कुछ कहता ही है और न हाथ पैर आदिसे किसी प्रकारका इशारा ही करता है, तथा मनसे भी किसीका चिन्तवन नहीं करता, किन्तु एकाग्रचित्त होकर केवल अपने शुद्धात्माका ध्यान करता है जिसकी अन्तरंग और बाह्य वृत्तियां बिल्कुल शान्त हो चुकी हैं वह तरंगरहित समुद्रके समान मुनि कहलाता है। वह मुनि न तो सर्वथा आदेश ही करता है और न उपदेश ही करता है, आदेश और उपदेश वह स्वर्ग और मोक्षमार्गके विषयमें भी नहीं करता है विपक्षकी तो बात ही क्या है, अर्थात् विपक्ष संसारके विषयमें तो वह बिल्कुल ही नहीं बोलता है । ऐसा मुनि वैराग्यकी उत्कृष्ट कोटि तक पहुंच जाता है । अथवा मुनिका स्वरूप ही यह है कि वह वैराग्यकी चरमसीमा तक पहुंच जाता है । और वह मुनि अधिक प्रभावशाली, दिगम्बर दिशारूपी वस्त्रोंका धारण करनेवाला, बालकके समान निर्विकार रूपका धारी, दयामें सदा तत्पर, निष्परिग्रह नग्न, अन्तरंग तथा बहिरंग मोहरूपी ग्रन्थियों (गाँठों)को खोलनेवाला, सदाकालीन नियमोंको पालनेवाला, तपकी किरणोंके द्वारा श्रेणीके क्रमसे कर्मोंकी निर्जरा करनेवाला, तपस्वी, परीषह तथा उपसर्गादिकोंसे अजेय, कामदेवका जीतनेवाला, एषणाशुद्धिसे परम शुद्ध, चारित्रमें सदा तत्पर इत्यादि अनेक प्रकारके अनेक उत्तम गुणोंको धारण करनेवाला होता है । ऐसा ही साधु कल्याणके लिये नमस्कार करने योग्य है । और कोई विद्वानोंमें श्रेष्ठ भी हो तो भी नमस्कार करने योग्य नहीं है ।

भावार्थ—मुनिके लिये ध्यानकी प्रधानता बतलाई गई है, इसी लिये मुनिको आदेश और उपदेश देनेका निषेध किया गया है । आदेश तो सिवा आचार्यके और कोई दे ही नहीं सक्ता है परन्तु मुनिके लिये जो उपदेश देनेका भी निषेध किया गया है वह केवल ध्यानकी मुख्यतासे प्रतीत होता है । सामान्य रीतिसे मुनि मोक्षादिके विषयमें उपदेश कर ही सकता है । यहांपर पदस्थके कर्तव्यका विचार है इसलिये साधुके कर्तव्यमें ध्यानमें तल्लीनता ही कही गई है । उपदेश क्रिया साधु पदके लिये ही वर्जित है । क्योंकि वह मुख्यतया उपाध्यायका काम है ।

एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि।
तथापि तद्विशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥ ६७५ ॥

अर्थ—महान् पुरुषोंमें सबसे श्रेष्ठ यह मुनित्रयी (आचार्य, उपाध्याय, साधु)प्रसिद्ध है। तथापि उसमें क्रमसे तरतम रूपसे विशेषता भी है।

भावार्थ—सामान्य रीतिसे आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों ही मूलगुण, उत्तर-गुणोंके धारक समान हैं तथापि विशेष कार्योंकी अपेक्षासे उन तीनोंमें विशेषता भी है।

आचार्यमें विशेषता—

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशादिगाग्रणीः।
न्यायाद्वाऽऽदेशतोऽध्यक्षात्सिद्धः स्वात्मनि तत्परः ॥ ६७६ ॥

अर्थ—दीक्षा देनेसे, आदेश करनेसे गणका स्वामी आचार्य प्रसिद्ध है। तथा युक्ति आगम, अनुभवसे वह अपने आत्मामें तल्लीन है यह बात भी प्रसिद्ध है।

इसीका खुलासा—

अर्वाङ्नातत्परोऽप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः।
अस्ति तेनाविनाभूतः शुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥ ६७७ ॥

अर्थ—अर्थात् वह आचार्य दर्शन मोहनीयका अनुदय होनेसे अपने आत्मामें तल्लीन ही है। उसे उस विषयमें तल्लीनता रहित नहीं कहा जा सक्ता है क्योंकि दर्शन मोहनीयके अनुदयका अविनाभावी निश्चयसे शुद्धात्माका अनुभव है। इसलिये दर्शन मोहनीयका अनुदय होनेसे आचार्य शुद्धात्माका अनुभव करता ही है।

और भी विशेषता—

अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः।
बाह्यार्थात्केवलं न स्यात् क्षतिर्वा च तदक्षतिः ॥ ६७८ ॥

अर्थ—आचार्यके शुद्धात्माके अनुभवका अविनाभावी दर्शन मोहनीय कर्मका तो अनुदय है ही, साथमें एक देश चारित्रमोहनीय कर्मका भी उसके क्षय हो चुका है। चारित्र-के क्षय अथवा अक्षयमें बाह्यपदार्थ केवल कारण नहीं हैं।

किन्तु—

अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः।
तदापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः ॥ ६७९ ॥

अर्थ—उपादान कारण मिलने पर चारित्रकी हानि अथवा उसका लाभ होसक्ता है। चारित्रकी क्षति अथवा अक्षतिमें बाह्य वस्तु हेतु नहीं है। क्योंकि बाह्य वस्तु उसमें कारण नहीं पड़ती है।

चारित्रकी क्षति और अक्षतिमें कारण—

सति संज्वलने नोच्चैः स्पर्धका देशघातिनः ।
तद्विपाकोस्त्यमन्दो वा मन्दोहेतुः क्रमाद्द्वयोः ॥ ६८० ॥
संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः ।
सोऽपि तरतमांशांशैः सोप्यनेकैरनेकधा ॥ ६८१ ॥
अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह ।
तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥ ६८२ ॥
तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिति ।
संक्लेशांशोथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥ ६८३ ॥
किन्तु दैवाद्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोथवा क्वचित् ।
तद्विशुद्धेर्विशुद्ध्यंशः संक्लेशांशोदयः पुनः ॥ ६८४ ॥
तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधकः ।
सर्वतश्चेत्प्रकोपाय नापराधोपरोस्त्यतः ॥ ६८५ ॥
तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युतिः ।
कर्त्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्यः प्रयोजकः ॥ ६८६ ॥

अर्थ—आचार्य परमेष्ठीके अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायका तो अनुदय ही है, केवल संज्वलन कषायका उनके उदय है। संज्वलन कषाय देशघाती है। उसके स्पर्धक सर्वघाती नहीं हैं। उस एकदेश घात करनेवाली संज्वलन कषायका विपाक यदि तीव्र हो तो चारित्रकी क्षति है, यदि उसका विपाक मन्द हो तो चारित्रकी कोई क्षति नहीं है। संज्वलन कषायकी तीव्रता चारित्रकी क्षतिका कारण है और उसकी मंदता चारित्रकी क्षतिका कारण नहीं है। इसका कारण यह है कि संज्वलन कषायकी तीव्रतासे आत्मामें संक्लेश होता है और संक्लेश चारित्रके क्षयका कारण है। संज्वलन कषायकी मन्दतासे आत्मा विशुद्ध होता है। और विशुद्धि चारित्रके क्षयका कारण नहीं है किन्तु उसकी वृद्धिका कारण है। यह संक्लेश और विशुद्धि उसी प्रकारसे कम बढ़ होती रहती है जिस प्रकारसे कि संज्वलन कषायके विपाकमें तीव्रता और मन्दताके अंशोंमें तरतमता होती रहती है। यह तरतमता अनेक भेदोंमें विभाजित की जाती है। यह चारित्रकी क्षति और अक्षतिका कारण कहा गया है परन्तु आचार्यके किसी कारणवश शिथिलता नहीं आती है, और यदि उनके संज्वलन कषायकी तीव्रतासे थोड़े अंशोंमें चारित्रकी क्षति भी हो जाय तो भी आचार्य स्वात्मामें अतत्पर (असावधान) नहीं सिद्ध हो सकते हैं। किन्तु अपने आत्मामें सदा तत्पर ही हैं। संज्वलन कषायके मन्द होनेसे आचार्यके विशुद्धिके अंश

बढ़ जाते हैं अथवा उक्त कषायके तीव्रोदयसे संक्लेशके अंश बढ़ जाते हैं, यह समग्र विधान शुद्धात्माके अनुभवमें कुछ कार्यकारी नहीं है, चाहे दैववश उनके विशुद्धिके अंश बढ़ जांय चाहे संक्लेशके अंश बढ़ जांय परन्तु आचार्यके शुद्धात्मानुभवमें बाधा नहीं आती है। संज्वलन कषायकी मन्दतासे चारित्रमें विशुद्धांश प्रकट हो जाता है और संज्वलन कषायकी तीव्रतासे चारित्रमें संक्लेशांश प्रकट हो जाता है बस इतनी ही बाधा समझनी चाहिये। यदि संज्वलन कषायकी आचार्यके तीव्रता हो तो वह तीव्रता कुछ प्रकोप (प्रमाद) लाती है बाकी और कोई अपराध (शुद्धात्माकी च्युतिका कारण) नहीं कर सकती है। इसलिये उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि संज्वलन कषायकी तीव्रता अथवा चारित्रकी कुछ अंशोंमें क्षति आचार्यके शुद्धात्मानुभवका नाश नहीं कर सकती। क्योंकि शुद्धात्मानुभवके नाशका कारण और ही है।

शुद्धात्माके अनुभवमें कारण—

हेतुःशुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मणः
प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तत्र व्यत्ययात् ॥ ६८७ ॥

अर्थ—शुद्धात्माके ज्ञानमें कारण मिथ्यात्व कर्मका उपशम है। इसका उल्टा मिथ्यात्व कर्मका उदय है, मिथ्यात्व कर्मके उदय होनेसे शुद्धात्माका अनुभव नहीं हो सक्ता है।

इसीका स्पष्ट अर्थ—

दृङ्मोहेऽस्तंगते पुंसः शुद्धस्यानुभवो भवेत्।
न भवेद्विघ्नकरः कश्चिच्चारित्रावरणोदयः ॥ ६८८॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मका अनुदय होनेपर आत्माके शुद्धानुभव होता है। उसमें चारित्रमोहनीयका उदय विघ्न नहीं कर सकता है।

भावार्थ—शुद्धात्मानुभवकी सम्यग्दर्शनके साथ व्याप्ति (सहकारिता) है। सम्यग्दर्शनके होनेमें दर्शनमोहनीयका अनुदय मूल कारण है। इसलिये दर्शनमोहनीयका अनुदय होने पर शुद्धात्माका अनुभव नियमसे होता है, उस शुद्धात्माके अनुभवमें चारित्र मोहनीयका उदय बाधक नहीं हो सकता है। क्योंकि चारित्र मोहनीयका उदय चारित्रके रोकनेमें कारण है, शुद्धात्माके अनुभवसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव आचार्यके यदि संज्वलन कषायका तीव्रोदय भी हो जाय तो भी उनके शुद्धात्मानुभवनमें वह बाधक नहीं हो सक्ता हां उनके चारित्रांशमें कुछ प्रमाद अवश्य करेगा। इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

न चाकिञ्चित्करश्चैवं चारित्रावरणोदयः।
दृङ्मोहस्य कृते नालं अलं स्वस्यकृते च तत् ॥ ६८९ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीयका उदय कुछ करता ही न हो ऐसा भी नहीं है। यद्यपि वह दर्शन मोहनीयके कार्यके लिये असमर्थ है तथापि अपने कार्यके लिये अवश्य समर्थ है।

चारित्र मोहनीयका कार्य—

कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः।
नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥ ६९० ॥

अर्थ—आत्माके चारित्र गुणकी क्षति करना ही चारित्र मोहनीयका कार्य है। चारित्र मोहनीयका कार्य आत्माके दर्शन गुणकी क्षति करना नहीं हो सक्ता है। क्योंकि सम्यग्दर्शन गुण जुदा ही है इसलिये उसका घातक भी जुदा ही कर्म है। जिसप्रकार दूसरेके दर्शनमें दूसरा बाधा नहीं पहुंचा सक्ता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन गुणमें चारित्र मोहनीय बाधा नहीं पहुंचा सक्ता है। उसका काम केवल चारित्र गुणको घात करनेका है।

दृष्टान्त—

यथा चक्षुः प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगतः।
इतरत्राक्षतायेपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षतिः ॥ ६९१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार किसीका चक्षु रोग रहित है और दैवयोगसे दूसरे किसीके चक्षुमें किसी प्रकारकी पीड़ा है तो उस पीड़ासे निर्मल चक्षुवालेकी कोई हानि नहीं हो सक्ती है यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है।

कषायोंका कार्य—

कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि।
नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥ ६९२ ॥

अर्थ—जबतक कषायोंका अनुदय रहता है तभी तक चारित्र है। जब कषायोंका उदय हो जाता है तभी आत्माके चारित्र गुणकी क्षति हो जाती है।

सारांश—

ततस्तेषामनुद्रेकः स्यादुद्रेकोऽथवा स्वतः।
नात्मदृष्टेः क्षतिर्नूनं दृङ्मोहस्योदयादृते ॥ ६९३ ॥

अर्थ—इसलिये कषायोंका अनुदय हो अथवा उदय हो शुद्धात्मानुभवकी किसी प्रकार क्षति नहीं हो सक्ती है जबतक कि दर्शन मोहनीयका उदय न हो।

भावार्थ—दर्शनमोहनीयका उदय ही शुद्धात्माके अनुभवका बाधक है। कषायों (चारित्र मोहनीय) का उदय चारित्रमें बाधक है।

आचार्य, उपाध्यायमें साधुकी समानता—

अथ सूरिरुपाध्यायो द्वावेतौ हेतुतः समौ।

साधू साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥ ६९४ ॥
नापि कश्चिद्विशेषोस्ति तयोस्तरतमौ मिथः।
नैताभ्यामन्तरुत्कर्षः साधोरप्यतिशायनात् ॥ ६९५ ॥
लेशतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिःकृतः।
का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धेः समत्वतः ॥ ६९६ ॥
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात्।
मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥ ६९७ ॥

अर्थ—आचार्य और उपाध्याय दोनों ही समान हैं। जो कारण आचार्यके हैं वे ही उपाध्यायके हैं। दोनों ही साधु हैं अर्थात् साधुकी सम्पूर्ण क्रियायें—अट्ठाईस मूल गुण और चौरासी लाख उत्तर गुण वे दोनों पालते हैं। साधुके समान ही आत्मानुभव करनेवाले हैं। दोनों ही शुद्ध हैं, शुद्ध-उपयोग सहित हैं। आचार्य और उपाध्यायमें परस्पर भी कोई तरतम रूपसे विशेषता नहीं पाई जाती है, और न इन दोनोंसे कोई विशेष अतिशय साधुमें ही पाया जाता है। ऐसा नहीं है कि साधुमें कोई अन्तरंग विशेष उत्कर्ष हो वह उत्कर्ष (उन्नतता) इनमें न हो, किन्तु तीनों ही समान हैं। यदि लेशमात्र विशेषता है तो उन तीनोंमें बाह्य क्रियाकी अपेक्षासे ही है अन्तरंग तीनोंका समान है, इसलिये बाह्य क्रियाओंमें भेद होनेपर भी अन्तःशुद्धि तीनोंमें समान होनेसे कोई हानि नहीं है, क्योंकि मूल कारण अन्तःशुद्धि है वह तीनोंमें समान है। आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनोंमें ही संज्वलनका मन्द, मध्यम, तीव्र उदय कोई नियमित नहीं है, कैसे भी अंशोंका उदय हो यह बात युक्ति, स्वानुभव और आगमसे सिद्ध है।

प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक् ॥६९८ ॥

अर्थ—आचार्य उपाध्याय और साधु तीनोंके ही अनेक भेद हैं, वे भेद जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भावोंकी अपेक्षासे हो जाते हैं।

यथा—

कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः।
मध्यमां वा जघन्यां वा विशुद्धिं पुनराश्रयेत् ॥ ६९९ ॥

अर्थ—कोई आचार्य कभी उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त हो जाता है, फिर वही कभी मध्यम अथवा जघन्य विशुद्धिको प्राप्त हो जाता है।

इसमें हेतु—

हेतुस्तत्रोदिता नाना भावांशैः स्पर्धकाः क्षणम् ।
धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥ ७०० ॥

अर्थ—ऊपर कही हुई विशुद्धि कभी उत्कृष्टतासे मध्यम अथवा जघन्य क्यों हो जाती है ? इसका कारण यही है कि वहां पर अनेक प्रकार भावोंमें तरतमता करनेवाले कषायके स्पर्धक प्रतिक्षण उदित होते रहते हैं, विशुद्धिकी तरतमतामें धर्मका उपदेश तथा धर्मका आदेश—बाह्य कारण—हेतु नहीं कहा जा सक्ता है । **भावार्थ**—आचार्य जो धर्मका उपदेश और आदेश करते हैं वह उनकी विशुद्धिमें हीनताका कारण नहीं है । क्योंकि उसके करनेमें आचार्यके थोड़ा भी प्रमाद नहीं है, विशुद्धिमें हीनताका कारण केवल संज्वलन कषायके स्पर्धकोंका उदय है जो लोग यह समझते हैं कि मुनियोंका शासन करनेमें आचार्यके चारित्रमें अवश्य शिथिलता आ जाती है, ऐसा समझना केवल भूल भरा है । आचार्योंका शासन सकषाय नहीं है, किन्तु निष्कषाय धार्मिक शासान है इसलिये वह कभी दोषोत्पादक नहीं कहा जा सक्ता है ।

परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये ।
न विशेषो यतस्तेषां न्यायाच्छेषोऽविशेषभाक् ॥ ७०१ ॥

अर्थ—इसी ऊपर कही हुई परिपाटी (पद्धति—क्रम) से उपाध्याय और साधुओंकी व्यवस्थाका परिज्ञान करना चाहिये । क्योंकि उनमें भी आचार्यसे कोई विशेषता नहीं रह जाती है । तीनों ही समान हैं ।

बाह्य कारण पर विचार ।—

नोक्तं धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः ।
हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥ ७०२ ॥

अर्थ—यदि कोई यह कहै कि आचार्यकी विशेषतामें बाह्य क्रियायें—धर्मका उपदेश तथा आदेश भी कारण हैं, क्योंकि अभ्यन्तर हेतुका भी कहीं पर बाह्य कर्म बाह्य हेतु होता ही है ? अर्थात् कर्मोदयरूप अभ्यन्तर कारणमें धर्मोपदेशादि क्रियाको भी कारण मानना चाहिये । आचार्य कहते हैं कि ऐसी तर्कणा नहीं करना चाहिये ।

क्योंकि ।—

नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिञ्चित्करं बहिः ।
तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽर्थान्तरं परम् ॥ ७०३ ॥

अर्थ—ऊपर जो तर्कणा की गई है वह ठीक नहीं है क्योंकि बाह्य जितनी भी वस्तु है सभी अकिंचित्कर (कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं) है, हां यदि कोई मोहके वशीभूत होकर

बाह्य आचार्यादि पदको चाहे तो अवश्य उसके लिये वह बाह्य पद फल सहित है अर्थात् उसका फिर सांसारिक फल होगा ।

आचार्यकी निरीहता ।—

किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोनिच्छतो बहिः ।
धर्मादेशोपदेशादि स्वपदं तत्फलं च यत् ॥ ७०४ ॥

अर्थ—धर्मका उपदेश, धर्मका आदेश, अपना पदस्थ और उसका फल आदि सम्पूर्ण बाह्य बातोंको सर्वथा नहीं चाहनेवाले आचार्यकी तो बात ही निराली है । **भावार्थ**—धर्मादेश, धर्मोपदेश आदि कार्योंको आचार्य चाहनापूर्वक नहीं करता है, किन्तु केवल धार्मिक बुद्धिसे करता है इसलिये बाह्यकारण उसकी विशुद्धिका विघातक नहीं है ।

यहांपर कोई शंका कर सकता है कि जब आचार्य मुनियोंपर पूर्ण रीतिसे धर्मादेशादि शासन करते हैं तब यह कैसे कहा जा सकता है कि उनके इच्छा नहीं है, विना इच्छाके तो वे शासन ही नहीं कर सकते हैं ? इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है—

नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादि कर्मणि ।
न्यायादक्षार्थकांक्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥ ७०५ ॥

अर्थ—धर्मादेशादि कार्य करते हुए भी आचार्य इच्छाविहीन हैं यह बात असिद्ध नहीं है । जो इन्द्रिय सम्बन्धी विषयोंमें इच्छा की जाती है वास्तवमें उसीका नाम इच्छा है, जहांपर धार्मिक कार्योंमें इच्छा की जाती है उसे इच्छा ही नहीं कहते हैं । **भावार्थ**—जिस प्रकार सांसारिक वासनाओंके लिये जो निदान किया जाता है उसीको निदानबन्ध कहा जाता है जो पुरुष मोक्षके लिये इच्छा रखता है उसको निदान बन्धवाला नहीं कहा जाता है, उसी प्रकार जो इच्छा सांसारिक वासनाओंके लिये की जाती है वास्तवमें वही इच्छा कहलाती है, जो धार्मिक कार्योंमें मनकी वृत्ति लगाई जाती है उसे इच्छा, शब्दसे भले ही कहा जाय परन्तु वास्तवमें वह इच्छा नहीं है क्योंकि इच्छा वहीं कही जाती है जहांपर किसी वस्तुकी चाहना होती है, आचार्यके धर्मादेशादि कार्योंसे किसी वस्तुकी चाहना नहीं है । वह सदा निस्पृह आत्मध्यानमें मुनिवत् लीन है ।

शङ्काकार—

ननु नेहा विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित् ।
तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥ ७०६ ॥

अर्थ—विना क्रियाके इच्छा नहीं हो सकती है और विना इच्छाके क्रिया नहीं हो सकती है यह सर्वत्र नियम है । इसलिये विना इच्छाके कोई क्रिया नहीं हो सकती है, चाहे

वह इन्द्रिय सम्बन्धी विषय हो अथवा नहीं हो । भावार्थ—चाहे संसारके विषयमें क्रिया हो चाहे धर्मके विषयमें हो, कैसी भी क्रिया हो, विना इच्छाके कोई क्रिया नहीं हो सकती है, इसलिये आचार्यकी धर्मादेशादिक क्रियायें भी इच्छापूर्वक ही हैं, इसलिये आचार्य भी इच्छा सहित ही हैं न कि इच्छा रहित ?

उत्तर—

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादक्षीणमोहिषु
बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसंभवः ॥ ७०७ ॥

अर्थ—शङ्काकारकी उपर्युक्त शंका ठीक नहीं है क्योंकि 'इच्छाके विना क्रिया नहीं होती है' इस लक्षणकी क्षीणकषाय वालोंमें अतिव्याप्ति है, बारहवें गुणस्थानमें क्रिया तो होती है परन्तु वहां इच्छा नहीं है यदि बारहवें गुणस्थानमें भी क्रियाके सद्भावसे इच्छा, मानी जाय तो बन्ध सदा ही होता रहेगा । और बन्धकी नित्यतामें मुक्ति ही असंभव हो जायगी । भावार्थ—ऐसा नियम नहीं है कि विना इच्छाके क्रिया हो ही नहीं सक्ती है, दशवें गुणस्थानके अन्तमें और बारहवें गुणस्थानमें क्रिया तो है परन्तु इच्छा नहीं है क्योंकि इच्छा लोभकी पर्याय है, और लोभ कषाय वहां पर नष्ट हो चुकी है यदि दशवें गुणस्थानके अन्तमें और बारहवें गुणस्थानमें भी इच्छाका सद्भाव माना जाय तो आत्मामें कर्मबन्धका कभी अन्त नहीं हो सकेगा सदा बन्ध ही होता रहेगा । क्योंकि बन्ध कषायसे होता है, कारणके सद्भावमें कार्यका होना अवश्यंभावी है, बन्धकी नित्यतामें आत्मा कभी भी मुक्त नहीं हो सक्ता है, इसलिये मोक्षका होना ही असम्भव हो जायगा । मोक्षकी असंभवतामें आत्मा सदा संसारावस्थामें दुःखी ही रहेगा। उसके आत्मिक सुख गुणका कभी भी विकाश न हो सकेगा । इसलिये विना इच्छाके कर्म नहीं हो सक्ता है, यह शंकाकारकी शंका निर्मूल है ।

सारांश—

ततोस्त्यन्तः कृतो भेदः शुद्धेर्नानांशतास्त्रिषु ।
निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहिः कृतः ॥ ७०८ ॥

अर्थ—इसलिये आचार्य, उपाध्याय, साधु, इन तीनोंमें विशुद्धिके नाना अंशोंकी अपेक्षासे अन्तरंग कृत भेद है, सामान्य रीतिसे तीनोंमें ही समानता है । उन तीनोंमें बाह्य क्रियाओंकी अपेक्षासे भेद बतलाना यह पक्ष ठीक नहीं है ।

आगमका आशय—

किञ्चास्ति यौगिकीरूढिः प्रसिद्धा परमागमे ।
विना साधुपदं न स्यात्केवलोत्पत्तिरञ्जसा ॥ ७०९ ॥

तत्र चोक्तमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थसाक्षिणा।
क्षणमस्ति स्वतः श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥ ७१० ॥

अर्थ—यौगिकरीति और रूढ़िसे यह बात परमागममें प्रसिद्ध है कि विना साधु पद प्राप्त किये केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वहीं पर सर्वज्ञ देवने यह बात भी भले प्रकार प्रगट कर दी है कि श्रेणी चढ़नेवालेको क्षणमात्रमें साधुपद स्वयं प्राप्त हो जाता है।

उसीका स्पष्ट कथन—

यतोऽवश्यं स सूरिर्वा पाठकः श्रेण्यनेहसि।
कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षणं ध्यानमाश्रयेत् ॥ ७११ ॥

अर्थ—क्योंकि श्रेणी चढ़नेके समयमें आचार्य अथवा उपाध्याय सम्पूर्ण चिन्ता निरोधात्मक लक्षणवाले ध्यानको करता है।

अतएव—

ततः सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह।
नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति यत्र तत् ॥ ७१२ ॥

अर्थ—इस लिये आचार्य और उपाध्यायको साधुपना अनायास (विना किसी विशेषताके) ही सिद्ध है। वहां पर बाह्य उपयोगका अवकाश नहीं है।

नपुनश्चरणं तत्र छेदोपस्थापनादिवत्।
प्रागादायक्षणं पश्चात् सूरिः साधुपदं श्रयेत् ॥ ७१३ ॥

अर्थ—ऐसा भी नहीं है कि आचार्य पहले छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करके पीछे साधुपदको धारण करता है। भावार्थ—यदि कोई ऐसी आशंका करै कि आचार्य शासन क्रियाके पीछे प्रायश्चित्त लेता है फिर साधुपदको पाता है, यह आशंका ठीक नहीं है क्योंकि यह बात पहले अच्छी तरह कही जाचुकी है कि आचार्यकी क्रियायें दोषाधायक नहीं हैं जिससे कि वह छेदोपस्थापना चारित्रको पहिले ग्रहणकर पीछे साधुपदको प्राप्त करै किन्तु उसका अन्तरंग साधुके ही समान है, साधुकीसी ही सम्पूर्ण क्रियायें हैं केवल बाह्य क्रियाओंमें भेद है वह भेद शुद्धिका कारण नहीं है।

ग्रन्थकारका आशय—

उक्तं दिङ्मात्रमत्रापि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम्।
शेषं विशेषतो वक्ष्ये तत्स्वरूपं जिनागमात् ॥ ७१४ ॥

अर्थ—प्रसङ्ग पाकर यहांपर गुरुका लक्षण दिङ्मात्र कहा गया है, बाकीका उनका विशेष स्वरूप जिनेन्द्रकथित आगमके अनुसार कहेंगे।

यौगिक रीतिसे धर्मका स्वरूप—

धर्मो नीचैः पदादुच्चैः पदे धरति धार्मिकम्।
तत्राजवञ्जवो नीचैः पदमुच्चैस्तदव्ययः॥ ७१५॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमें धारण करै उसे धर्म कहते हैं। संसार नीचस्थान है और उसका नाश होना 'मोक्ष' उच्चस्थान है। +

धर्म—

सधर्मः सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः।
तत्र सद्दर्शनं मूलं हेतुरद्वैतमेतयोः॥ ७१६॥

अर्थ—वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप है। उन तीनोंमें सम्यग्दर्शन ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका अद्वितीय मूल कारण है। *

सम्यग्दर्शनकी प्रधानता—

ततः सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा।
सदृक् पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित्॥ ७१७॥

अर्थ—इसलिये चाहे गृहस्थ धर्म हो, चाहे मुनिधर्म हो सम्यग्दर्शनपूर्वक है तो वह धर्म है, यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक नहीं है तो वह धर्म भी नहीं कहा जा सकता है।

रूढ़िसे धर्मका स्वरूप—

रूढ़ितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्मः शुभावहा।
तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्तिः सहानया॥ ७१८॥

अर्थ—शरीर और वचनोंकी शुभ क्रिया रूढ़िसे धर्म कहलाती है। उसी क्रियाके साथ मनोवृत्ति भी अनुकूल होनी चाहिये। भावार्थ—मन, वचन, कायकी शुभ क्रिया धर्म है

शुभ क्रियाके भेद—

सा द्विधा सर्वसागारानगाराणां विशेषतः।
यतः क्रिया विशेषत्वान्नूनं धर्मो विशेषितः॥ ७१९

अर्थ—घर सहित–गृहस्थ और घर रहित–मुनियोंकी विशेषतासे वह क्रिया दो प्रकार है। क्योंकि क्रियाकी विशेषतासे ही निश्चयसे धर्म भी विशेष कहलाता है।

अणुव्रतका स्वरूप—

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्।
देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम्॥ ७२०॥

---

* देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणं संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।

+ सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

अर्थ—हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील और सम्पूर्ण परिग्रहका एकदेश त्याग करना गृहस्थोंका अणुव्रत कहा गया है।

महाव्रतका स्वरूप—

सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत्।
नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥ ७२१ ॥

अर्थ—उन्ही हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और सम्पूर्ण परिग्रहका सर्वथा (मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनापूर्वक) त्याग करना महाव्रत कहलाता है। यह महाव्रत गृहस्थोंसे नहीं किया जा सकता है, किन्तु पूज्य–मुनियोंका यह चिन्ह (स्वरूप) है।

गृहस्थ और मुनियोंमें भेद—

मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्त्तिनाम्।
तथाऽनगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेप्यतः ॥ ७२२ ॥

अर्थ—मूलगुण और उत्तरगुणोंको गृहस्थ एकदेशरूपसे पालन करते हैं, मुनि वैसा नहीं करते हैं किंतु वे उनको सम्पूर्णतासे पालन करते हैं। मुनियोंके उत्तरगुणोंका पालन भी सम्पूर्णतासे होता है।

गृहस्थोंके मूलगुण—

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां साक्षात् सर्वसाधारणा इमे ॥ ७२३ ॥

अर्थ—व्रत धारण करनेवाले गृहस्थियोंके आठ मूलगुण कहे गये हैं। ये आठ मूलगुण अव्रतियोंके भी पाये जाते हैं, ये मूलगुण सबोंके साधारण रीतिसे पाये जाते हैं। **भावार्थ**—सबसे जघन्य पाक्षिक श्रावक होता है उसके भी इन अष्ट मूलगुणोंका होना आवश्यक है, विना इनके पालन किये श्रावक संज्ञा ही नहीं कही जा सकती, इसीलिये इनको सर्वसाधारण गुण कहा गया है। इतना विशेष समझ लेना चाहिये कि व्रतीश्रावकोंके निरतिचार मूलगुण होते हैं और अव्रतीके सातिचार होते हैं। इसी आशयसे व्रती अव्रतीका भेद किया गया है। इसीका स्पष्ट विवेचन नीचे किया जाता है—

अष्ट मूलगुणोंका प्रवाह—

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम्।
तद्विना न व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च तथाङ्गिनाम् ॥ ७२४ ॥

अर्थ—ये अष्ट मूल या तो कुल परम्परासे ही पलते चले आते हैं, या स्वभावसे ही नियमसे पलते चले आते हैं। विना अष्टमूल गुणोंके पालन किये कोई व्रत नहीं हो सकता है और न जीवोंके सम्यग्दर्शन ही हो सकता है। **भावार्थ**—व्रतोंका पालन करनेके लिये तो नियम मर्यादा आदिका प्रारंभ

किया जाता है । परन्तु अष्ट मूलगुणोंको पालन करनेके कई प्रकार देखे जाते हैं। किन्हीं २ के यहां तो स्वभावसे ही मांसादिकका सेवन नहीं होता है, अर्थात् कोई २ मांसादिकके सेवनसे स्वभावसे ही घृणा प्रकट करते हैं और किन्हीं २ के यहां कुलपरम्परासे मांसादिकका ग्रहण नहीं किया जाता है, ऐसे घरानोंमें अष्ट मूलगुणोंका नियम बड़ी सुगमतासे कराया जा सकता है, परन्तु जिनके यहां कुलाम्नाय अथवा स्वभावसे मांसादिकका त्याग नहीं है उनको सम्यक्त्व प्राप्तिके समय मांसादिकके छोड़नेके लिये विशेष प्रयत्न करना पड़ता हैं परन्तु यह बात जैनेतर पुरुषोंमें ही पाई जाती है, जैन कहलानेवाले पुरुषोंके तो नियमसे स्वभाव और कुलाम्नायसे अष्ट मूल गुणोंका पालन होता ही चला आता है । उनके पालनेके लिये उन्हें किसी प्रकारका यत्न नहीं करना पड़ता है, विना अष्ट मूल गुणोंके पालन किये पाक्षिक जैन भी नहीं कहा जा सकता है । और न उसके सम्यक्त्व तथा व्रत ही हो सकता है ।

अष्ट मूल गुणोंका पालन जैन मात्रके लिये आवश्यक है—

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः ।
किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोथवा ॥ ७२५ ॥

अर्थ—इतना किये विना अर्थात् अष्ट मूल गुण धारण किये विना नाम मात्र भी श्रावक नहीं कहा जाता है, फिर पाक्षिक, गूढ, नैष्ठिक, अथवा साधककी तो बात ही क्या है ?

अष्टमूल गुण—

मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकः ।
नामतः श्रावकः क्षान्तो नान्यथापि तथा गृही ॥ ७२६ ॥

अर्थ—मदिरा, मांस, मधु (शहत) का त्याग करनेवाला तथा पांच उदुम्बर फलोंका त्याग करनेवाला नाम मात्रका श्रावक कहा जाता है, वही क्षमा धर्मका पालक है अन्यथा वह श्रावक नहीं कहा जासकता है । भावार्थ—जो केवल श्रावक संज्ञाको धारण करता है उसे भी तीन मकार और पांच फलोंका त्यागी होना चाहिये, जो इनका भी त्यागी नहीं है उसे जैन ही नहीं कहना चाहिये । इन्हीं आठोंके त्यागको अष्ट मूल गुण कहते हैं ।

सप्तव्यसनके त्यागका उपदेश—

यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् ।
अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥ ७२७ ॥

अर्थ—गृहस्थों (अव्रती) को यथाशक्ति सप्तव्यसनका त्याग करना चाहिये और जो व्रतोंका पालन करते हैं तथा शुभ क्रियाओंको चाहते हैं उन गृहस्थोंको तो अवश्य ही ÷सप्तव्यसनका त्याग करना चाहिये । भावार्थ—यहांपर सप्त व्यसनके आवश्यक त्यागका उपदेश

÷ द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः महापापानि सप्तैतद्व्यसनानि त्यजेद्बुधः । अर्थात् जूआ खेलना, मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्याके यहां जाना, शिकार खेलना, चोरी करना, परस्त्रीके यहां जाना इन सात व्यसनोंको बुद्धिमान् छोड़ दे ।

उस श्रावकके लिये दिया गया है जो व्रतोंको पालता है, नियम पूर्वक त्याग व्रती श्रावक ही कर सकता है, अव्रती नियमपूर्वक इनका त्याग नहीं कर सकता हैं, परन्तु अष्टमूल गुणोंका धारण अव्रती श्रावकके लिये भी आवश्यक कहा गया है।

अतीचारोंके त्यागका उपदेश—

त्यजेद्दोषाँस्तु तत्रोक्तान् सूत्रोतीचारसंज्ञकान् ।
अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत् ॥ ७२८ ॥

अर्थ—व्रतोंके पालनेमें जो अतीचार * नामक दोष सूत्रोंमें कहे गये हैं उन्हें भी छोड़ना चाहिये। मद्य मांसादिकोंका तो कौन श्रावक सेवन करेगा ? अर्थात् मद्यादिक तो प्रथमसे ही सर्वथा त्याज्य हैं।

दान देनेका उपदेश—

दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया ।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥ ७२९ ॥

अर्थ—उत्तम श्रावकोंको जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट पात्रोंके लिये पात्रबुद्धि तथा श्रद्धापूर्वक चार प्रकारका दान देना चाहिये। **भावार्थ**—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि उत्तम पात्र कहे जाते हैं, एक देशव्रतके धारक पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक मध्यम पात्र कहे जाते हैं, और व्रतरहित चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि पुरुष जघन्य पात्र कहे जाते हैं। जैसा पात्र होता है उसी प्रकारका दानके फलमें भेद हो जाता है। जिस प्रकार क्षेत्रकी विशेषतासे वनस्पतिके फलोंमें विशेषता देखी जाती है उसी प्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है। जिस प्रकार पात्रकी विशेषतासे दानके फलमें विशेषता होती है उसी प्रकार दाताकी श्रद्धा, पात्रबुद्धि, भक्ति, निस्पृहता आदि गुणोंसे भी दानके फलमें विशेषता होती है। दानका फल भोगभूमि आदि उत्तम सुखस्थान कहे गये हैं। धनोपार्जनसे रात दिन आरम्भजनित पापबन्ध करनेवाले श्रावकोंको पात्रदान ही पुण्यबन्धका मूल कारण है। इसलिये प्रतिदिन यथाशक्ति चार प्रकारका दान करना चाहिये। यद्यपि वर्तमान समयमें उत्तम पात्रोंका अभावसा हो गया है तथापि उनका सर्वथा अभाव नहीं है। मुनिके न मिलनेपर उत्तम श्रावक, ब्रह्मचारी, उदासीन, सहधर्मी जनोंको दान देना चाहिये। दान चार प्रकार है—आहारदान, औषधदान, अभयदान और ज्ञानदान। यद्यपि सामान्य दृष्टिसे चारों ही दान विशेष पुण्यके कारण हैं तथापि इन चारोंमें उत्तरोत्तर विशेषता है। आहारदान एकवारकी क्षुधाको निवृत्त करता है; औषधदान अनेक दिनोंके लिये शारीरिक रोगोंको दूर कर देता, है अभयदान एक जन्मभरके लिये निर्भय बना

* " अतीचारोंशभञ्जनम् " किसी व्रतके एक अंशमें दोष लगनेको अतीचार कहते हैं। (सागारधर्मामृत।)

देता है। और ज्ञानदान सदाके लिये अमर, अमर, क्षुधादि दोषरहित और निर्भय बना देता है। ज्ञानदानका अतुल माहात्म्य है। पहलेके तीनों दान तो शारीरिक बाधाओंको ही दूर करते हैं परन्तु ज्ञान दान आत्माके निज गुणका विकाश करता है। पहलेके तीन दान तो एक भवके लिये अथवा उसमें भी कुछ समयके लिये ही इस जीवके सहायक हैं परन्तु ज्ञान दान इस जीवका सदाके लिये परम सहायक है। ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो इस जीवात्माको सांसारिक वासनाओंसे हटाकर त्याग मार्ग पर ले जाता है इसलिये श्रावकोंको चारों ही दान और विशेषतासे ज्ञान दान यथाशक्ति अवश्य करना चाहिये। छात्रोंकी सहायता करना, विद्यालयोंका खोलना, शास्त्रोंका वितरण करना, सदुपदेश देना, और स्वयं पढ़ाना ये सम्पूर्ण बातें ज्ञान दानमें गर्भित हैं।

कुपात्र और अपात्रको भी दान देनेका उपदेश—

कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम्।
पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया॥ ७३०॥

अर्थ—* कुपात्र और अपात्रके लिये भी यथोचित दान देना चाहिये। इतना विशेष है कि कुपात्र और अपात्रके लिये पात्र बुद्धिसे दान देना निषिद्ध (वर्जित) कहा गया है, परंतु वह कृपाबुद्धिसे निषिद्ध नहीं है। **भावार्थ**—कुपात्र और अपात्रके लिये पात्र बुद्धिसे जो दान दिन दिया जाता है वह मिथ्यात्वमें शामिल किया गया है, क्योंकि पात्र सम्यग्दृष्टि ही होसक्ता है। पात्रके लिये जो दान दिया जाता है वह भक्ति पूर्वक दिया जाता है, परन्तु कुपात्र अथवा अपात्रके लिये जो दान दिया जाता है वह भक्ति पूर्वक नहीं दिया जाता किन्तु करुणा बुद्धिसे दिया जाता है।

दानका सामान्य उपदेश—

शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादिपीडितेभ्योऽशुभोदयात्।
दीनेभ्यो दयादानादि दातव्यं करुणार्णवैः॥ ७३१॥

अर्थ—और भी जो अशुभकर्मोदयसे क्षुधा, प्यास आदि बाधाओंसे पीड़ित दीन पुरुष हैं उनके लिये भी करुणा सिन्धुओं (दयालुओं)को करुणादान आदि करना चाहिये।

---

* उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम्।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन सहित महाव्रती दिगम्बर मुनि उत्तम पात्र हैं, अणुव्रती सम्यग्दृष्टि मध्यम पात्र है। व्रत रहित सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। ये तीनों ही सत्पात्र गिने जाते हैं। सम्यग्दर्शन रहित व्रती जीव कुपात्र है तथा जो सम्यग्दर्शन और व्रत दोनोंसे रहित है वह अपात्र है।

(सागारधर्मामृत)

जिनेन्द्र पूजनका उपदेश—

पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा प्रतिमासु तद्धिया।
स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥ ७३२ ॥

अर्थ—सद्बुद्धि गृहस्थको तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती, वीतराग, सर्वज्ञ अरहन्त भगवानकी पूजन करना चाहिये अथवा उन अरहन्तोंकी प्रतिमाओंमें अरहन्तकी बुद्धि रख कर स्वर व्यञ्जनोंकी स्थापना करके उनकी पूजा करना चाहिये अथवा स्वर व्यञ्जनोंकी स्थापना करके सिद्ध भगवानकी भी पूजन करना चाहिये।

आचार्य, उपाध्याय, साधुओंकी पूजाका उपदेश—

सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तत्पादयोःस्तुतिम्।
प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात् स त्रिशुद्धितः ॥ ७३३ ॥

अर्थ—आचार्य, उपाध्याय और साधुओंके चरणोंकी पहले स्तुति करके फिर मन, वचन, कायकी शुद्धतासे श्रावकको उन तीनों परमेष्ठियोंकी अष्ट द्रव्यसे पूजा करना चाहिये।

सहधर्मी और ब्रह्मचारियोंकी विनय करनेका उपदेश—

सम्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम्।
व्रतिनां चेतरेषाम्वा विशेषाद्ब्रह्मचारिणाम् ॥ ७३४ ॥

अर्थ—जो अपने समान धर्मसेवी (अपने समान श्रावक) हैं उनका यथाशक्ति आदर सत्कार करना चाहिये, तथा जो व्रती श्रावक हैं अथवा सम्यग्दृष्टि हैं उनका भी यथाशक्ति आदर सत्कार करना चाहिये, और विशेष रीतिसे ब्रह्मचारियोंका आदर सत्कार करना चाहिये।

व्रतयुक्त स्त्रियोंकी विनय करनेका उपदेश—

नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे।
देयं सम्मानदानादि लोकानामविरुद्धतः ॥ ७३५ ॥

अर्थ—व्रतयुक्त जो स्त्रियां हैं, उनका भी लोकसे अविरुद्ध आदर सत्कार करना जैनागममें निषिद्ध नहीं है। भावार्थ—जिस प्रकार व्रती पुरुष सन्मान दानके योग्य हैं उसी प्रकार व्रत युक्त स्त्रियां भी सन्मान दानके योग्य हैं, क्योंकि पूज्यताका कारण चारित्र है वह दोनोंमें समान है। इतना विशेष है कि स्त्रियोंका सन्मान आदि लोकसे अविरुद्ध करना चाहिये इसका आशय यह है कि लोकमें जितना सन्मान उन्हें प्राप्त है उसीके अनुसार देना चाहिये।

जिनचैत्यगृह बनानेका उपदेश—

जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता।
यथा सम्पद्विधेयास्ति दृष्ट्या नाऽवद्यलेशतः ॥ ७३६ ॥

अर्थ--श्रावकोंको जिन मन्दिर बनवानेमें सदा सावधान रहना चाहिये, अपनी सम्पत्तिके परिमाणके अनुसार जिन मन्दिरोंकी रचना अवश्य कराना चाहिये। जिन चैत्य गृह (मन्दिर) बनवानेमें थोड़ासा आरम्भजनित पाप लगता है इस लिये मन्दिर बनवानेमें दोष हो ऐसा नहीं है। **भावार्थ**--यह बात अच्छी तरह निर्णीत है कि जैसा द्रव्य क्षेत्र काल भावका प्रभाव होता है पुरुषोंकी आत्माओंमें भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है। जिस समय किसी दुष्ट पुरुषका समागम हो जाता है उसके निमित्तसे प्रतिसमय परिणाम खराब ही रहते हैं, और जिस समय किसी सज्जनका समागम होता है उस समय मनुष्यके परिणाम उसके निमित्तसे उज्वल होते चले जाते हैं, यह प्रभाव द्रव्यका ही समझना चाहिये। इसी प्रकार कालका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। रात्रिमें मनुष्यके परिणाम दूसरे प्रकारके हो जाते हैं और प्रातःकाल होते ही बदल कर उत्तम हो जाते हैं। जो वासनाएं रात्रिमें अपना प्रभाव डालती हैं वे अनायास ही प्रातःकाल दूर हो जाती हैं, यह कालका प्रभाव समझना चाहिये। इसी प्रकार क्षेत्रका प्रभाव पूर्णतासे आत्मापर प्रभाव डालता है--जो परिणाम घरमें रहते हैं, वे परिणाम किसी साधुनिकेतनमें जानेसे नहीं रहते हैं, जो बातें हमारे हृदयमें विकार करने वालीं उत्पन्न हुआ करती हैं वे उस निकेतनमें पैदा ही नहीं होती हैं उसी प्रकार जो हमारे परिणाम धर्म साधनकी ओर सर्वथा नहीं लगते हैं वे मन्दिरमें जाकर स्वयं लग जाते हैं। मन्दिर ही धर्मसाधनका मूल कारण है। मन्दिरमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, चारों निमित्तोंकी पूर्ण योग्यता है। वहीं हम एकान्त पाते हैं। वहीं तत्त्वचर्चाका स्वाद हमारे कानोंमें प्रविष्ट होता रहता है, और वहीं पर श्री जिनेन्द्रकी वीतराग छवि हमारे आत्मीक भावोंका विकाश करती है। आजकल तो जितना धर्म साधन और परिणामोंकी निर्मलता जिनेन्द्र स्तवन तथा उनकी पूजनसे होती है वैसी निर्मलता और धर्मसाधन अन्यथा नहीं हो सक्ता है। इसका कारण भी यह है कि आजकलके संहनन और मनोवृत्तियोंकी चञ्चलता कुछ दूसरे ही प्रकारकी है। अधिक समय तक न तो हम ध्यान ही कर सक्ते हैं, और न शुभ परिणाम ही रख सक्ते हैं। आत्म चिन्तवन तो बहुत दूर पड़ जाता है इसलिये हम लोगोंके लिये अवलम्बनकी बड़ी आवश्यकता है, और वह अवलम्बन जिनेन्द्रकी वीतराग मुद्रा है, उस वीतराग प्रतिमाके सामने बहुत देर तक हमारे भाव लगे रहते हैं बल्कि यों कहना चाहिये कि जितनी देर हम उस प्रतिमाके सामने उपयोग लगाते हैं उतनी देर तक हमारे परिणाम वहांसे खिंचकर दूसरी ओर लगते ही नहीं है। ध्यानका माहात्म्य यद्यपि बहुत बड़ा है परन्तु मनोवृत्तियोंकी चञ्चलताके संस्कार तुरन्त ही वहांसे उपयोग हटा देते हैं, जिनेन्द्र पूजन और जिनेन्द्र स्तवनमें यह बात नहीं है। जितनी २ भक्ति पुण्यमय स्तोत्रों द्वारा हम करते हैं उतना २ ही हमारा परिणाम भक्ति रससे उमड़ने लगता है, वही

समय हमारे अतिशय पुण्य बन्धका कारण है। श्रावकके लिये जिनेन्द्र दर्शन, जिनपूजन और जिन चिन्तवन इनसे बढ़कर विशेष पुण्योत्पादक और कोई वस्तु नहीं है और यह सामग्री जिन मन्दिरमें ही मिल सक्ती है। इसलिये जिन मन्दिरोंका बनवाना परम आवश्यक है, वर्तमान समयमें कुछ लोग ऐसा कहने लगे हैं कि "फल भावानुसार होता है इसलिये देवदर्शन करना आवश्यक नहीं है, घर ही परोक्ष नमस्कार करनेसे पुण्यबन्ध हो सक्ता है, और भाव न हों तो मंदिर जाना भी कुछ कार्यकारी नहीं है" ऐसा कहना उन्हीं पुरुषोंका समझना चाहिये जो जैन शास्त्रोंपर श्रद्धान नहीं रखते हैं, और न जैन मतमें बताई हुई क्रियाओंको पालते हैं इतना ही नहीं किंतु क्रियाओंको रूढि कहकर अपने तीव्र मिथ्यात्वका परिचय देते हैं। जो जिन दर्शनको प्रतिदिन आवश्यक नहीं समझते हैं उन्हें जैन कहना भूल है, "भावसे ही पुण्यबन्ध होता है" यह उनका छल मात्र है, यदि वास्तवमें ही वे भावोंको ऐसा बनाते तो जिन दर्शन और जिन मंदिरकी अनावश्यकता नहीं बतलाते। विना बाह्य अवलम्बनके अन्तरंगका सुधार कभी नहीं हो सक्ता है। जिन मुनियोंने आत्माको ही ध्येय बना रक्खा है उन्होंने भी अनेक स्तोत्र स्तोत्रोंसे जिन भक्तिकी गंगा वहा दी है। फिर विचारे आत्मध्येयसे कोशों दूर श्रावकोंकी तो बात ही क्या है। श्रावकोंके नित्य कर्तव्योंमें सबसे पहला कर्तव्य देवपूजन है। इसलिये जिन मंदिर बनवाकर अनेक भव्य जीवोंका उपकार करना श्रावकका प्रथम कर्तव्य है। *

कोई २ ऐसी शंका करते हैं कि जिनमंदिर बनवानेमें जल मिट्टी ईंट पत्थर लकड़ी आदि पदार्थोंके इकट्ठा करनेमें पापबन्ध ही होता है? इसका उत्तर ग्रन्थकारने चौथे चरणमें स्वयं देदिया है, उन्होंने कह दिया है कि पापका लेश अवश्य है परन्तु असीम पुण्य बन्धके सामने वह कुछ नहींके बराबर है क्योंकि "तत्पापमपि न पापं यत्र महान् धर्मानुबन्धः" अर्थात् वह पाप भी पाप नहीं है कि जिसमें बड़ा भारी धर्मानुबन्ध हो इसी लिये आचार्यने पापलेशके होनेसे मंदिर बनवानेकी विधिको दूषित नहीं बताया है। मंदिर बनवानेमें पापका तो लेश मात्र है परन्तु पुण्यबन्ध बहुत होता है इसलिये उपर्युक्त शंका निर्मूल है।×

---

* निरालम्बनधर्मस्य स्थितिर्यस्मात्ततः सताम्, मुक्तिप्रासादसोपानमासैरुक्तो जिनालयः॥
अर्थ—जिनमंदिरोंमें आधार रहित धर्मकी स्थिति बनी हुई है। इस लिये वे जिनमन्दिर सज्जन पुरुषोंको मोक्षरूपी महलपर चढ़नेके लिये सीढीके समान हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।
(सागारधर्मामृत)

× यद्यप्यारम्भतो हिंसा हिंसायाः पापसंभवः।
तत्रापत्रकृतारम्भो महत्पुण्यं समश्नुते॥
अर्थ—यद्यपि आरंभ करनेसे हिंसा होती है और हिंसासे पाप उत्पन्न होता है तथापि जिनमंदिर, पाठशाला, स्वाध्यायशाला आदिके बनवानेमें मिट्टी पत्थर पानी लकड़ी आदिके इकट्ठे करनेसे आरंभ करनेवाला पुरुष महा पुण्यका अधिकारी होता है। (सागारधर्मामृत)

प्रतिष्ठा करानेका उपदेश—

सिद्धानामर्हताञ्चापि यन्त्राणि प्रतिमाः शुभाः ।
चैत्यालयेषु संस्थाप्य प्राक्प्रतिष्ठापयेत् सुधीः ॥ ७३७ ॥

अर्थ—सिद्ध यंत्र और अर्हन्तोंकी शुभ प्रतिमाओंको चैत्यालयोंमें स्थापना करके पहले उनकी बुद्धिमान् पुरुषको प्रतिष्ठा करानी चाहिये। **भावार्थ**—मन्त्रशास्त्रोंमें शब्दशक्तिका अपार माहात्म्य बतलाया गया है, जिनप्रतिमाओंमें अर्हन्तोंकी स्थापना मन्त्रों द्वारा ही की जाती है, उन्ही मन्त्रोंकी शक्तिसे वह स्थापना की हुई प्रतिमा पूज्य होजाती है, मन्त्रशक्तिकी योजनाके लिये ही प्रतिष्ठा कराई जाती है ।

तीर्थादिककी यात्राका उपदेश—

अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः ।
श्रावकः स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥ ७३८ ॥

अर्थ—तीर्थवन्दना, आदि यात्राओंके लिये सदा उत्साह सहित मनको रखना चाहिये। परन्तु तीर्थादिककी यात्राओंमें भी श्रावक संयमकी विराधना न करै, अर्थात् यात्राओंमें अनेक विघ्नके कारण मिलनेपर भी वह संयमको सुरक्षित ही रक्खे ।

जिनबिम्बोत्सवमें सम्मिलित होनेका उपदेश—

नित्ये नैमित्तिके चैवं जिनबिम्बमहोत्सवे ।
शैथिल्यं नैव कर्तव्यं तत्वज्ञैस्तद्विशेषतः ॥ ७३९ ॥

अर्थ—जो नित्य नैमित्तिक जिन बिम्ब महोत्सव होते रहेते हैं उनमें भी श्रावकोंको शिथिलता नहीं करना चाहिये, तत्त्वके जानकारोंको तो विशेषतासे उनमें सम्मिलित होना चाहिये । **भावार्थ**—जिन बिम्ब महोत्सव तथा धार्मिक सम्मेलनोंमें जानेसे धर्मकी प्रभावना तो होती ही है साथमें अनेक विद्वान् एवं धार्मिक सत्पुरुषोंके समागमसे तत्वज्ञान प्राप्तिका भी सुअवसर मिल जाता है इसलिये धार्मिक सम्मेलनोंमें अवश्य जाना चाहिये ।

संयम धारण करनेका उपदेश—

संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभिः ।
विनापि प्रतिमारूपं व्रतं यद्वा स्वशक्तितः ॥ ७४० ॥

अर्थ—गृहस्थोंको दो प्रकारका संयम भी धारण करना चाहिये । या तो अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिमारूप व्रतको धारण करना चाहिये अथवा विना प्रतिमाके भी अभ्यस्तरूप व्रतोंको धारण करना चाहिये । **भावार्थ**—जो व्रत नियमपूर्वक उत्तरोत्तर प्रतिमाओंमें पहले २ की प्रतिमाओंके साथ पाले जाते हैं उन्हें प्रतिमारूप व्रत कहते हैं । और जो व्रत नियमपूर्वक

प्रतिमारूपसे नहीं पाले जाते हैं, केवल अभ्यासरूपसे कभी किसी प्रतिमाका अभ्यास किया जाता है और कभी किसी प्रतिमाका अभ्यास किया जाता है उन्हें प्रतिमारूप व्रत नहीं कहते किन्तु अनियत व्रत कहते हैं। जो श्रावक प्रतिमारूपसे व्रतोंके पालनेमें असमर्थ हैं वे अनियत व्रतोंसे ही शुभ कर्मबन्ध करते हैं।

बारह तपोंका उपदेश—

तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः।
कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यंचानतिवीर्यसात् ॥ ७४१

अर्थ—बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे तप बारह प्रकार कहा गया है * छह प्रकार बाह्य और छह प्रकार अभ्यन्तर। इन बारह प्रकारके तपोंको सम्पूर्णतासे अथवा इनमेंसे किसी एकको अपनी शक्तिके अनुसार करना चाहिये।

ग्रन्थकारकी महान् प्रतिज्ञा—

उक्तं दिङ्मात्रतोप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम्।
वक्ष्ये चोपासकाध्यायात्सावकाशात्सविस्तरम् ॥ ७४२ ॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि यहांपर प्रसङ्गवश गृहस्थियोंके व्रत दिङ्मात्र हमने कह दिये हैं। आगे अवकाश पाकर उपासकाध्ययन ग्रन्थोंके आधारसे उन्हें विस्तारपूर्वक हम कहेंगे। ×

यतियोंके मूलगुण—

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः।
नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥ ७४३ ॥

अर्थ—मुनियोंके मूलगुण भी अट्ठाईस हैं। वे ऐसे ही हैं जैसे कि वृक्षका मूल होता है। विना मूलके जिस प्रकार वृक्ष नहीं ठहर सकता उसी प्रकार विना अट्ठाईस मूलगुणोंके मुनिव्रत भी नहीं ठहर सकता। इन अट्ठाईस मूलगुणोंमेंसे मुनियोंके न तो एक भी कम होता है और न अधिक ही होता है।

अट्ठाईस मूलगुणोंके पालनेसे ही मुनिव्रत पलता है—

सर्वैरेभिः समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम्।
न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावद्दंशनयादपि ॥ ७४४ ॥

---

* अनशन, अवमोदर्य (ऊनोदर), वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, एकान्त शयन, ये छह बाह्य तपके भेद हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान ये छह भेद अभ्यन्तर तपके हैं। इनका विशेष विवरण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकसे जानना चाहिये।

× ग्रन्थकारने ऐसी बड़ी २ प्रतिज्ञायें कई प्रकरणोंमें की हैं। यदि आज समग्र ग्रन्थ-सिन्धुकी उपलब्धि होती तो न जानें कितने अपूर्व तत्त्वरत्नोंकी प्राप्ति होती!

अर्थ—अट्ठाईस मूलगुणोंको सम्पूर्ण रीतिसे पालनेसे ही मुनिव्रत सिद्ध होता है। इनमेंसे कुछ गुणोंको पालनेसे मुनिव्रत नहीं समझा जाता, किन्तु वह भी अपूर्ण ही रहता है। जितने अंशमें मूलगुणोंमें न्यूनता रहती है उतने ही अंशमें मुनिव्रतमें भी न्यूनता रह जाती है।

ग्रन्थान्तर (अट्ठाईस मूलगुण)

वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवस्सयमचेलमन्हाणं ।
खिदिसयणमदंतमणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥ ७४५ ॥

अर्थ—पंचै महाव्रत, पंचै समिति, पाँचों इन्द्रियोंका निरोध, केशलोंच करना, छहैं आवश्यकों (समता, वंदना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग) का पालना, वस्त्र धारण नहीं करना, स्नान नहीं करना, पृथ्वीपर सोना, दन्तधावन नहीं करना, खड़े होकर आहार लेना और एकैवार भोजन करना ये मुनियोंके अट्ठाईस मूल गुण हैं।

मुनियोंके उत्तर गुण—

एते मूलगुणाः प्रोक्ताः यतीनां जैनशासने ।
लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञकाः ॥ ७४६ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए मुनियोंके मूल गुण जैन शासनमें कहे गये हैं उन्हीं मुनियोंके उत्तर गुण चौरासी लाख हैं।

सारांश—

ततः सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदितः।
प्राणिसंरक्षणं मूलमुभयत्राऽविशेषतः ॥ ७४७ ॥

अर्थ—सारांश यही है कि जो गृहस्थोंका धर्म कहा गया है अथवा जो मुनियोंका धर्म कहा गया है उन दोनोंमें सामान्य रीतिसे प्राणियोंकी रक्षा मूल भूत है, अर्थात् दोनोंके व्रतोंका उद्देश्य प्राणियोंकी रक्षा करना है। गृहस्थ धर्ममें एक देश रक्षा की जाती है और मुनि धर्ममें सर्वथा की जाती है।

क्रियारूप व्रतोंका फल—

उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् ।
सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥ ७४८ ॥

अर्थ—और भी जो क्रियारूप व्रतोंका समूह विस्तारसे कहा गया है वह एक सर्व सावद्ययोग (प्राणि हिंसापरिणाम) की निवृत्तिके ही लिये है।

व्रतका लक्षण—

अर्थाज्जैनोपदेशोयमस्त्यादेशः स एव च ।
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥ ७४९ ॥

अर्थ—अर्थात् यही तो जिनमतका उपदेश है और यही जिनमतका आदेश है कि सर्व सावद्ययोगकी निवृत्तिको व्रत कहते हैं।

सर्व सावद्ययोग (हिंसा) का स्वरूप—

सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिर्यदर्थतः।
प्राणच्छेदो हि सावद्यं सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥ ७५० ॥
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्वः स उच्यते।
सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो यः स स्मृतो योग इत्यपि ॥ ७५१ ॥

अर्थ—सर्व सावद्य योगका शब्दार्थ करते हुए प्रत्येक शब्दका अर्थ करते हैं—सर्व शब्दका अर्थ है अन्तरंग और वहिरंग व्यापार, सावद्य शब्दका अर्थ है प्राणोंका छेद करना, इसीका नाम हिंसा है। योग शब्दका अर्थ है उस सर्व सावद्य (हिंसा)के विषयमें उपयोग लगाना, उपयोग दो प्रकारका है, एक बुद्धि पूर्वक, दूसरा सूक्ष्म—अबुद्धि पूर्वक, इस प्रकार योगके दो भेद हो जाते हैं।

भावार्थ—अन्तरंग और वहिरंग प्राणोंका नाश करनेके लिये उपयोगको लगानेका नाम ही सर्व सावद्य योग कहलाता है। अर्थात् हिंसाकी तरफ परिणामोंको लगाना, इसीका नाम सर्व सावद्य योग है। अन्तरंग सावद्य-भाव प्राणोंका नाश करना और बाह्य सावद्य—द्रव्य प्राणोंका नाश करना है। बुद्धि पूर्वक हिंसा करनेके लिये उद्यत चित्त होना स्थूल सावद्य योग है और कर्मोदयवश—अज्ञात भावोंसे हिंसाके लिये परिणामोंका उपयुक्त होना सूक्ष्म सावद्य योग है।

व्रतका स्वरूप—

तस्याभावनिवृत्तिः स्याद् व्रतं वार्थादिति स्मृतिः।
अंशात्साप्यंशतस्तत्सा सर्वतः सर्वतोपि तत् ॥ ७५२ ॥

अर्थ—उस सर्व सावद्ययोगका अभाव होनेका नाम ही सर्व सावद्ययोग निवृत्ति कहलाती है, उसीका नाम व्रत है। यदि सर्व सावद्य योगकी निवृत्ति अंश रूपसे है तो व्रत भी अंश रूपसे है, और यदि वह सर्वांश रूपसे (पूर्णतासे) है तो व्रत भी पूर्ण है।

अन्तर्व्रत और बाह्यव्रत—

सर्वतः सिद्धमेवैतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु।
व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैवात्मनि कृपा ॥ ७५३ ॥

अर्थ—यह बात निर्णीत है कि प्राणियोंमें दया करना बाह्य व्रत कहलाता है और कषायोंका त्याग करना अन्तर्व्रत कहलाता है तथा यही अन्तर्व्रत निजात्मा पर दया-भाव कहलाता है।

भाव हिंसासे हानि—

लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादयः स्फुटम् ।
हिंसा स्यात्संविदादीनां धर्माणां हिंसनाच्चितः ॥ ७५४ ॥

अर्थ—असंख्यात लोक प्रमाण रागादिक वैभाविक भाव जब तक रहते हैं तब तक आत्माके ज्ञानादिक गुणोंकी हिंसा होनेसे आत्माकी हिंसा होती रहती है। इसलिये ये भाव ही हिंसाके कारण तथा स्वयं हिंसारूप हैं।

इसीका खुलासा—

अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः ।
अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ॥ ७५५ ॥

अर्थ—अर्थात् रागादिक भाव ही हिंसा है, अधर्म है, व्रतच्युति है, और रागादिकका त्याग ही अहिंसा है, धर्म है अथवा व्रत है।

परका रक्षण भी स्वात्म रक्षण है।—

आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतम् ।
तत्परं स्वात्मरक्षायाः कृतं नातः परञ्च यत् ॥ ७५६ ॥

अर्थ—आत्मासे भिन्न दूसरे प्राणियोंके शरीरकी रक्षा जो कही गई है वह भी केवल अपनी ही रक्षाके लिये है। इससे भिन्न नहीं है। **भावार्थ**—परजीवोंकी रक्षाके लिये जो उद्योग किया जाता है वह शुभ परिणामोंका कारण है, तथा जो सर्वारंभरहित निवृत्त परिणाम हैं वे शुद्धभावोंके कारण हैं। शुभभाव और शुद्धभावोंसे अपने आत्माका ही कल्याण होता है इस लिये पर रक्षणको स्वात्मरक्षण ही कहना चाहिये।

रागादिक ही आत्मघातमें हेतु हैं—

सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणां बलात् ।
तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥ ७५७ ॥

अर्थ—रागादिक भावोंके होने पर अवश्य ही कर्म बन्ध होता है, और उस कर्म बन्धके पाकसे आत्माको दुःख होता है इसलिये रागादिक भावों (परहिंसा परिणाम)से अपने आत्माका घात होता है यह बात सिद्ध हो चुकी।

उत्कृष्ट व्रत—

ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयाद्ऋते ।
चारित्रापरनामैतद् व्रतं निश्चयतः परम् ॥ ७५८ ॥

अर्थ—इस लिये मोहनीय कर्मके उदयसे रहित जो आत्माका शुद्धोपयोग है उसीका दूसरा नाम चारित्र है और वही निश्चयसे उत्कृष्ट व्रत है।

शुद्ध चारित्र ही निर्जराका कारण है—

चारित्रं निर्जराहेतुर्न्यायादप्यस्त्यबाधितम्।
सर्वस्वार्थक्रियामर्हन् सार्थनामास्ति दीपवत् ॥ ७५९ ॥

अर्थ—चारित्र निर्जराका कारण है यह बात न्यायसे अबाधित सिद्ध है। वह चारित्र ही स्वार्थ क्रिया करनेमें समर्थ है। जिस प्रकार दीपक प्रकाशन क्रियासे सार्थनामा (यथार्थ नामवाला) है उसी प्रकार चारित्र भी कर्म नाश क्रियासे सार्थनामा है।

शुभोपयोग यथार्थ चारित्र नहीं है—

रूढेः शुभोपयोगोपि ख्यातश्चारित्रसञ्ज्ञया।
स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥ ७६० ॥
किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत्।
नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥ ७६१ ॥

अर्थ—रूढ़िसे शुभोपयोग भी चारित्र कहा जाता है परन्तु शुभोपयोग चारित्र स्वार्थ क्रिया (कर्मोंकी निर्जरा)के करनेमें समर्थ नहीं है इस लिये निश्चयसे वह यथार्थ चारित्र नहीं है। किन्तु कर्मबन्धका कारण है इस लिये शत्रुके समान है। यह चारित्र श्रेष्ठ नहीं कहा जा सक्ता किन्तु शुद्धोपयोगरूप चारित्र श्रेष्ठ है। यह न तो आत्माका उपकार ही करनेमें समर्थ है और न अपकार ही करनेमें समर्थ है। भावार्थ-शुभोपयोगसे शुभ कर्मोंका बन्ध होता है। यद्यपि शुभ कर्मोंका बन्ध विपाक कालमें सांसारिक सुखका देनेवाला है तथापि उसे वास्तविक दृष्टिसे सुखका विघातक ही समझना चाहिये, क्योंकि कर्मबन्ध जितना भी है सभी आत्माको दुःख देनेवाला है। आत्माका वास्तविक कल्याण उसी चारित्रसे होता है जो आत्मासे कर्मोंको दूर करनेमें समर्थ है। ऐसा चारित्र शुद्धोपयोगरूप ही होता है। शुभोपयोग कर्मबन्धका कारण है इसी लिये उसे यथार्थ चारित्र नहीं कहा गया है किन्तु आत्माका अहितकर ही कहा गया है। निश्चय दृष्टिसे यह कथन है। व्यवहार दृष्टिसे शुभोपयोग अच्छा ही है और उपकारी भी है।

शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है—

विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात्।
बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्रसंभवात् ॥ ७६२ ॥

अर्थ—शुभोपयोग रूप चारित्र विरुद्ध कार्यकारी है यह बात असिद्ध नहीं है। क्योंकि शुद्धके सिवा सर्वत्र एकान्त रीतिसे बन्ध होना संभव ही है।

ऐसी तर्कणा मत करो—

नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जरा हेतुरंशतः ।
अस्ति नाबंधहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहः ॥७६३ ॥

अर्थ—बुद्धिके दोषसे ऐसी भी तर्कणा नहीं करना चाहिये कि शुभोपयोग–चारित्र अंश मात्र निर्जराका भी कारण है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों निर्जराके कारण तो है ही नहीं, किन्तु संवरके भी नहीं हैं। **भावार्थ**–शुभोपयोग शुभ बन्धका कारण है। दोनों कर्म बन्धके ही कारण हैं, और कर्म बन्ध आत्माका शत्रु है।

यथार्थ चारित्र।

कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् ।
धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात् सैष चारित्रसंज्ञकः ॥ ७६४ ॥

अर्थ—कर्मके ग्रहण करनेकी क्रियाका रुक जाना ही स्वरूपाचरण चारित्र है। वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है, और वही यथार्थ चारित्र है।

ग्रन्थान्तर—

***चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोति णिद्दिट्ठो।**
मोहक्कोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ ७६५ ॥

अर्थ—निश्चयसे चारित्र ही धर्म है और धर्म वही है जो उपशमरूप है। तथा मोह क्रोधसे रहित आत्माका परिणाम ही धर्म है। **भावार्थ**–उपशमसे संवरका ग्रहण करना चाहिये, और मोहक्रोध रहित आत्माके परिणामसे निर्जराका ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् संवर और निर्जरारूप धर्म ही चारित्र है।

शङ्काकार।

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः ।
समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥ ७६६ ॥

अर्थ—शङ्काकारका कहना है कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और चारित्र तीनोंको मिलकर ही मोक्षमार्ग कहलाता है। फिर केवल चारित्रके कहनेसे क्या प्रयोजन है?

उत्तर—

सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः ।
त्रयाणामविनाभावादिदं त्रयमखण्डितम् ॥ ७६७ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि सामान्य दृष्टिसे शंका ठीक है कि सामान्य दृष्टिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों ही चारित्रमें गर्भित हैं। परंतु तीनोंका अविनाभाव होनेसे तीनों ही

अखण्डित हैं। भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों ही उत्तरोत्तर चिन्तनीय हैं तीनोंमेंसे पहले २ के होनेपर आगे आगेके भजनीय हैं, परन्तु उत्तर उत्तर के होनेपर पहले २ का होना अवश्यंभावी है' अर्थात् सम्यग्दर्शन के होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है और सम्यग्ज्ञानके होने पर सम्यक्चारित्र भजनीय है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों साथ साथ ही होते हैं। क्योंकि जिस समय आत्मामें दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षय, क्षयोपशम होनेपर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है उसी समय मति अज्ञान, श्रुत अज्ञानकी निवृत्ति पूर्वक आत्मामें सुमतिज्ञान सुश्रुतज्ञान प्रकट होजाते हैं। सम्यग्दर्शन यद्यपि ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है क्योंकि ज्ञानको उत्पन्न (प्रकट) करनेवाला तो ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम हैं। परन्तु ज्ञानमें सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके होनेपर ही आता है इसलिये दोनों ही अविनाभावी है। अविनाभावी होनेपर भी ऊपर जो यह कहा गया है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है, उसका आशय यह है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर उत्तरोत्तर सम्यग्ज्ञानका क्षयोपशम भजनीय है। इसी लिये सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवें गुणस्थानमें नियम से होजाती है, परन्तु ज्ञानकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानके अन्तमें होती है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शनके होने पर ज्ञान भजनीय है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके होने पर सम्यक् चारित्र भजनीय है। सम्यग्ज्ञानके होनेपर यह नियम नहीं है कि चारित्र हो ही हो। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्ज्ञान तो होजाता है। परन्तु सम्यक्चारित्र वहां नहीं है। वह पाँचवें गुणस्थानसे शुरू होता है। हां इतना अवश्य है कि जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञान अविनाभावी है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ स्वरूपाचरण चारित्र भी अविनाभावी है। चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरण चारित्र भी आत्मामें प्रकट हो जाता है। इसका कारण भी यही है कि सम्यग्दर्शनके घात करनेवाली सात प्रकृतियां हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति। इन सातोंमें अन्तके तीन भेद तो दर्शनमोहनीयके हैं और आदिके चार भेद (अनन्तानुबन्धी) चारित्र मोहनीयके हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय यद्यपि चारित्रमोहनीयका भेद है तथापि उसमें दो प्रकारकी शक्ति है वह सम्यग्दर्शनका भी घात करती है और सम्यक्चारित्रका भी घात करती है। अनन्तानुबन्धीका दूसरे गुणस्थान तक उदय रहता है, इसीलिये चौथे गुणस्थानमें निराबाध सम्यग्दर्शन और स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट रहता है, परन्तु जब * प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें

* आदिम सम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे। अण अण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥ सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादोमिच्छभूमिसमभिमुहो। णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥ **अर्थात्**—जिस समय अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे जीव सम्यक्त्वसे गिरता है उस समय दूसरे गुणस्थानमें आता है, दूसरा गुणस्थान भी यद्यपि जीवकी वैभाविक अवस्था है तथापि वैभाविक अवस्था मिथ्यात्वके सन्मुखापन्न अवस्था है। (गोमट्टसार)

एक समयसे लेकर छह आवलि काल बाकी रह जाता है उस समय अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभमेंसे किसी एकका उदय होनेपर सम्यक्त्वका नाश हो जाता है और द्वितीय गुणस्थान हो जाता है सम्यग्दर्शनके साथ ही स्वरूपाचरण चारित्र भी नष्ट हो जाता है क्योंकि उसका भी साक्षात् घातक अनन्तानुबन्धी है ।

उपर्युक्त कथनसे यह बात भी सिद्ध होजाती है कि जब स्वरूपाचरण चारित्र और सम्यग्ज्ञान दोनों ही सम्यग्दर्शनके साथ होने वाले हैं तो तीनों ही अविनाभावी हैं इसीलिये ग्रन्थकारने तीनोंको अविनाभावी बतलाए हुए तीनोंको अखण्डित कहा है । परन्तु सम्यग्दर्शनका अविनाभावी स्वरूपाचरण चारित्र ही है, क्रियारूप चारित्र नहीं है । क्योंकि क्रिया रूप चारित्र पांचवें गुणस्थानसे प्रारंभ होता है। इसीसे पहले यह भी कहा गया है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय है । अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र हो भी अथवा नहीं भी हो, नियम नहीं है । यहांपर एक शंका उपस्थित होती है वह यह है कि जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ सम्यग्ज्ञानका अविनाभाव होनेपर ही उत्तरोत्तर वृद्धिकी अपेक्षासे ज्ञान भजनीय है । उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र भजनीय नहीं होना चाहिये क्योंकि सम्यक्चारित्रकी पूर्ति बारहवें गुणस्थानमें ही होजाती है और सम्यग्ज्ञानकी पूर्ति तेरहवें गुणस्थानके प्रारंभमें होती है, इसका भी कारण यही है कि चारित्र गुणको घात करनेवाली चारित्र मोहनीय कषाय दशवें गुणस्थानके अन्तमें सर्वथा नष्ट होजाती हैं और केवलज्ञानको घात करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म बारहवेंके अन्तमें नष्ट होता है। इस कथनसे तो यह बात सिद्ध होती है कि सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्ज्ञान भजनीय है और ऊपर कहा गया है कि ज्ञानके होनेपर चारित्र भजनीय है परन्तु इस शंकाका उत्तर इस प्रकार है कि यद्यपि स्थूल दृष्टिसे यह शंका ठीक प्रतीत होती है परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर वही कथन सिद्ध होता है जो ऊपर कहा जाचुका है अर्थात् सम्यग्ज्ञानके होनेपर सम्यक्चारित्र ही भजनीय रहता है । इसका खुलासा इस प्रकार है कि यद्यपि चारित्र मोहनीय कर्मके नष्ट होनेपर बारहवें गुणस्थानमें यथाख्यातचारित्र प्रकट होजाता है तथापि एक दृष्टिसे उसे अभी पूर्ण चारित्र नहीं कहा जा सकता है, यदि कहा जाय कि चारित्र मोहनीय उसका घातक था जब घातक कर्म ही नष्ट हो गया तो फिर क्यों नहीं पूर्ण चारित्र कहा जाता है अथवा तब भी पूर्ण चारित्र नहीं कहा जाता है तो कहना चाहिये कि और भी कोई कर्म चारित्रका घातक होगा जो कि चारित्रकी पूर्णतामें बाधक है ? तर्कणा ठीक है, परन्तु विपक्षमें दूसरी तर्कणाएँ उठाई जा सक्ती हैं कि यदि चारित्र मोहनीयके नष्ट होनेपर चारित्र पूर्ण हो जाता है तो तेरहवें गुणस्थानमें ही क्यों नहीं मोक्ष हो जाती ? क्योंकि सम्यग्दर्शनकी पूर्ति सातवें तक हो चुकी और चारित्रकी पूर्ति बारहवेंमें हो जाती है तथा ज्ञानकी पूर्ति

तेरहवें गुणस्थानमें हो जाती है। जहांपर रत्नत्रयकी पूर्णता है वहां पर ही मोक्षका होना आवश्यक है, अन्यथा रत्नत्रयमें× समर्थकारणता ही नहीं आ सक्ती है। तीनोंकी पूर्तिके उत्तर क्षणमें ही मोक्ष प्राप्तिका होना अवश्यंभावी है सो होती नहीं किन्तु मोक्षप्राप्ति चौदहवें गुणस्थानमें होती है इससे सिद्ध होता है कि अभी तक चारित्रकी पूर्णतामें कुछ अवश्य त्रुटि है, और चारित्र ही मोक्ष प्राप्तिमें साक्षात् कारण कहा गया है। वह त्रुटि भी आनुषङ्गिक है* वह इस प्रकार है—जिस प्रकार आत्माका चारित्र गुण है उसी प्रकार योग भी आत्माका गुण है। चारित्र गुण निर्जराका हेतु है परन्तु योग गुण मन, वचन, कायरूप अशुद्धावस्थामें कर्मको ग्रहण करनेका हेतु है। दशवें गुणस्थान तक चारित्र योगके साथ ही अपूर्ण बना रहा है, दशवेंके अन्तमें यद्यपि चारित्रमोहनीयके दूर हो जानेसे वह पूर्ण हो चुका है तथापि उसको अशुद्ध करनेमें कारणीभूत उसका साथी योग अभी तक अपना कार्य कर रहा है। इसलिये चारित्रके निर्दोष होनेपर भी योगके साहचर्यसे उसे भी आनुषङ्गिक दोषी बनना पड़ता है। यद्यपि कर्मको ग्रहण करनेवाला योग चारित्रमें कुछ मलिनता नहीं कर सकता है तथापि चारित्र और योग दोनों ही आत्मासे अभिन्न हैं। अभिन्नतामें जिस प्रकार योगसे आत्मा अशुद्ध समझा जाता है उसी प्रकार चारित्र भी समझा जाता है। जब योगशक्ति वैभाविक अवस्थासे मुक्त होकर शुद्धावस्थामें आजाती है तभी चारित्र भी आनुषङ्गिक दोषसे मुक्त हो जाता है। इसीलिये शास्त्रकारोंने यथाख्यात चारित्रकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमें बतलाई है वहींपर परमावगाढ़ सम्यक्त्व भी बतलाया है। इसलिये चौदहवें गुणस्थानमें ही रत्नत्रयकी पूर्णता होती है और वहींपर मोक्षप्राप्ति होती है। इससे रत्नत्रयमें समर्थ कारणता भी सिद्ध होजाती है। इतने सब कथनका सारांश यही है कि सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी सम्यक्चारित्र भजनीय है। सम्यक्चारित्रके होनेपर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान भजनीय नहीं हैं। किन्तु अवश्यंभावी हैं। क्योंकि विना पहले दोनोंके हुए सम्यक्चारित्र हो ही नहीं सक्ता है। इसीलिये ग्रन्थकारने सम्यक्त्व और ज्ञानको चारित्रके अन्तर्गत बतलाया है। जिस प्रकार चारित्रमें दोनों गर्भित हैं उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानमें सम्यग्दर्शन भी गर्भित है।

× कारण दो प्रकारका होता है—एक समर्थ कारण एक असमर्थ कारण। जिसके होनेपर उत्तर क्षणमें अवश्य ही कार्यकी सिद्धि हो उसे समर्थ कारण कहते हैं। और जिस कारणके होनेपर नियमसे उत्तर क्षणमें कार्य न हो उसे असमर्थ कारण कहते हैं।

* स्वयं दोषी न होने पर भी जो साहचर्यवश दोष आता है उसे आनुषङ्गिक दोष कहते हैं। जैसे कोई पुरुष स्वयं तो चोर न हो परन्तु चोरोंके सहवासमें रहे तो वह भी आनुषङ्गिक दोषी ठहराया जाता है।

सम्यग्दर्शनको प्रधानता—

किञ्च सद्दर्शनं हेतुः सँविचारित्रयोर्द्वयोः
सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥ ७६८ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, दोनोंमें सम्यग्दर्शन कारण है, और वह कारणता भी नवीन जन्म धारण करनेवाले सम्यग् विशेषणकी अपेक्षासे है अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रको प्रकट करनेमें कारण नहीं है किन्तु ज्ञान और चारित्रमें सम्यक्पना लानेमें कारण है। इसी लिये वह तीनोंमें प्रधान है।

इसीका खुलासा—

अर्थोयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानं चारित्रमत्र यत् ।
भूतपूर्वं भवेत् सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम् ॥ ७६९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका स्पष्ट अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शनके होने पर ज्ञान और चारित्र सम्यक् विशेषणको धारण करते हैं। अथवा उनदोनोंमें नवीन सम्यक्पना आता है। **भावार्थ**—जब सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (इनके सम्यक्पने)में सम्यग्दर्शन कारण है। तो ये दोनों उसके कार्य हैं। कार्यसे कारणका अनुमान हो ही जाता है। इसलिये सम्यक् चारित्रके कहनेसे दर्शन और ज्ञानका समावेश उसमें स्वयं सिद्ध है। इस कथनसे शंकाकारकी यह शंका कि जब तीनों ही मोक्ष मार्ग हैं तो ' मुनियोंके केवल चारित्रका ही निरूपण क्यों किया जाता है सर्वथा निर्मूल है।

सम्यग्दर्शनका माहात्म्य—

शुद्धोपलब्धिशक्तिर्यो लब्धिर्ज्ञानातिशायिनी ।
सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥ ७७० ॥

अर्थ—आत्माकी शुद्धोपलब्धिमें कारणीभूत जो अतिशय ज्ञानात्मक लब्धि (मतिज्ञानावरणीय कर्मका विशेष क्षयोपशम) है वह सम्यग्दर्शनके होने पर ही होती है। अथवा आत्माका शुद्ध भाव—शुद्धात्मानुभूति सम्यग्दर्शन होने पर ही होती है।

यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतं ज्ञानं विनापि दृक् ।
न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥ ७७१ ॥

अर्थ—और भी जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है यदि वह सम्यग्दर्शन रहित है तो न तो वह ज्ञान है और न वह चारित्र है, यदि है तो केवल कर्मबन्ध करनेवाला ही है।

सारांश—

तेषामन्यतमोद्देश्यो नास्ति दोषाय कुत्रचित् ।
मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥ ७७२ ॥

अर्थ—इसलिये उन तीनोंमेंसे किसी एकका कथन भी कहीं दोषाधायक नहीं है। मोक्षमार्ग एक साध्य है और ये तीनों ही उसके साधक रूपसे कहे जाते हैं।

बन्ध मोक्ष व्यवस्था—

बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः।
रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नोऽरागांशैः कदाचन ॥ ७७३ ॥

अर्थ—प्रश्न करनेमें जो अति चतुर हैं उन्हें बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था भी संक्षेपसे जान लेना चाहिये। वह यह है कि रागांश-परिणामोंसे बन्ध होता है और विना रागांश-परिणामोंके बन्ध कभी नहीं हो सकता।

ग्रन्थान्तर—

*** येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।**
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ ७७४ ॥

अर्थ—जिस अंशसे आत्मा सम्यग्दर्शन विशिष्ट है उस अंशसे उसके कर्मबन्ध नहीं होता और जिस अंशसे उसके राग है उस अंशसे उसके कर्मबन्ध होता है। **भावार्थ**—बन्धका कारण केवल रागांश ही है।

संकोच और प्रतिज्ञा—

उक्तो धर्मस्वरूपोपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंशतः।
कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥ ७७५ ॥

अर्थ—प्रसङ्गवश अंशरूपसे धर्मका स्वरूप भी कहा गया, अब आचार्य कहते हैं कि अवकाश पाकर उस धर्मका स्वरूप विस्तार पूर्वक भी कहेंगे।

सारांश—

देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी।
ख्याताप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥ ७७६ ॥

अर्थ—देव गुरु और धर्ममें श्रद्धान करना अमूढ़दृष्टि अंग कहलाता है, अन्यथा (इसकी विपरीततामें) मूढ़दृष्टि दोष कहलाता है।

अमूढ़दृष्टि सम्यक्त्वका गुण है—

सम्यक्त्वस्य गुणोप्येष नालं दोषाय लक्षितः।
सम्यग्दृष्टिर्यतोवश्यं तथा स्यान्न तथेतरः ॥ ७७७ ॥

---

* पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

अर्थ—अमूढ़दृष्टि सम्यग्दर्शनका गुण है। यह गुण किसी प्रकार दोषोत्पादक नहीं है किन्तु गुणोत्पादक है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि नियमसे अमूढ़दृष्टि अंगका पालन करता है। मिथ्यादृष्टि ऐसा नहीं करता वह उल्टा ही करता है। **भावार्थ**–सम्यग्दृष्टिके लिये अमूढ़दृष्टि अंग अवश्य पालनीय है। यदि सम्यग्दृष्टिकी बुद्धि देवगुरु धर्मके सिवा कुगुरु, कुधर्म, कुदेवकी प्रशंसा अथवा उनकी किञ्चिन्मान्यताकी तरफ है तो उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। अथवा देव, गुरु, धर्ममें उसकी पूर्ण श्रद्धा नहीं है तो भी उसे मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। इसलिये अमूढ़दृष्टि सम्यग्दृष्टिका प्रधान गुण समझना चाहिये। शब्दान्तरमें यों कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि अमूढ़दृष्टि नियमसे होता ही है (यदि वह मूढ़दृष्टि है तो सम्यग्दृष्टि नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि कुदेव, कुगुरु, कुधर्म और मिथ्या शास्त्रोंकी न तो विनय करता है न उन्हें प्रणाम ही करता है।× विना मिथ्यात्वके उसकी कुदेवादिककी ओर बुद्धि अनुगामी किसी प्रकार नहीं होसक्ती है। इसके सिवा जो लोग सच्चे देव, शास्त्र, गुरुकी यथार्थ विनय नहीं करते हैं, जिनको उनमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है उन्हें भी मिथ्यादृष्टि ही समझना चाहिये। * विना मिथ्यात्वकर्मके उदय हुए ऐसी कुमति नहीं हो सक्ती है।

यद्यपि सम्यग्दर्शन गुण अतिसूक्ष्म है उसका विवेचन नहीं किया जासक्ता है। जिस पुरुषकी आत्मामें वह गुण प्रकट होता है उसीको शुद्धात्मानुभवनका अपूर्व स्वाद आता है। वह उस आत्मिक अपूर्व स्वादका बाह्यमें उसी प्रकार विवेचन नहीं कर सक्ता है जिस प्रकार कि घीका स्वाद लेनेवालेसे उसका स्वाद पूछने पर वह उसका स्वाद ठीक २ प्रकट नहीं कर सक्ता। जिस प्रकार घीका स्वाद चखनेसे ही उसकी यथार्थ प्रतीति होती है उसी प्रकार उस अलौकिक दिव्य सम्यक्त्वगुणकी प्रकटतामें होनेवाले आत्मिक रसका वह स्वयं पान करता है दूसरेसे नहीं कह सक्ता। तथापि व्यवहार सम्यक्त्व जो बतलाया गया है कि सत्यार्थ देव, गुरु, शास्त्रमें पूर्ण श्रद्धा रखना, उस बाह्य सम्यक्त्वमें भी जिनकी बुद्धि विपरीत है उनके मिथ्यात्व कर्मका तीव्र उदय समझना चाहिये। व्यवहार सम्यक्त्वीकी भी सच्चे देव, गुरु, शास्त्रमें अटल भक्ति रहती है। उनमें उसकी बुद्धि किञ्चिन्मात्र भी शंकित नहीं होती है।

यह बात भी नहीं है कि किसी पदार्थमें सम्यग्दृष्टिको शंका ही नहीं उत्पन्न होती है, सम्यग्दृष्टि सर्वज्ञ नहीं है और जैसे छद्मस्थ हैं तैसे वह भी छद्मस्थ है। छद्मस्थतामें अनेक शंका-

× भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः॥

अर्थात् भयसे, आशासे, प्रेमसे, लोभसे किसी तरह भी सम्यग्दृष्टि कुदेवादिकको प्रणाम अथवा उनकी विनय नहीं कर सक्ता है। **रत्नकरण्ड श्रावकाचार।**

* आजंकल जो प्रथमानुयोग शास्त्रोंको कहानियां कहते हैं और जो जिनदर्शनको अनावश्यक समझते हैं उनके मिथ्यात्वकर्मका उदय अवश्य है।

ओंका होना स्वाभाविक बात है, इसलिये सम्यग्दृष्टि भी बहुतसी बातोंमें शंकित रहता है, परन्तु शंकायें दो प्रकारकी होती हैं। एक तो—जिस पदार्थमें शंका होती है उस पदार्थमें आस्था (श्रद्धा) रूप बुद्धि तो अवश्य रहती है परन्तु ज्ञानकी मन्दतासे पदार्थका स्वरूप बुद्धिमें न आनेसे शंका होती है, सम्यग्दृष्टिको इस प्रकारकी ही शंका होती है। वह सर्वज्ञ कथित पदार्थ व्यवस्थाको तो सर्वथा सत्य समझता है, परन्तु बुद्धिकृत दोषसे उसके समझनेमें असमर्थ है। दूसरी शंका कुमतिज्ञानवश होती है। कुमतिज्ञानी अपनी बुद्धिको दोष नहीं देता है किन्तु सर्वज्ञ कथित आगमको ही दोषी ठहराता है, वह जिस पदार्थमें शंका करता है उस पदार्थपर श्रद्धा रूप बुद्धि नहीं रखता है। ऐसे ही पुरुष आजकल कालदोषसे अधिकतर होते चले जाते हैं जो स्वयंको बुद्धिमान् समझते हुए आचार्योंको अपनेसे विशेष ज्ञानवान नहीं समझते हैं। ऐसे ही पुरुष जिन दर्शन, जिन पूजन आदि नित्य क्रियाओंको रूढि कह कर छोड़ ही नहीं देते हैं किन्तु दूसरोंको भी ऐसा अहितकर उपदेश देते हैं। ऐसे लोगोंका यह भी कहना है कि विचार स्वातन्त्र्यको मत रोको, जो कोई जैसा भी विचार (चाहे वह जिन धर्मके सर्वथा विपरीत ही हो) प्रकट करना चाहे करने दो, इन्हीं बातोंका परिणाम आजकल धर्म शैथिल्य और धर्म विरुद्ध प्रवृत्तियोंका आन्दोलन है। ये सम्पूर्ण बातें धर्माचार्य तथा गृहस्थाचार्यके अभाव होनेसे हुई हैं। धार्मिक अंकुश अब नहीं रहा है इसलिये जिसके मनमें जो बात समाती है उसके प्रकट करनेमें वह जरा भी संकोच नहीं करता है। यही कारण है कि दिन पर दिन धर्ममें शिथिलता ही आ रही है।*

उपगूहन अंगका निरूपण—

उपबृंहणनामास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः ।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ ७७८ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका उपबृंहण (उपगूहन) नामक भी एक गुण है। उसका यह लक्षण है कि अपनी आत्मिक शक्तियोंको बढ़ाना अथवा उनका विकाश करना। इसीसे उसका अन्वर्थ नाम उपबृंहण है।

---

* इस विषयमें स्वामी आशाधरने बहुत ही खेदजनक उद्गार प्रकट किये हैं—

कलिप्रावृषिमिथ्यादिङ्मेघच्छन्नासु दिक्ष्विह। खद्योतवत्सुदेष्टारो हा! द्योतन्ते क्वचित्क्वचित्। अर्थात् इस भरतक्षेत्रमें कलिकाल—पंचमकालरूपी वर्षाकालमें मिथ्यादृष्टियोंके उपदेश रूपी मेघोंसे सदुपदेश रूपी सब दिशायें ढक रहीं हैं। उसमें यथार्थ तत्वोंके उपदेष्टा खद्योत (जुगनू) के समान कहीं २ पर दिखलाई पड़ते हैं। ग्रन्थकारने इस विषयका शोक प्रकट करनेके लिये 'हा', शब्दका प्रयोग किया है। "सागारधर्मामृत"।

अथवा—

आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् ।
अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावात् संवलितं हि तत् ॥ ७७९ ॥

अर्थ—आत्माकी शुद्धिमें मन्दता नहीं आने देना किन्तु उसे बढ़ाना इसका नाम भी उपबृंहण है, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन भावोंसे विशिष्ट आत्माकी शुद्धिको बढ़ाते रहना उसमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आने देना इसीका नाम उपबृंहण है।

उपबृंहण गुणधारीका स्वरूप—

जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं प्रेरयन्निव ।
तथापि यत्नवान्नात्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥ ७८० ॥

अर्थ—उपबृंहण गुणका धारी पुरुष पुरुषार्थ पूर्वक सम्पूर्ण ऐहिक बातोंको जानता है परन्तु उन ऐहिक (संसार सम्बन्धी) बातोंके प्राप्त करनेके लिये वह पुरुषार्थ पूर्वक प्रयत्न नहीं करता है ।

नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोपि प्रमादवान् ।
निष्प्रमादतयाऽऽत्मानमाददानः समादरात् ॥ ७८१ ॥

अर्थ—उपबृंहण गुणका धारक आत्माकी शुद्ध–उपलब्धिमें लेश मात्र भी प्रमादी नहीं है किन्तु प्रमाद रहित आदर पूर्वक अपने आत्माका ग्रहण करता है।

यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यस्येदपि तद्बहिः।
सक्रियां काश्चिदप्यर्थात्तत्तत्साध्योपयोगिनीम् ॥ ७८२ ॥

अर्थ—अथवा वह शुद्धोपलब्धिके लिये बाह्य किसी सक्रियाका भी अभ्यास करता है जो कि उसके साध्यमें उपयोगी पड़ती है।

बाह्य आचरणमें दृष्टान्त—

रसेन्द्रं सेवमानोपि कोपि पथ्यं न वाऽऽचरेत् ।
आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नुज्झन्नुल्लाघतामपि ॥ ७८३ ॥

अर्थ—कोई पुरुष रसायनका सेवन भी करै परन्तु पथ्य न करै तो रसायनसे जिस प्रकार वह अपने रोगका नाश करता है उसी प्रकार पथ्यके न करनेसे नीरोगताका भी नाश करता है। भावार्थ–रोगको दूर करनेके लिये उचित औषधिके सेवनके साथ २ अनुकूल पथ्य करनेकी भी आवश्यकता है। अन्यथा रोग दूर नहीं हो सक्ता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको साध्योपयोगी बाह्य सत्क्रियाओंके करनेकी भी आवश्यकता है।

अथवा—

यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् ।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेण्यां निर्जरायाः सुसंभवात् ॥ ७८४ ॥

अर्थ—अथवा सम्यग्दृष्टिके किसी खास यत्नके स्वतः ही उपबृंहण गुण सिद्ध है। क्योंकि ऊपर ऊपर गुणश्रेणी (परिणामोंकी उत्तरोत्तर विशुद्धतामें) रूपसे उसके निर्जराका होना अवश्यंभावी है। भावार्थ—सम्यग्दृष्टिके असंख्यात गुणी निर्जरा होती रहती है और वह उत्तरोत्तर श्रेणी क्रमसे बढ़ी हुई है।

अवश्यंभाविनी चात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् ।
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥ ७८५ ॥

अर्थ—उपबृंहण गुणधारीके सम्पूर्ण कर्मोंकी निर्जरा अवश्य होगी, क्योंकि प्रतिक्षण उसके असंख्यात गुणी २ निर्जरा होती ही रहती है।

कर्मोंके क्षयमें आत्माकी विशुद्धिकी वृद्धि—

न्यायादायातमेतद्धि यावतांशेन तत्क्षतिः ।
वृद्धिः शुद्धोपयोगस्य वृद्धेर्वृद्धिः पुनः पुनः ॥ ७८६ ॥

अर्थ—यह बात न्याय प्राप्त है कि जितने अंशमें कर्मोंका क्षय होजाता है उतने ही अंशमें शुद्धोपयोगकी वृद्धि होजाती है। उधर कर्मोंके क्षयकी वृद्धि होती जाती है इधर शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती जाती है। यह वृद्धि बराबर बढ़ती चली जाती है।

यथा यथा विशुद्धेः स्याद् वृद्धिरन्तः प्रकाशिनी ।
तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥ ७८७ ॥

अर्थ—जैसी जैसी विशुद्धिकी वृद्धि अन्तरंगमें प्रकाश डालती है, वैसी वैसी ही आत्माकी इन्द्रियोंके विषयोंमें उपेक्षा होती जाती है।

क्रियाकाण्डको बढ़ाना चाहिये—

ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्तिं स लोपयेत् ।
किन्तु संवर्धयेन्नूनं प्रयत्नादपि दृष्टिमान् ॥ ७८८ ॥

अर्थ—इसलिये बहुतसे क्रियाकाण्डमें अपनी शक्तिको नहीं छिपाना चाहिये। किन्तु यत्नपूर्वक उसे बढ़ाना चाहिये यह सम्यग्दृष्टिका कर्तव्य है।

सारांश—

उपबृंहणनामापि गुणः सद्दर्शनस्य यः ।
गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥ ७८९ ॥

अर्थ—जो उपबृंहण (उपगूहन) गुण कहा गया है वह भी सम्यग्दृष्टिका गुण है। सम्यग्दृष्टिके गुणोंमें यह भी गुण गिना गया है, यह दोषाधायक नहीं है।

स्थितिकरण अंगका निरूपण—

सुस्थितीकरणं नाम गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
धर्माच्च्युतस्य धर्मे तत् नाऽधर्मेऽधर्मणः क्षतेः ॥ ७९० ॥

अर्थ—स्थितिकरण गुण भी सम्यग्दृष्टिका गुण है। धर्मसे जो पतित हो चुका है अथवा पतित होनेके सन्मुख है उसे फिर धर्ममें स्थित कर देना इसीका नाम स्थितिकरण है। किन्तु अधर्मकी क्षति होने पर अधर्ममें स्थित करनेको स्थितिकरण नहीं कहते हैं।

अधर्म सेवन धर्मके लिये भी अच्छा नहीं है—

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम्।
भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥ ७९१ ॥

अर्थ—धर्मके लिये भी अधर्मका सेवन करना वृद्ध पुरुषोंने स्वीकार नहीं किया है। आगामी कालमें धर्मकी आशासे कोई मूर्ख—अधर्म सेवनका भी उपदेश देते हैं।

परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः।
मूर्खादन्यत्र नो मोहाच्छीतार्थं वन्हिमाविशेत् ॥ ७९२ ॥

अर्थ—'अधर्म सेवनसे परम्परा धर्म होता है, इस प्रकार परम्परा पक्षका लेशमात्र भी यहां अवकाश नहीं है। मूर्खको छोड़ कर ऐसा कौन पुरुष है जो मोहसे शीतके लिये वन्हिमें प्रवेश करे। भावार्थ—जैसा कारण होता है उसी प्रकारका कार्य होता है, ठण्डका चाहने वाला उन्हीं पदार्थोंका सेवन करेगा जो ठण्डको पैदा करने वाले हों, ठण्डका चाहनेवाला उष्ण पदार्थों (अग्नि आदिक)का कभी सेवन नहीं करेगा। इसी प्रकार धर्मको चाहने वाला धर्मका ही सेवन करेगा। क्योंकि धर्म सेवनसे ही धर्मकी प्राप्ति हो सकती है, अधर्म सेवनसे धर्मकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। जो लोग अधर्म सेवनसे धर्म बतलाते हैं वे कीकरके वृक्षसे आम्रकी प्राप्ति बतलाते हैं, परन्तु यह उनकी भारी भूल है। कीकरके वृक्षसे सिवा काटोंके और कुछ नहीं मिल सकता है।

नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम्।
व्याप्तेरपक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥ ७९३ ॥

अर्थ—अधर्मका सेवन धर्मका प्राक्रूप भी नहीं है। क्योंकि अधर्मसेवनरूप हेतु विपक्षभूत—अधर्मप्राप्तिमें भी रह जाता है इसलिये व्यभिचारी है इसीसे अधर्मसेवन और धर्मप्राप्तिकी व्याप्ति भी व्यभिचरित है। भावार्थ—मीमांसकादि दर्शनकार यागादिमें हिंसारूप अधर्मसेवनसे धर्मप्राप्ति मानते हैं और उसी यागादिका फल स्वर्गप्राप्ति बतलाते हैं। आचार्य कहते

हैं कि ऐसा उनका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या है। क्या हिंसारूप अधर्मके सेवन करनेसे धर्मप्राप्ति हो सकती है ? हिंसादि नीच कार्योंका स्वर्गफल कभी नहीं हो सकता है। हिंसा करनेसे परिणामोंमें संक्लेशकी ही वृद्धि होगी उससे पाप बन्ध होगा इसलिये अधर्मसेवनका फल उत्तरोत्तर अधर्मकी वृद्धि है। धर्मका हेतु अधर्म कभी नहीं हो सकता है।

प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः ।
धर्मो वा स्यादधर्मो वाप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥ ७९४ ॥

अर्थ—प्रति समय जब तक कर्मका उदय है तब तक धर्म और अधर्म दोनों ही हो सकते हैं ऐसा सर्वत्र नियम है। **भावार्थ**—जब कर्मोदय मात्रसे भी अधर्म–पापबन्ध होता है तब अधर्मसेवनसे तो अवश्य ही अधर्म होगा, इसलिये यागादि अधर्मसेवनसे धर्मप्राप्तिकी कल्पना करना मीमांसकोंकी सर्वथा भूल है।

स्थितिकरणके भेद—

तत्स्थितीकरणं द्वेधाऽध्यक्षात्स्वापरभेदतः ।
स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात्परत्वे तु परस्य तत् ॥ ७९५ ॥

अर्थ—वह स्थितिकरण अपने और परके भेदसे दो प्रकारका है। अर्थात् अपने आत्माके पतित होनेपर अथवा पतित होनेके सन्मुख होनेपर अपने आत्मामें ही पुनः अपने आपको लगा लेना इसे स्व-स्थितीकरण कहते हैं। और दूसरे आत्माके धर्मसे पतित होनेपर पुनः उसे उसी धर्ममें तदवस्थ कर देना इसे पर स्थितीकरण कहते हैं।

स्वस्थितीकरणका खुलासा—

तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः ।
भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥ ७९६ ॥

अर्थ—मोहोदयके उद्रेकवश अपनी आत्म परिस्थिति (धर्मस्थिति) से पतित अपने आत्माको पुनः आत्म परिस्थितिमें लगा देना इसीका नाम स्वस्थितीकरण है।

इसीका स्पष्टीकरण—

अयं भावः क्वचिद्दैवादर्शनात्स पतत्यधः ।
व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगारुह्य दर्शनम् ॥ ७९७ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनका खुलासा इस प्रकार है–कभी कर्मोदयकी तीव्रतासे वह सम्यग्दृष्टि दर्शनसे नीचे गिरता है। फिर दैववश सम्यग्दर्शनको पाकर ऊपर चढ़ता है।

अथवा—

अथ क्वचिद्यथाहेतुदर्शनादपतन्नपि ।
भावशुद्धिमधोधोंशैरूर्ध्वमूर्ध्वं प्ररोहति ॥ ७९८ ॥

अर्थ—अथवा सामग्रीकी योग्यतामें कभी दर्शनसे नहीं भी गिरता है तो भावोंकी शुद्धिको नीचे नीचेके अंशोंसे ऊपर ऊपरको बढ़ाता है।

अथवा—

क्वचिद्बहिः शुभाचारं स्वीकृतं चापि मुञ्चति ।
न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराश्रयेत् ॥ ७९९ ॥

अर्थ—कभी स्वीकृत किये हुए भी बाह्य–शुभाचारको छोड़ देता है। कभी नहीं भी छोड़ता है। अथवा छोड़कर पुनः ग्रहण करने लगता है ।

अथवा—

यद्वा बहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेपि च ।
कदाचिद्दीप्यमानोन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्त्तते ॥ ८०० ॥

अर्थ—अथवा बाह्य क्रियाचारमें ठीक २ स्थित रहनेपर कभी २ अन्तरंग भावोंसे दैदीप्यमान होने लगता है ।

नासंभवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः ।
अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥ ८०१ ॥

अर्थ—कभी अन्तरंगके भाव बढ़ने लगते हैं कभी घटने लगते हैं यह बात असंभव नहीं है। क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्मका उदय अपने अंशोंसे कभी बढ़ने लगता है और कभी घटने लगता है। भावार्थ–चारित्र मोहनीय जिस रूपसे कम बढ़ होता है उसी रूपसे भावोंमें भी हीनाधिकता होती है।

अत्राभिप्रेतमेवैतत्स्वस्थितीकरणं स्वतः ।
न्यायात्कुतश्चिदत्रास्ति हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥ ८०२ ॥

अर्थ—यहां पर इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितीकरण स्वयं होता है और उसमें आत्माकी स्थिरताका न होना ही कारण है।

दूसरोंका स्थितिकरण—

सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् ।
भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥ ८०३ ॥

अर्थ—दूसरों पर × सत् अनुग्रह करना ही पर–स्थितीकरण है। वह अनुग्रह यही है कि जो अपने पदसे भ्रष्ट हो चुके हैं उन्हें उसी पदमें फिर स्थापन कर देना।

× सत् अनुग्रहसे इतना ही तात्पर्य है कि विना किसी प्रकारकी इच्छा रहते हुए धार्मिक बुद्धिसे परोपकार करना। जो अनुग्रह लोभवश अथवा अन्य प्रतिष्ठा आदिकी चाहना वश किया जाता है, वह अनुग्रह अवश्य है परन्तु उसको सत् अनुग्रह नहीं कह सक्ते। प्रशंसनीय अनुग्रह निस्पृह वृत्तियोंका ही कहा जा सक्ता है ।

स्वोपकार पूर्वक ही परोपकार ठीक है—

धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहःपरे ।
नात्मव्रतं विहायास्तु तत्परः पररक्षणे ॥ ८०४ ॥

अर्थ—धर्मका आदेश और धर्मका उपदेश देकर दूसरों पर अनुग्रह करना चाहिये । परन्तु आत्मीय व्रतमें किसी प्रकारकी बाधा न पहुंचा कर ही दूसरोंके रक्षणमें तत्पर रहना उचित है । अन्यथा नहीं ।

ग्रन्थान्तर—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥ ८०५ ॥

अर्थ—सबसे प्रथम अपना हित करना चाहिये । यदि अपना हित करते हुए जो पर हित करनेमें समर्थ है उसे परहित भी करना चाहिये । आत्महित और परहित इन दोनोंमें आत्महित ही उत्तम है उसे ही प्रथम करना चाहिये । **भावार्थ**—इन दो कारिकाओंसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि मनुष्यका सबसे पहला कर्तव्य आत्महित है, विना आत्म कल्याण किये वास्तवमें आत्म कल्याण हो भी नहीं सकता है । जहां पर सर्वोपरि उच्च ध्येय है वहां भी आत्म हित ही प्रमुख है । आचार्य यद्यपि मुनियोंका पूर्ण हित करते हैं, उन्हें मोक्ष मार्गपर लगाते हैं, तथापि उस अवस्थामें रहकर उनको उच्च ध्येय नहीं मिल सक्ता है । जिस समय वे उस उच्च ध्येय मुक्तिको प्राप्त करना चाहते हैं उस समय उस आचार्य पदका त्याग कर स्वात्म भावन मात्र–साधु पदमें आ जाते हैं इसलिये यह ठीक है कि आत्म हित ही सर्वोपरि है । आत्म हित स्वार्थमें शामिल नहीं किया जा सक्ता है । जो सांसारिक वासनाओंकी पूर्तिके लिये प्रयत्न किया जाता है उसे ही स्वार्थ कहा जा सक्ता है उसका कारण भी यही है कि स्वार्थ उसे ही कह सकते हैं जो प्रमाद विशिष्ट है, आत्महित करनेवाला प्रमाद विशिष्ट नहीं है इसलिये उसे स्वार्थी कहना भूल है । इस कथनसे हम परोपकारका निषेध नहीं करना चाहते हैं, परोपकार करना तो महान् पुण्य बन्धका कारण है । परन्तु जो लोग परोपकार करते हुए स्वयं भ्रष्ट हो जाते हैं अथवा आत्म हितको जो स्वार्थ बताते हैं वे अवश्य आत्म हितसे कोशों दूर हैं, आचार्योंने परोपकारको भी स्वार्थ साधन ही बतलाया है । यहां पर यह शंका की जासक्ती है कि कहीं पर परोपकारार्थ स्वयं भ्रष्ट भी होना पड़ता है जैसे कि विष्णुकुमार मुनिने मुनियोंकी रक्षाके लिये अपने पदको छोड़ ही दिया? शंका ठीक है । कहीं पर विशेष हानि देखकर ऐसा भी किया जाता है परन्तु आत्म हितको गौण कहीं नहीं समझा जाता है । विष्णुकुमारने अगत्या ऐसा किया तथापि उन्होंने शीघ्र ही प्रायश्चित्त लेकर स्वपदका ग्रहण कर लिया । आजकल तो आत्म कल्याण परोपकारको ही लोगोंने समझ रक्खा

है, जो देशोद्धारादिक कार्य वर्त्तमानमें दीख रहे हैं वे यद्यपि निःस्वार्थ–परोपकारार्थ हैं और उस परोपकारका श्रेय भी उन्हें अवश्य मिलेगा। परन्तु ऐसे परोपकारमें स्वोपकार (पारमार्थिक) की गन्ध भी नहीं है। देशोद्धारादि कार्यकारियोंमें स्वधर्म शैथिल्य एवं चारित्र हीनता प्रायः देखी जाती है। यदि उनमें यह बात न हो तो अवश्य ही उनका वह परोपकार पूर्ण स्वोपकारमें सहायक है।

कथनका संकोच—

उक्तं दिङ्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः ।
निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥ ८०६ ॥

अर्थ—सुस्थितिकरण गुणका स्वरूप थोड़ासा यहां पर कहा गया है। यह गुण सम्यग्दृष्टिके उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जराके लिये प्रसिद्ध है।

वात्सल्य अंगका विवेचन—

वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु ।
संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥ ८०७ ॥

अर्थ—सिद्धपरमेष्ठी, अर्हद्बिम्ब, जिन मन्दिर, चतुर्विध संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक; श्राविका) और शास्त्रमें, स्वामिकार्यमें योग्य सेवककी तरह दासत्व भाव रखना ही वात्सल्य है।

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान् ।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदुत्यये ॥ ८०८ ॥

अर्थ—अर्थात् ऊपर जो सिद्धपरमेष्ठी आदि पूज्य बतलाये हैं उनमेंसे किसी भी एक पर घोर उपसर्ग होने पर उसके दूर करनेके लिये सम्यग्दृष्टि पुरुषको सदा तत्पर रहना चाहिये।

यद्वा नश्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम् ।
तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥ ८०९ ॥

अर्थ—अथवा जब तक अपनी सामर्थ्य है और जब तक मन्त्र, असि (तलवारका जोर) और बहुतसा द्रव्य (खज़ाना) है तब तक वह सम्यग्दृष्टि पुरुष उन पर आई हुई किसी प्रकारकी बाधाको न तो देख ही सक्ता है और न सुन ही सकता है। भावार्थ–अपने पूज्यतम देवों पर अथवा देवालयों पर अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविकाओं पर यदि किसी प्रकारकी बाधा आवे तो उस बाधाको जिस प्रकार हो सके उस प्रकार उसे दूर करदेना योग्य है। अपनी सामर्थ्यसे, मंत्र शक्तिसे, द्रव्य बलसे, आज्ञासे, सैन्यबलसे हर तरहसे तुरन्त बाधाको दूर करना चाहिये। यही सम्यग्दृष्टिकी आन्तरंगिक भक्तिका उद्गार है। मन्त्रशक्ति भी बहुत बड़ी शक्ति है, बड़े २ कार्य मन्त्र शक्तिसे सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग मन्त्रोंकी सामर्थ्य नहीं जानते हैं वे ही मन्त्रों पर विश्वास नहीं करते हैं, परन्तु सर्पादिकोंके विषादिका अपहरण

प्रत्यक्ष ही दीखता है। जब सामान्य मन्त्रों द्वारा ऐसे २ कार्य देखे जाते हैं तो महान् आर्ष मन्त्रों द्वारा बहुत बड़े कार्य सिद्ध हो सकते हैं, आजकल न वह श्रद्धा है और न शक्ति है इसी लिये मन्त्रोंसे हम लोग कोई कार्य नहीं कर सकते हैं।

वात्सल्यके भेद—

तद्द्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात्।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि॥ ८१०॥

अर्थ—अपने और परके भेदसे वात्सल्य अंग भी दो प्रकारका है। आत्म सम्बन्धी वात्सल्य प्रधान है परात्म सम्बन्धी गौण है।

स्वात्म सम्बन्धी वात्सल्य—

परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कुत्रचित्।
न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम्॥ ८११॥

अर्थ—परीषह और उपसर्गादिसे कभी पीड़ित होनेपर भी अपने श्रेष्ठ आचारमें, ज्ञानमें, ध्यानमें शिथिलता नहीं आने देना इसीका नाम स्वात्म वात्सल्य है।

इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम्।
शुद्धज्ञानबलादेव यतो बाधापकर्षणम्॥ ८१२॥

अर्थ—दूसरा—परात्मसम्बन्धी वात्सल्य पहले इसी प्रकरणमें कहा जा चुका है। परात्म सम्बन्धी वात्सल्य सम्यग्दृष्टिका निश्चयसे गौण गुण है। क्योंकि शुद्ध ज्ञानके बलसे ही बाधा दूर की जा सकती है। इस लिये आत्मीय शुद्धिका प्राप्त करना ही प्रमुख है।

प्रभावना अंगका स्वरूप—

प्रभावनाङ्गसंज्ञोस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै।
उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम्॥ ८१३॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका प्रभावना अंग भी प्रसिद्ध गुण है। उसका यही लक्षण है कि हर एक धार्मिक कार्यमें उत्कर्ष—उन्नति करना।

धर्मका ही उत्कर्ष अभीष्ट है—

अथातद्धर्मणः पक्षे नावद्यस्य मनागपि।
धर्मपक्षक्षतिर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात्॥ ८१४॥

अर्थ—पापरूप अधर्मके पक्षमें किञ्चिन्मात्र भी उत्कर्ष नहीं बढ़ाना चाहिये। क्योंकि अधर्मका उत्कर्ष बढ़ानेसे धर्मके पक्षकी हानि होती है।

प्रभावनाके भेद—

पूर्ववत्सोपि द्विविधः स्वान्यात्मभेदतः पुनः।
तत्राद्यो वरमादेयः स्यादादेयः परोऽन्यतः॥ ८१५॥

अर्थ—पहले अंगोंकी तरह प्रभावना अंग भी स्वात्मा और परात्माके भेदसे दो प्रकार है। उन दोनोंमें पहला सर्वोत्तम है और उपादेय है। इसके पीछे दूसरा भी ग्राह्य है।

उत्कर्ष—

उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे।
असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥ ८१६ ॥

अर्थ—विपक्षके न होने पर बल पूर्वक धर्ममें वृद्धि करना, इसीका नाम उत्कर्ष है। प्रभावना अंग दोषोत्पादक कभी नहीं होसकता है।

अपनी प्रभावना—

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः।
जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥ ८१७ ॥

अर्थ—मोहरूपी शत्रुका नाश होजानेसे जीव शुद्ध होजाता है, कोई शुद्धसे भी अधिक शुद्ध होजाता है और कोई उससे भी अधिक शुद्ध होजाता है इस प्रकार अपने आत्माका उत्कर्ष बढ़ाना इसीका नाम स्वात्मप्रभावना है।

इस शुद्धिमें पौरुष कारण नहीं है—

नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किन्तु नूनं स्वभावतः।
ऊर्ध्वमूर्ध्वगुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम् ॥ ८१८ ॥

अर्थ—इस प्रकारका उत्कर्ष करना पौरुषके अधीन नहीं है किन्तु स्वभावसे ही होता है। और उत्तरोत्तर श्रेणीके क्रमसे असंख्यात गुणी निर्जरा होनेसे उसकी सिद्धि होती है।

बाह्य प्रभावना।

बाह्यः प्रभावनाङ्गोस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः।
तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥ ८१९ ॥

अर्थ—विद्याके बलसे, मन्त्रादिके बलसे, तपसे तथा दानादि उत्तम कार्योंसे जैनधर्मका उत्कर्ष (आधिक्य) बढ़ाना चाहिये इसीको बाह्य प्रभावना कहते हैं।

और भी—

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम्।
चमत्कारकरं किञ्चित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥ ८२० ॥

अर्थ—जो लोग मिथ्या क्रियाओंके बढ़ानेमें लगे हुए हैं ऐसे पुरुषोंको नीचा दिखानेके लिये अथवा उनकी हीनता प्रकट करनेके लिये महात्माओंको कुछ चमत्कार करनेवाले प्रयोग भी करना चाहिये।

उक्तः प्रभावनाङ्गोपि गुणः सद्दर्शनान्वितः।
येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥ ८२१ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे विशिष्ट प्रभावना अंग भी गुण है। उसका कथन हो चुका। इसी प्रभावना अंगके कारण सम्यग्दर्शनके आठ गुण संपूर्ण हो जाते हैं, अर्थात् आठवां गुण प्रभावना है।

इत्यादयो गुणाश्चान्ये विद्यन्ते सद्दृगात्मनः।
अलं चिन्तनया तेषामुच्यते यद्विवक्षितम् ॥ ८२२ ॥

अर्थ—इन आठ गुणोंके सिवा और भी सम्यग्दृष्टीके गुण हैं उनका यहां पर विचार नहीं किया जाता है। किन्तु जो विवक्षित है वही कहा जाता है।

प्रकृतं तद्यथास्ति स्वं स्वरूपं चेतनात्मनः।
सा त्रिधात्राप्युपादेया सदृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२३ ॥

अर्थ—प्रकृत यही है कि आत्माका निजस्वरूप चेतना है। वह चेतना तीन प्रकार है—कर्म चेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञान चेतना। इन तीनोंमें ज्ञान चेतना ही सम्यग्दृष्टि-को उपादेय है, बाकी दोनों त्याज्य हैं।

श्रद्धानादि गुणाश्चैते बाह्योल्लेखच्छलादिह।
अर्थात्सद्दर्शनस्यैकं लक्षणं ज्ञानचेतना ॥ ८२४ ॥

अर्थ—श्रद्धान आदिक जो सम्यग्दृष्टिके गुण हैं वे सब बाह्य कथनके छलसे हैं, अर्थात् सम्यग्दृष्टिका तो केवल एक ज्ञानचेतना ही लक्षण है।

किन्हीं नासमझ पुरुषोंका कथन—

ननु रूढिरिहाप्यस्ति योगाद्वा लोकतोऽथवा।
तत्सम्यक्त्वं द्विधाप्यर्थनिश्चयाद्व्यवहारतः ॥ ८२५ ॥
व्यावहारिकसम्यक्त्वं सरागं सविकल्पकम्।
निश्चयं वीतरागं तु सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् ॥८२६ ॥
इत्यस्ति वासनोन्मेषः केषाञ्चिन्मोहशालिनाम्।
तन्मते वीतरागस्य सदृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ८२७ ॥
तैः सम्यक्त्वं द्विधा कृत्वा स्वामिभेदो द्विधा कृतः।
एकः कश्चित् सरागोस्ति वीतरागश्च कश्चन ॥ ८२८ ॥
तत्रास्ति वीतरागस्य कस्यचिज्ज्ञानचेतना।
सदृष्टेर्निर्विकल्पस्य नेतरस्य कदाचन ॥ ८२९ ॥

व्यावहारिकसदृष्टेः सविकल्पस्य रागिणः ।
प्रतीतिमात्रमेवास्ति कुतः स्यात् ज्ञानचेतना ॥ ८३० ॥

अर्थ—ऐसी योगरूढि अथवा लोकरूढि है कि वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार है एक निश्चय सम्यक्त्व दूसरा व्यवहार सम्यक्त्व । व्यवहार सम्यक्त्व सराग और सविकल्प है, और निश्चय सम्यक्त्व वीतराग तथा निर्विकल्पक है। किन्हीं मोहशाली पुरुषोंकी ऐसी वासना है, उनके मतमें वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना होती है । उन लोगोंने सम्यक्त्वके दो भेद करके उसके स्वामीके भी दो भेद किये हैं । उनका कहना है कि एक सराग सम्यक्त्व होता है और एक वीतराग सम्यक्त्व होता है । उन दोनोंमें जो वीतराग-निर्विकल्पक सम्यग्दृष्टि है उसीके ज्ञान चेतना होती है, जो सराग-सविकल्पक व्यावहारिक सम्यग्दृष्टि है उसके ज्ञानचेतना कभी नहीं होती क्योंकि उसके प्रतीतिमात्र है इस लिये ज्ञान चेतना उसके कहांसे हो सकती है।

उत्तर—

इति प्रज्ञापराधेन ये वदन्ति दुराशयाः ।
तेषां यावच्छ्रुताभ्यासः कायक्लेशाय केवलम् ॥ ८३१ ॥

अर्थ—इस प्रकार बुद्धिके दोषसे जो दुष्ट आशयवाले ऐसा कहते हैं उनका जितना भी शास्त्राभ्यास है वह केवल शरीरको कष्ट पहुंचानेके लिये है ।

अत्रोच्यते समाधानं सामवेदेन सूरिभिः ।
उच्चैरुत्फणिते दुग्धे योज्यं जलमनाविलम् ॥ ८३२ ॥

अर्थ—यहां पर आचार्य शान्ति पूर्वक समाधान करते हैं क्योंकि दूधका उफान आने पर स्वच्छ जल उसमें डालना ही ठीक है ।

सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक् ।
तज्जहीहि जहीहि त्वं कुरु प्राज्ञ विवेकिताम् ॥ ८३३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार हस्ती तृण सहित खाजाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि अविवेक-पूर्वक बोलता है । आचार्य कहते हैं कि हे प्राज्ञ ! उस अविवेकिताको छोड़ दो और विवेक से काम लो ।

वन्हेरौष्ण्यमिवात्मज्ञ पृथक्कर्तुं त्वमर्हसि ।
मा विभ्रमस्व दृष्ट्वापि चक्षुषाऽचाक्षुषाशया ॥ ८३४ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि हे आत्मज्ञ ! तुम वन्हिसे उष्णताकी तरह 'सम्यग्दृष्टिसे ज्ञान चेतना' को अलग करना चाहते हो । परंतु चक्षुसे किसी पदार्थको देखकर भी अचाक्षुष प्रत्यक्ष-की आशासे उस पदार्थमें विभ्रम मत करो । भावार्थ—ऊपर शंकाकारने सविकल्पक सरागी

सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतनाका अभाव बतालाया है वह वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना बतलाता है। आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है सराग सम्यग्दृष्टिके भी ज्ञानचेतना होती है। इस लिये सराग सम्यग्दृष्टिसे ज्ञानचेतनाको पृथक् करना ऐसा ही है जैसे कि अग्निसे उसके गुणको दूर करना।

अब सम्यग्दृष्टिके सराग और सविकल्पक विशेषणोंका आशय प्रकट किया जाता है जिससे कि सराग-सविकल्पक सम्यग्दृष्टिके ज्ञान चेतना होनेमें किसी प्रकारका सन्देह न रहे—

विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाऽज्ज्ञानस्य पर्ययः।
ज्ञेयाकारः स ज्ञेयार्थात् ज्ञेयार्थान्तरसङ्गतः॥ ८३५॥

अर्थ—उपयोगके बदलनेको विकल्प कहते हैं। वह विकल्प ज्ञानकी पर्याय है अर्थात् पदार्थाकार ज्ञान ही उस ज्ञेयरूप पदार्थसे हटकर दूसरे पदार्थके आकारको धारण करने लगता है। **भावार्थ**—आत्माका ज्ञानोपयोग एक पदार्थसे हटकर दूसरी तरफ लगता है इसीका नाम उपयोग संक्रान्ति है। और इसी उपयोगका नाम विकल्प है।

वह विकल्प क्षयोपशमरूप है—

क्षायोपशमिकं तत्स्यादर्थादक्षार्थसम्भवम्।
क्षायिकात्यक्षज्ञानस्य संक्रान्तेरप्यसंभवात्॥ ८३६॥

अर्थ—वह उपयोग संक्रान्ति स्वरूप विकल्प क्षयोपशमात्मक है। अर्थात् इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे होनेवाला ज्ञान है। क्योंकि अतीन्द्रिय-क्षायिक ज्ञानमें संक्रान्तिका होना ही असंभव है। **भावार्थ**—जब तक ज्ञानमें अल्पज्ञता है तब तक वह सब पदार्थोंको युगपत नहीं ग्रहण कर सक्ता है किन्तु क्रम क्रमसे कभी किसी पदार्थको और कभी किसी पदार्थको जानता है। यह अवस्था इन्द्रिय जन्य ज्ञानमें ही होती है। जो ज्ञान क्षायिक है—अतीन्द्रिय है उसमें सम्पूर्ण पदार्थ एक साथ ही प्रतिविम्बित होते हैं इसलिये उस ज्ञानमें उपयोगका परिवर्त्तन नहीं होता है। परन्तु वह ज्ञान भी सविकल्पक है।

कदाचित् कोई कहे कि वह ज्ञान (क्षायिक) कैसे हो सक्ता है क्योंकि विकल्प नाम उपयोगकी संक्रान्तिका है और क्षायिक ज्ञानमें संक्रान्ति होती नहीं है, फिर क्षायिक ज्ञान सविकल्पक किस प्रकार हो सक्ता है? इसका समाधान—

अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात्।
नार्थादर्थान्तराकारयोगसंक्रान्तिलक्षणात्॥ ८३७॥

अर्थ—क्षायिक ज्ञानमें विकल्पपना अपने लक्षणसे आता है न कि अर्थसे अर्थान्तराकारमें परिणत होनेवाले उपयोगके संक्रमण रूप लक्षणसे।

वह लक्षण इस प्रकार है—

तल्लक्षणं स्वापूर्वार्थविशेषग्रहणात्मकम् ।
एकोऽर्थो ग्रहणं तत्स्यादाकारः सविकल्पता ॥ ८३८ ॥

अर्थ—क्षायिकज्ञानका लक्षण इस प्रकार है-स्व-आत्मा और अपूर्व पदार्थको विशेष रीतिसे ग्रहण करना। यहां पर अर्थ नाम पदार्थका है और ग्रहण नाम आकारका है। स्व और पदार्थके ज्ञानका ज्ञेयाकार होना ही ज्ञानमें सविकल्पता है। **भावार्थ**—जो ज्ञान अपने आपको जानता है साथ ही पर पदार्थोंको जानता है परन्तु उपयोगसे उपयोगान्तर नहीं होता है उसीको क्षायिक ज्ञान कहते हैं। यद्यपि क्षायिक ज्ञानमें भी पदार्थोंके परिवर्त्तनकी अपेक्षासे परिवर्त्तन होता रहता है तथापि उसमें छद्मस्थ ज्ञानकी तरह कभी किसी पदार्थका और कभी किसी पदार्थका ग्रहण नहीं है। क्षायिक ज्ञान सभी पदार्थोंको एक साथ ही जानता है इसी लिये उसमें उपयोग संक्रान्तिरूप लक्षण घटित नहीं होता है परन्तु ज्ञेयाकार होनेसे वह सविकल्प अवश्य है।

ऐसे अविकल्पका सराग ज्ञानमें ग्रहण नहीं है—

विकल्पः सोधिकारेस्मिन्नाधिकारी मनागपि ।
योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोधिकृताऽधुना ॥ ८३९ ॥

अर्थ—जो विकल्प क्षायिक ज्ञानमें घटित किया गया है वह विकल्प इस अधिकारमें कुछ भी अधिकारी नहीं है। यहां पर तो उपयोगके पलटने रूप विकल्पका ही अधिकार है।

ऐसे विकल्पका अधिकार क्यों है ?—

ऐन्द्रियं तु पुनर्ज्ञानं न संक्रान्तिमृते क्वचित् ।
यतोप्यस्य क्षणं यावदर्थादर्थान्तरे गतिः ॥ ८४० ॥

अर्थ—यहां पर इन्द्रियजन्य ज्ञानका अधिकार है और इन्द्रिजन्य ज्ञान विना संक्रान्तिके कभी होता ही नहीं है। क्योंकि उसकी प्रतिक्षण अर्थसे अर्थान्तरमें गति होती रहती है। **भावार्थ**—यहां पर विचार यह था कि सराग सम्यक्त्व सविकल्प है उसमें ज्ञानचेतना नहीं होती है किन्तु वीतराग सम्यक्त्वमें ही वह होती है। आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त कहना ठीक नहीं है, सविकल्प सम्यक्त्वमें भी ज्ञानचेतना होती है उसके होनेमें कोई बाधक नहीं है। यदि कहा जाय कि सराग सम्यक्त्व सविकल्प है इसलिये उसमें ज्ञानचेतना नहीं होती है इसके उत्तरमें आचार्यका कहना है कि विकल्प नाम ज्ञानोपयोगके पलटनेका है। ज्ञानोपयोगका पलटना यह उसका स्वभाव है। अर्थात् वह उपयोग कभी निजात्मानुभव ही करता है और कभी वह बाह्य पदार्थोंको भी जानता है। परन्तु वह ज्ञानचेतनामें किसी प्रकार बाधक नहीं होसकता है। सराग सम्यग्दृष्टिके ज्ञानोपयोगका पलटन भी क्यों होता है, इसका कारण

भी इन्द्रिजयन्य बोध है। सराग सम्यग्दृष्टिके इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है और इन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान जिस पदार्थको जाननेकी चेष्टा करता है उसीको जानता है।

इन्द्रियज्ञान क्रमवर्त्ती है—

इदं तु क्रमवर्त्यस्ति न स्यादक्रमवर्ति यत्।
ऐकां व्यक्तिं परित्यज्य पुनर्व्यक्तिं समाश्रयेत् ॥ ८४१ ॥

अर्थ—इन्द्रियजन्य ज्ञान नियमसे क्रमवर्ती होता है वह अक्रमवर्ती—सभी पदार्थोंको एक साथ जाननेवाला कभी नहीं होता। इन्द्रियजन्य ज्ञान एक पदार्थको छोड़कर दूसरे पदार्थको जाननेकी चेष्टा करता है।

इन्द्रियजबोध और क्रमवर्त्तित्वकी समव्याप्ति है—

इदं त्वावश्यकी वृत्तिः समव्याप्तेरिवाह्वया।
इयं तत्रैव नान्यत्र तत्रैवेयं नचेतरा ॥ ८४२ ॥

अर्थ—समव्याप्तिकी तरह इन्द्रियजन्यबोध और संक्रान्तिकी आवश्यक व्यवस्था है। अर्थात् इन्द्रिजयन्य बोध और क्रमवर्तीपना दोनोंकी समव्याप्तिके समान ही व्यवस्था है। जहां इन्द्रियजन्य बोध है वहीं क्रमवर्तीपन है, अन्यत्र नहीं है। जहां इन्द्रियजन्य बोध है वहां क्रमवर्तीपन ही है, वहां और व्यवस्था नहीं है, अर्थात् क्षायिक ज्ञान और संक्रान्तिकी प्राप्ति नहीं है।

ध्यानका स्वरूप—

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोर्थतः ॥ ८४३ ॥
एकरूपमिवाभाति ज्ञानं ध्यानैकतानतः।
तत्स्यात्पुनः पुनर्वृत्तिरूपं स्यात् क्रमवर्त्ति च ॥ ८४४ ॥

अर्थ—जो ज्ञान किसी एक पदार्थमें निरन्तर रहता है उसीको ध्यान कहते हैं। इस ध्यानरूप ज्ञानमें भी वास्तवमें न तो क्रम ही है और न अक्रम ही है। ध्यानमें एक वृत्ति होनेसे वह ज्ञान एक सरीखा ही विदित होता है। वह वार वार उसी ध्येयकी तरफ लगता है इस लिये वह क्रमवर्ती भी है। **भावार्थ**-यद्यपि यहां ध्यानका कोई प्रकरण नहीं है परन्तु प्रसङ्गवश उसका स्वरूप कहा गया है। प्रसंगका कारण भी यह है कि यहां पर इन्द्रियजन्य ज्ञानका विचार है कि वह क्रमवर्त्ती है, क्षायिकज्ञान क्रमवर्ती नहीं है। इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी कहीं २ ध्यानावस्थामें एकाग्रवृत्ति होता है, ध्यानमें ही तल्लीनता होनेसे वह ज्ञान स्थिर एकरूप ही प्रतीत होता है इस लिये ऐसे स्थलमें (ध्यानस्थ ज्ञानमें) क्रमवर्तित्वका विचार नहीं भी होता है। परन्तु ध्यानस्थ ज्ञान भी फिर फिर उसी पदार्थमें (ध्येयमें) लगता है इस लिये उसे कथञ्चित् क्रमवर्ती भी कह दिया जाता है वास्तवमें वहां क्रम और अक्रमका विचार नहीं है।

यह क्रमवर्त्तीपन पहलेकासा नहीं है—

नात्र हेतुः परं साध्ये क्रमत्वेऽर्थान्तराकृतिः ।
किन्तु तत्रैव चैकार्थे पुनर्वृत्तिरपि क्रमात् ॥ ८४५ ॥

अर्थ—इस ध्यानरूप ज्ञानमें जो क्रमवर्त्तीपना है उसमें अर्थसे अर्थान्तर होना हेतु नहीं है किन्तु एक पदार्थमें ही क्रमसे पुनः पुनर्वृत्ति होती रहती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार इन्द्रियजन्य ज्ञानमें अर्थसे अर्थान्तररूप क्रमवृत्ति बतलाई गई है उसप्रकार ध्यानरूप ज्ञानमें क्रमवृत्ति नहीं है किन्तु वहां एक ही पदार्थमें पुनः पुनर्वृत्ति है ।

अतिव्याप्ति दोष नहीं है—

नोह्यं तत्राप्यति व्याप्तिः क्षायिकात्यक्षसंविदि ।
स्यात्परीणामवत्वेपि पुनर्वृत्तेरसंभवात् ॥ ८४६ ॥

अर्थ—कदाचित् यह कहा जाय कि इस ऊपर कहे हुए ध्यानरूप ज्ञानकी अतीन्द्रिय क्षायिक ज्ञानमें अतिव्याप्ति * आती है क्योंकि क्षायिक ज्ञान भी अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण नहीं करता है और ध्यानरूप ज्ञान भी अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण नहीं करता है इस लिये ध्यान रूप ज्ञानका क्षायिक ज्ञानमें लक्षण चला जाता है ? ऐसी आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि क्षायिक ज्ञान यद्यपि परिणमनशील है तथापि उसमें पुनर्वृत्ति (वार वार ध्येय पदार्थमें उपयोग करना)का होना असंभव है **भावार्थ**—यद्यपि सामान्य दृष्टिसे ध्यान और क्षायिकज्ञान दोनों ही क्रम रहित हैं, अर्थसे अर्थान्तरका ग्रहण दोनोंमें ही नहीं है । तथापि दोनोंमें बड़ा अन्तर है, ध्यान इन्द्रियजन्य ज्ञान है वह यद्यपि एक पदार्थमें ही (एक कालमें) होता है तथापि उसीमें फिर फिर उपयोग लगाना पड़ता है । क्षायिक ज्ञान ऐसा नहीं है वह अतिन्द्रिय है इसलिये उसमें उपयोगकी पुनर्वृत्ति नहीं है वह सदा युगपत् अखिल पदार्थोंके जाननेमें उपयुक्त रहता है, केवल पदार्थोंमें प्रति समय परिवर्त्तन होनेके कारण क्षायिक ज्ञानमें भी परिणमन होता रहता है । परन्तु क्षायिक ज्ञानमें क्रमवर्तीपन और पुनर्वृत्तिपन नहीं है इस-लिये ध्यानका लक्षण इसमें सर्वथा नहीं जाता है ।

छद्मस्थोंका ज्ञान संक्रमणात्मक है—

यावच्छद्मस्थजीवानामस्ति ज्ञानचतुष्टयम् ।
नियतक्रमवर्त्तित्वात् सर्वं संक्रमणात्मकम् ॥ ८४७ ॥

---

* जो लक्षण अपने लक्ष्यमें भी रहे और अलक्ष्यमें भी रहे उसे अतिव्याप्ति लक्षणाभास कहते हैं ।

अर्थ—छद्मस्थ जीवोंके चारों ही ज्ञान (मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्ययः) नियमसे क्रमवर्त्ती हैं इसलिये चारों ही संक्रमण रूप हैं।

नालं दोषाय तच्छक्तिः सूक्तसंक्रान्तिलक्षणा।
हेतोर्वैभाविकत्वेपि शक्तित्वाज्ज्ञानशक्तिवत् ॥ ८४८ ॥

अर्थ—संक्रमण होनेसे ज्ञान शक्तिमें कोई दोष नहीं समझना चाहिये। यद्यपि वैभाविक हेतुसे उसमें विकार हुआ है तथापि वह आत्मीक शक्ति है जिस प्रकार शुद्धज्ञान आत्माकी शक्ति है। इसीप्रकार संक्रमणात्मक ज्ञान भी आत्माकी शक्ति है।

सारांश—

ज्ञानसञ्चेतनायास्तु न स्यात्तद्विघ्नकारणम्।
तत्पर्यायस्तदेवेति तद्विकल्पो न तद्रिपुः ॥ ८४९ ॥

अर्थ—वह संक्रान्ति ज्ञानचेतनामें विघ्न नहीं कर सकती है क्योंकि वह भी ज्ञानकी ही पर्याय है। ज्ञानकी पर्याय ज्ञानरूप ही है। इसलिये विकल्प (संक्रमण ज्ञान) ज्ञानचेतनाका शत्रु नहीं है। **भावार्थ**—पहले यह कहा गया था कि व्यावहारिक सम्यग्दर्शनमें सविल्पज्ञान रहता है, और उसका कारण कर्मोदय है। कर्मोदय हेतुसे व्यावहारिक सम्यग्दृष्टिका ज्ञान संक्रमणात्मक है। इसलिये उस विकल्पावस्थामें ज्ञानचेतना नहीं होसकती। ज्ञानचेतना वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही होती है। इसी बातका निराकरण करनेके लिये आचार्य कहते हैं कि विकल्पज्ञान ज्ञानचेतनामें बाधक नहीं होसकता। चारों ही ज्ञान क्षयोपशमात्मक हैं इसलिये चारों ही संक्रमणात्मक हैं। संक्रमणात्मक होनेसे ज्ञानचेतनामें वे किसी प्रकार बाधक नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ज्ञानचेतनाका जो प्रतिपक्षी है वह ज्ञानचेतनामें बाधक होता है। विकल्पात्मकज्ञान ज्ञानकी ही पर्याय है इसलिये वह ज्ञानचेतनाका प्रतिपक्षी किसी प्रकार नहीं है।

शङ्काकार—

ननु चेति प्रतिज्ञा स्यादर्थादर्थान्तरे गतिः।
आत्मनोऽन्यत्र तत्रास्ति ज्ञानसञ्चेतनान्तरम् ॥ ८५० ॥

अर्थ—आपकी यह प्रतिज्ञा है कि संक्रान्तिके रहते हुए अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान होता है, जब ऐसी प्रतिज्ञा है तो क्या आत्मासे भिन्न पदार्थोंमें भी ज्ञान संचेतनान्तर होता है? **भावार्थ**—पहले कहा गया है कि मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चारों ज्ञान संक्रमणात्मक हैं, मतिज्ञानमें ज्ञान चेतना भी आ गई इसलिये वह भी संक्रमणात्मक हुई, इसी विषयमें कोई शंका करता है कि ज्ञान चेतना शुद्धात्मानुभवको कहते हैं और संक्रान्ति ज्ञान चेतनामें मानते ही हो, तब क्या आत्माको पहले जानकर (आत्मानुभव करके) पीछे उसको छोड़कर दूसरे पदार्थोंमें दूसरी ज्ञान चेतना होती है? यदि होती है तो शुद्धात्माको

छोड़कर भिन्न पदार्थोंमें भी ज्ञान चेतनाकी वृत्ति रह जानेसे उसको विपक्षवृत्तित्व आ गया, " ज्ञान चेतना शुद्धात्मानुभवरूप ही होती है ज्ञान चेतनात्व हेतुसे " इस अनुमानमें ज्ञान चेतनात्व हेतुको शंकाकारने विपक्षवृत्ति बतला कर व्यभिचार दिखलाया है ।

उत्तर—

सत्यं हेतोर्विपक्षत्वे वृत्तित्वाद्व्यभिचारिता ।
यतोऽत्रान्यात्मनोऽन्यत्र स्वात्मनि ज्ञानचेतना ॥ ८५१ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि तुम्हारा कहना ठीक है विपक्षवृत्ति होनेसे हेतुको व्यभिचारीपना अवश्य आता है, किन्तु यहां पर हेतु विपक्ष वृत्ति नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थोंसे भिन्न जो शुद्ध निजात्मा है, उसमें ज्ञान चेतनाकी वृत्ति होनेसे संक्रमण भी बन जाता है और ज्ञान चेतनाको विपक्षवृत्तित्व भी नहीं आता है । भावार्थ—कोई पुरुष पहले भिन्न पदार्थोंको जान रहा था, फिर उसने अपने ज्ञानको बाह्य पदार्थोंसे हटाकर अपने शुद्धात्म विषयमें लगा दिया, शुद्धात्मानुभवके समय उसका वह ज्ञान ' ज्ञान चेतनास्वरूप है तथा वह बाह्य पदार्थोंसे हटकर शुद्धात्मामें लगनेके कारण संक्रमणात्मक भी है, और उस ज्ञानचेतनारूप ज्ञानकी बाह्य पदार्थोंके विषयमें वृत्ति भी नहीं है इसलिये व्यभिचार दोष नहीं है ।

किञ्च सर्वस्य सद्दृष्टेर्नित्यं स्याज्ज्ञानचेतना ।
अव्युच्छिन्नप्रवाहेण यद्वाऽखण्डैकधारया ॥ ८५२ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण सम्यग्दृष्टियोंके सदा ज्ञानचेतना रहती है । वह निरन्तर प्रवाह रूपसे रहती है, अथवा अखण्ड एकधारा रूपसे सदा रहती है ।

इसमें कारण—

हेतुस्तत्रास्ति सद्रीची सम्यक्त्वेनान्वयादिह ।
ज्ञानसञ्चेतनालब्धिर्नित्या स्वावरणव्ययात् ॥ ८५३ ॥

अर्थ—निरन्तर ज्ञानचेतनाके रहनेमें भी सहकारी कारण सम्यग्दर्शनके साथ अन्वय-रूपसे रहनेवाली ज्ञानचेतनालब्धि है वह अपने आवरणके दूर होनेसे सम्यग्दर्शनके साथ सदा रहती है । भावार्थ—आत्मामें सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेके साथ ही मतिज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम होता है उसी क्षयोपशमका नाम ज्ञान चेतना लब्धि है । यह लब्धि सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभाव रूपसे सदा रहती है, और यही लब्धि उपयोगात्मक ज्ञान चेतनामें कारण है ।

उपयोगात्मक ज्ञानचेतना सदा नहीं होती है—

कादाचित्कास्ति ज्ञानस्य चेतना स्वोपयोगिनी ।
नालं लब्धेर्विनाशाय समव्याप्तेरसंभवात् ॥ ८५४ ॥

अर्थ—ज्ञानकी निज उपयोगात्मक चेतना कभी २ होती है। वह लब्धिका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है। इसका कारण भी यही है कि उपयोगरूप ज्ञानचेतनाकी सम व्याप्ति नहीं है। **भावार्थ**--सम्यग्दर्शनका अविनाभावी जो मतिज्ञानावरण कर्मका विशेष क्षयोपशम है उसी-को लब्धि कहते हैं, और उस लब्धिके होनेपर आत्माकी तरफ उन्मुख (रुजू) होकर आत्मानुभवन करना ही उपयोग है। लब्धि और उपयोगमें कार्य कारण भाव है। लब्धिके होनेपर ही उपयोगात्मक ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। परन्तु यह नियम नहीं है कि लब्धिके होनेपर उपयोग रूप ज्ञान हो ही हो। उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य है। लब्धिरूप ज्ञान नित्य है। जिस समय पदार्थके जाननेके लिये आत्मा उद्यत होता है उसी समय उसके उपयोगा-त्मक ज्ञान होता है। परन्तु लब्धिरूप ज्ञान बना ही रहता है। इसलिये उपयोग और लब्धि दोनोंमें विषमव्याप्ति है। जो व्याप्ति एक तरफसे होती है उसे विषमव्याप्ति कहते हैं। उपयोगके होनेपर लब्धि अवश्य होती है परन्तु लब्धिके होने पर उपयोगात्मक चेतना हो भी और नहीं भी हो, नियम नहीं है। जो व्याप्ति दोनों तरफसे होती है उसे समव्याप्ति कहते हैं जैसे ज्ञान और आत्मा। जहां ज्ञान है वहां आत्मा अवश्य है और जहां आत्मा है वहां ज्ञान अवश्य है। ऐसी उभयथा व्याप्ति लब्धि और उपयोगरूप ज्ञानचेतनामें नहीं है।

उसीका स्पष्टीकरण—

अस्त्यत्र विषमव्याप्तिर्यावल्लब्ध्युपयोगयोः।
लब्धिक्षतेरवश्यं स्यादुपयोगक्षतिर्यतः ॥ ८५५ ॥
अभावात्तूपयोगस्य क्षतिर्लब्धेश्च वा न वा।
*** यत्तदावरणस्यामा दृशा व्याप्तिर्नचासुना ॥ ८५६ ॥**
अवश्यं सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः।
न तत्क्षतिरसत्यत्र सिद्धमेतज्जिनागमात् ॥ ८५७ ॥

अर्थ—लब्धि और उपयोगमें विषम व्याप्ति है। क्योंकि लब्धिका नाश होने पर उपयोगका नाश अवश्यंभावी है। परन्तु उपयोगका नाश होनेपर लब्धिका नाश अवश्यंभावी नहीं है। हो या न हो कुछ नियम नहीं है। सम्यग्दर्शनके साथ लब्ध्यावरणकर्मके क्षयोपशम-की व्याप्ति है, उसके साथ उपयोगात्मक ज्ञानकी व्याप्ति नहीं है। व्याप्तिसे तात्पर्य यहां समव्याप्तिका है सम्यग्दर्शनके होनेपर लब्ध्यावरण कर्म (ज्ञानचेतनाको रोकनेवाला कर्म)का क्षयोपशम भी अवश्य होता है। सम्यग्दर्शनके अभावमें लब्ध्यावरण कर्मका क्षयोपशम भी

* यहां पर आवरण शब्दका अर्थ आवरणका क्षयोपशम लेना चाहिये। नामके एकदेश कहनेसे सम्पूर्ण नामका ग्रहण कहीं २ किया जाता है।

नहीं होता है । यह बात जिनागमसे सिद्ध है । ×

विशेष—

नूनं कर्मफले सद्यश्चेतना वाऽथ कर्मणि ।
स्यात्सर्वतः प्रमाणाद्वै प्रत्यक्षं बलवद्यतः ८५८ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वके अभावमें कर्म चेतना व कर्मफल चेतना होती है, और यह बात सर्व प्रमाण सिद्ध है । क्योंकि यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मिथ्यादृष्टिके कर्मचेतना व कर्मफल

× बहुतसे लोग ऐसी शंका उठाया करते हैं कि कागज़, पेंसिल आदि पदार्थोंका ज्ञान जैसा सम्यग्ज्ञानीको होता है वैसा ही मिथ्याज्ञानीको होता है । फिर यथार्थ ज्ञान होने पर भी, मिथ्यादृष्टि-को मिथ्याज्ञानी क्यों कहा जाता है ? इस शंकाका यह समाधान है कि केवल लौकिक पदार्थोंको जाननेसे ही सम्यग्ज्ञानी नहीं होजाता है । यदि लौकिक पदार्थोंको जाननेसे ही सम्यग्ज्ञानी होजाता हो तो उस पाश्चिमात्य—विज्ञान वेत्ताको जो कि अनेक सूक्ष्म आविष्कार कर रहा है और पदार्थोंकी शक्तियोंका परिज्ञान कर रहा है सम्यग्ज्ञानी कहना चाहिये, परन्तु नहीं, वह भी मिथ्याज्ञानी ही है । सम्यग्ज्ञानीका यही लक्षण है कि जिसकी आत्मामें दर्शन मोहनीय कर्मके क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशमके साथ ही मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम 'लब्धि' होचुका हो । मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम यद्यपि सामान्य दृष्टिसे सबके ही होता है तथापि यह जुदा है । यह स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम कहलाता है । स्वानुभूति भी मतिज्ञानका ही भेद है । सम्यग्ज्ञानीके स्वानुभूति लब्धि प्रकट होजाती है बस यही उसके सम्यग्ज्ञानका चिन्ह है । इसीसे बाह्य पदार्थोंमें अल्पज्ञ अथवा कहीं पर शङ्कित वृत्ति होनेपर भी वह सम्यग्ज्ञानी ही कहा जाता है । सम्यग्दृष्टिको भी रस्सीमें सर्पका, सीपमें चांदीका, स्थाणुमें पुरुषका भ्रम होता ही है परन्तु वह भ्रम बाह्यदृष्टिके दोषसे होता है । उसके सम्यग्ज्ञानमें वह दोष बाधक नहीं होसकता है । पशुओंको भी सम्यग्दर्शनके साथ वह लब्धि प्रकट होजाती है, इसी लिये वे पदार्थोंका बहुत कम (न कुछके बराबर) ज्ञान रखने पर भी सम्यग्ज्ञानी हैं । पशुओंको जीवादि तत्वोंका पूर्ण बोध भले ही न हो तथापि वे उस मिथ्यात्व पटलके हट जानेसे सम्यग्ज्ञानी हैं । सम्यग्ज्ञानीको बहु विज्ञ होना चाहिये ऐसा नियम नहीं है, केवल स्वानुभूतिके प्रकट होजानेसे ही सम्यग्ज्ञानी अलौकिक सुखका आस्वादन करता है । आत्मोपयोगी पदार्थोंका श्रद्धान सम्यग्ज्ञानीको ही होसकता है वह श्रद्धान बड़े २ आविष्कारोंको नहीं होसकता । आजकल बहुतसे मनुष्य हरएक पदार्थके विश्वासको सम्यग्दर्शन कह देते हैं परन्तु ऐसा उनका कहना लोगोंको केवल भ्रममें डालनेवाला ही है । सिद्धान्त तो यहां तक बतलाता है कि विना स्वानु-भूतिके जो जीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान है वह भी सम्यक्त्व नहीं है, यही कारण है कि द्रव्यलिङ्गी मुनि संसारमें ही रहते हैं, वे यद्यपि दश अंग तकके पाठी होजाते हैं उन्हें जीवादि तत्त्वोंका भी श्रद्धान है परन्तु स्वानुभूति लब्धिका उनके अभाव है इसी लिये वे मिथ्यादृष्टि ही हैं उनको यथार्थ सुखका स्वाद नहीं मिलता है । उपर्युक्त कथनका सारांश यही है कि जिनके स्वानुभूत्यावरण कर्मका क्षयोपशम होचुका है वे ही सम्यग्ज्ञानी हैं । हां, स्वात्मोपयोगी पदार्थोंका श्रद्धान भी सम्यक्त्वमें कारण है ।

चेतना होती है। जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध होती है वह सर्व प्रमाण सिद्ध होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष सबमें बलवान प्रमाण है।

फलितार्थ—

सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा।
निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोस्ति सा ॥ ८५९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका यही सारांश है कि जो ज्ञानचेतनावरणकी क्षयोपशमरूप लब्धि है वह शुद्धात्मानुभव रूप उपयोगके अभावमें निर्विकल्पक अवस्थामें रहती है। **भावार्थ**—जैसे दाह्य पदार्थके अभावमें अग्निकी दाहक शक्तिका व्यक्त परिणमन (कार्यरूप) कुछ भी दिखाई नहीं देता, वैसी ही अवस्था शुद्धात्मानुभवके अभावमें लब्धिरूप ज्ञानचेतनाकी समझना चाहिये। ऊपर जो कहा गया है कि सम्यक्त्वके रहते हुए उपयोगात्मक चेतना कभी होती है कभी नहीं होती किन्तु सम्यक्त्वके रहते हुए लब्धिरूप चेतना सदा बनी रहती है उसका सारांश यही है कि सम्यक्त्वके सद्भावमें स्वात्मानुभव रूप उपयोगात्मक ज्ञान हो अथवा न हो परन्तु लब्धिरूप ज्ञान अवश्य रहता है, हां इतना अवश्य है कि उपयोगके अभावमें वह लब्धिरूप ज्ञान निर्विकल्पक अवस्थामें रहता है, उस समय कार्य परिणत नहीं है।

शुद्धस्यात्मोपयोगो यः स्वयं स्यात् ज्ञानचेतना।
निर्विकल्पः स एवार्थादर्थासंक्रान्तसङ्गतेः ॥ ८६० ॥

अर्थ—शुद्धात्मानुभव रूप जो उपयोगात्मक ज्ञानचेतना है वह भी वास्तवमें निर्विकल्पक ही है, क्योंकि जितनेकाल तक शुद्धात्मानुभव होता रहता है उतने काल तक ही उपयोगात्मक ज्ञानचेतना कहलाती है, और उस कालमें शुद्धात्मासे हटकर दूसरे पदार्थोंकी ओर ज्ञान जाता नहीं है इसलिये उस समय संक्रान्तिके न होनेसे उपयोगात्मक ज्ञानको भी निर्विकल्पक कहा गया है। **भावार्थ**—यहां पर यह शंका हो सकती है कि पहले ज्ञान चेतनाको संक्रमणात्मक कहा गया है और यहां पर उसीको असंक्रमणात्मक वा निर्विकल्पक कहा गया है, सो क्यों ? इसके उत्तरमें यह समझना चाहिये कि वहां पर दूसरे पदार्थोंसे हटकर शुद्धात्मामें लगनेकी अपेक्षासे ज्ञान चेतनाको संक्रमणात्मक कहा गया है और यहां पर ज्ञान चेतनारूप उपयोगके अस्तित्वकालमें शुद्धात्मासे हटकर पदार्थान्तरमें ज्ञानका परिणमन न होनेकी अपेक्षासे उसे असंक्रमणात्मक (निर्विकल्पक) कहा गया है।

अस्ति प्रश्नावकाशस्य लेशमात्रोत्र केवलम्।
यत्कश्चिद्बहिरर्थे स्यादुपयोगोन्यत्रात्मनः ॥ ८६१ ॥

अर्थ—यहां पर इस प्रश्नके लिये फिर भी लेश मात्र अवकाश रह जाता है कि जब ज्ञान चेतनामें शुद्धात्माको छोड़कर अन्य पदार्थ विषय पड़ते ही नहीं, तब केवलज्ञानियोंके

ज्ञान चेतना है या नहीं, यदि है तो उसमें अन्य पदार्थ क्यों विषय पड़ते हैं, यदि नहीं है तो केवलियोंके कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतनाकी असंभावनामें कौनसी चेतना कहनी चाहिये ? इस प्रश्नके उत्तरमें यही समझना चाहिये कि केवलज्ञानियोंके ज्ञानचेतना ही होती है और उसमें शुद्धात्मा विषय रहते हुए ही अन्य सकल पदार्थ विषय पड़ते हैं । शुद्धात्माको छोड़ कर केवल अन्य पदार्थ विषय नहीं पड़ते हैं । भावार्थ—किसी ज्ञान चेतनामें केवल शुद्धात्मा विषय पड़ता है और किसीमें शुद्धात्मा तथा अन्य पदार्थ दोनों ही विषय पड़ते हैं किन्तु ऐसी कोई भी उपयोगात्मक ज्ञान चेतना नहीं है कि जिसमें शुद्धात्मा विषय न पड़ता हो, अथवा केवल अन्य पदार्थ ही विषय पड़ते हों । अन्य पदार्थोंके निषेध करनेका भी हमारा यही प्रयोजन है कि शुद्धात्माको छोड़कर केवल अन्य पदार्थ ज्ञान चेतनामें विषय नहीं पड़ते हैं । यहांपर यह शंका उठाई जा सक्ती है कि जब ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थ भी विषय पड़ते हैं तब उसमें संक्रमणका होना भी आवश्यक है । और ऊपर ज्ञान चेननामें संक्रमणका निषेध किया गया है, सो क्यों ? इसका उत्तर यह है कि जिस ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थ भी विषय पड़ते हैं वे उस ज्ञान चेतनाके अस्तित्व कालमें आदिसे अन्ततक बराबर विषय रहते हैं । केवलज्ञानमें आदिसे ही शुद्धात्मा तथा अन्य पदार्थ विषय पड़ते हैं और अनन्तकाल तक निरन्तर बने रहते हैं, ऐसा नहीं है कि केवलज्ञानमें उत्पत्ति कालमें केवल शुद्धात्मा ही विषय पड़ता हो, पीछे विषय बढ़ते जाते हों, किन्तु आदिसे ही सर्व विषय उसमें झलकते हैं, और बराबर झलकते रहते हैं, इसी अपेक्षासे ज्ञान चेतनामें अन्य पदार्थोंके विषय रहते हुए भी संक्रमणका निषेध किया गया है ।

ज्ञानोपयोगकी महिमा—

अस्ति ज्ञानोपयोगस्य स्वभावमहिमोदयः ॥
आत्मपरोभयाकारभावकश्च प्रदीपवत् ॥ ८६२ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोगकी यह स्वाभाविक महिमा है कि वह अपना प्रकाशक है, परका प्रकाशक है और स्व–पर दोनोंका प्रकाशक है । जिस प्रकार दीपक अपना और दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक है उसी प्रकार ज्ञान भी अपना और दूसरे पदार्थोंका प्रकाशक है यह ज्ञानोपयोगकी स्वाभाविक महिमा है ।

उसीका खुलासा—

निर्विशेषाद्यथात्मानमिव ज्ञेयमवैति च ।
तथा मूर्तानमूर्ताश्च धर्मादीनवगच्छति ॥ ८६३ ॥

अर्थ—ज्ञान सामान्य रीतिसे जिस प्रकार अपने स्वरूपको जानता है उसी प्रकार ज्ञेय पदार्थोंको भी वह जानता है तथा ज्ञेय पदार्थोंमें मूर्त पदार्थोंको और अमूर्त धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि पदार्थोंको वह जानता है।

स्वपरोपयोग गुणदोषाधायक नहीं है—

स्वस्मिन्नेवोपयुक्तो वा नोपयुक्तः स एव हि।
परस्मिन्नुपयुक्तोवा नोपयुक्तः स एव हि ॥ ८६४ ॥
स्वस्मिन्नेवोपयुक्तोपि नोत्कर्षाय स वस्तुतः ॥
उपयुक्तः परत्रापि नापकर्षाय तत्त्वतः ॥८६५॥

अर्थ—पहले यह बात कही जा चुकी थी कि क्षयोपशमात्मक ज्ञानकी दो अवस्थायें होती हैं—एक लब्धिरूप, दूसरी उपयोगरूप। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाली जो आत्मामें विशुद्धि है उसको लब्धि कहते हैं और पदार्थोंके जाननेकी चेष्टा करना उसे उपयोग कहते हैं, अब यहां पर उपयोगात्मक ज्ञानका ही विचार चल रहा है कि वह कभी आत्मामें ही उपयुक्त होता है अर्थात् निजात्माको ही जानता है, और कभी नहीं भी उपयुक्त होता है अर्थात् कभी आत्माको नहीं भी जानता है केवल, लब्धिरूप ही रहता है। अथवा कभी वह पर पदार्थमें भी उपयुक्त होता है और कभी वहां भी उपयुक्त नहीं होता है। जिस समय वह उपयोग निजात्माको जान रहा है उस समय वह कुछ उत्कर्ष पैदा नहीं करता है, और जिस समय वह पर पदार्थको भी जान रहा है उस समय वास्तवमें कुछ अपकर्ष पैदा नहीं करता है।

सारांश—

तस्मात्स्वस्थितयेऽन्यस्मादेकाकारचिकीर्षया।
मा सीदसि महाप्राज्ञ सार्थमर्थमवैहि भोः ॥ ८६६ ॥

अर्थ—इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित रहनेके लिये दूसरे पदार्थसे हटकर एकाकार (आत्माकार) के करनेकी इच्छासे खेद मत कर! हे महा प्राज्ञ! सम्पूर्ण पदार्थको पहचान। **भावार्थ**—शंकाकार स्वात्मोपयोगको ही ज्ञानचेतना समझता था। जिस समय ज्ञानोपयोग पर पदार्थको जानता है उस समय उसे वह ज्ञान चेतना नहीं समझता था, आचार्य उस शंकाकारसे सम्बोधन करके कहते हैं कि तू व्यर्थका खेद मत कर, ज्ञानोपयोगकी तो यह स्वाभाविक महिमा है कि वह स्व—पर सबको जानता है, न तो स्वात्मोपयोग कुछ विशेष गुणोत्पादक है और न पर पदार्थोपयोग कुछ दोषोत्पादक है। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है। पदार्थका स्वरूप जाननेकी बड़ी आवश्यकता है।

ज्ञानका स्वभाव—

चर्यया पर्यटन्नेव ज्ञानमर्थेषु लीलया।
न दोषाय गुणायाऽथ नित्यं प्रत्यर्थमर्थसात् ॥ ८६७ ॥

अर्थ—ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थोंमें लीलामात्रसे घूमता फिरता है, वह प्रत्येक पदार्थको

जानता हुआ न तो कुछ दोष ही पैदा करता है और न कुछ गुण ही पैदा करता है। अर्थात् हरएक पदार्थको जानना यह ज्ञानका धर्म है। दोष गुणसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहांपर कई श्लोकोंमें दोष गुणका निरूपण आरहा है, इसलिये यह बता देना आवश्यक है कि दोषसे किस दोषका ग्रहण है और गुणसे किस गुणका ग्रहण है।

दोष—

दोषः सम्यग्दृशो हानिः सर्वतोंशांशतोऽथवा।
संवराग्रेसरायाश्च निर्जरायाः क्षतिर्मनाक् ॥ ८६८ ॥
व्यस्तेनाथ समस्तेन तद्द्वयस्योपमूलनम्।
हानिर्वा पुण्यबन्धस्याहेयस्याप्यपकर्षणात् ॥ ८६९ ॥
उत्पत्तिः पापबन्धस्य स्यादुत्कर्षोऽथवास्य च।
तद्द्वयस्याथवा किञ्चिद्यावदुद्वेलनादिकम् ॥ ८७० ॥

अर्थ—सम्पूर्णतासे सम्यग्दर्शनकी हानिका होना, अथवा कुछ अंशोंमें उसकी हानिका होना, संवर और निर्जराकी कुछ हानिका होना, इन दोनोंमेंसे किसी एकका विनाश होना, अथवा दोनोंका ही सर्व देश विनाश होना, अथवा उपादेय–पुण्यबन्धकी हानिका होना, अथवा उसका कम रह जाना, अथवा पापबन्धकी उत्पत्तिका होना, अथवा पापबन्धका उत्कर्ष–बढवारी होना, अथवा पापबन्धकी उत्पत्ति और उसके उत्कर्ष रूपमें कुछ उद्वेलन आदिका होना, ये सब दोष कहलाते हैं।

गुण—

गुणः सम्यक्त्वसंभूतिरुत्कर्षो वा सतोंऽशकैः।
निर्जराऽभिनवा यद्वा संवरोऽभिनवो मनाक ॥ ८७१ ॥
उत्कर्षो वाऽनयोरंशैर्द्वयोरन्यतरस्य वा।
श्रेयोबन्धोऽथवोत्कर्षो यद्वा नाद्यपकर्षणम् ॥ ८७२ ॥ *

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका होना, अथवा उसकी अंशरूपसे वृद्धिका होना, अथवा नवीन निर्जराका होना अथवा कुछ नवीन संवरका होना, अथवा संवर और निर्जरा दोनोंकी अंशरूपसे वृद्धिका होना, अथवा दोनोंमेंसे किसी एकका उत्कर्ष होना, पुण्य बन्धका होना, अथवा उसकी बढ़वारी होना अथवा पुण्य बन्धमें अपकर्ष (हीनता) का न होना ये सब गुण कहलाते हैं।

* मूल पुस्तकमें " यद्वा स्यादपकर्षणम् " ऐसा पाठ है परन्तु यहां पर पुण्यबन्धके उत्कर्षको गुण कहा गया है फिर उसके अपकर्षको भी कैसे गुण कहा जासकता है इसलिये उपर्युक्त संशोधित पुस्तकका पाठ ही अनुकल पड़ता है। सुज्ञजन और भी विचारें।

गुण और दोषमें उपयोग कारण नहीं है—

गुणदोषद्वयोरेवं नोपयोगोस्ति कारणम् ।
हेतुर्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम् ॥ ८७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर कहे हुए गुण और दोषोंमें उपयोग (ज्ञानोपयोग) कारण नहीं है, और न वह उन दोनोंमेंसे किसी एकका हेतु ही है। तथा यह उपयोग दोनोंका सहकारी भी नहीं है। भावार्थ—कारण, हेतु, सहकारी इन तीनोंका भिन्न २ अर्थ है। उत्पन्न करनेवालेको कारण कहते हैं, जैसे धूमकी उत्पत्तिमें अग्नि कारण है, जो उत्पादक तो न हो किन्तु साधक हो उसे हेतु कहते हैं, जैसे पर्वतमें अग्नि सिद्ध करते समय धूम उसका साधक होता है। सहायता पहुंचानेवालेको सहकारी कहते हैं, जैसे घट बनाते समय कुंभकारके लिये दण्ड सहकारी है। उपयोग गुण दोषोंके लिये न तो कारण है न हेतु है और न सहकारीही है।

सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण—

सम्यक्त्वं जीवभावः स्यादस्तादृङ्मोहकर्मणः ।
अस्ति तेनाविनाभूतं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः ॥ ८७४ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होनेसे सम्यक्त्व नामा जीवका गुण प्रकट होता है। दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशमके साथ ही सम्यक्त्वका अविनाभाव है। इन्हीं दोनोंमें व्याप्ति घटित होती है।

दैवादस्तं गते तत्र सम्यक्त्वं स्यादनन्तरम् ।
*** दैवान्नास्तंगते तत्र न स्यात्सम्यक्त्वमञ्जसा ॥ ८७५ ॥**

अर्थ—दैववश (काल लब्धि आदिक निमित्त मिलने पर) उस दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मामें सम्यक्त्व प्रकट हो जाता है, और दैववश (प्रतिकूलतामें) उस दर्शन मोहनीयके अस्त नहीं होने पर अर्थात् उदित रहने पर सम्यक्त्व नहीं होता है। भवार्थ—दर्शन मोहनीय कर्मका उदय सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें बाधक है और उसका अनुदय सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें साधक है।

सार्धं तेनोपयोगेन न स्याद् व्याप्तिर्द्वयोरपि ।
विना तेनापि सम्यक्त्वं तदस्ते सति स्याद्यतः ॥ ८७६ ॥

अर्थ—उस ज्ञानोपयोगके साथ दर्शन मोहाभाव और सम्यक्त्वकी व्याप्ति नहीं है।

---

* "दैवान्नान्यतरस्यापि योगवाही च नाप्ययम्" यह पाठ मूल पुस्तकका है। इसका आशय यही है कि उपयोग दर्शनमोहनीयके उदय और अनुदयमें हेतु नहीं है, सहकारी भी नहीं हैं। परन्तु इस बातका कथन नीचेके श्लोकमें आया है तथा दो नकार भी खटकते है इसलिये संशोधित पाठ ही ठीक प्रतीत होता है।

क्योंकि विना उपयोग (शुद्धोपयोग)के भी दर्शन मोहनीय कर्मके अनुदय होने पर सम्यक्त्व होता ही है। इसलिये दर्शनमोहाभाव और सम्यक्त्वकी व्याप्ति है, उपयोगके साथ इनकी व्याप्ति नहीं है।

उपयोगके साथ निर्जरादिककी भी व्याप्ति नहीं है—

सम्यक्त्वेनाविनाभूता येपि ते निर्जरादयः।
समं तेनोपयोगेन न व्याप्तास्ते मनागपि ॥ ८७७ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके साथ अविनाभावसे रहने वाले जो निर्जरा, संवर आदिक गुण हैं वे भी उस उपयोगके साथ व्याप्ति नहीं रखते हैं, अर्थात् निर्जरा आदिमें भी उपयोग कारण नहीं है।

सम्यक्त्व और निर्जरादिकी व्याप्ति—

सत्यत्र निर्जरादीनामवश्यम्भावलक्षणम्।
सद्भावोस्ति नासद्भावो यत्स्याद्वा नोपयोगि तत् ॥ ८७८ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके होने पर निर्जरा आदिक अवश्य ही होते हैं। सम्यग्दर्शनकी उपस्थितिमें निर्जरादिका अभाव नहीं हो सकता है। परन्तु उस समय ज्ञान उपयोगात्मक हो अथवा न हो कुछ नियम नहीं है। अर्थात् शुद्धोपयोग हो या न हो निर्जरादिक सम्यक्त्वके अविनाभावी हैं। उनमें उपयोग कारण नहीं है।

इसीका स्पष्टीकरण—

आत्मन्येवोपयोग्यस्तु ज्ञानं वा स्यात्परात्मनि।
सत्सु सम्यक्त्वभावेषु सन्ति ते निर्जरादयः ॥ ८७९ ॥

अर्थ—ज्ञान चाहे स्वात्मामें ही उपयुक्त हो चाहे वह परात्मा (पर पदार्थ) में भी उपयुक्त हो, सम्यग्दर्शनरूप भावोंके होनेपर ही निर्जरादिक होते हैं। **भावार्थ**—उपर्युक्त छह श्लोकों में जो कुछ कहा गया है उसका सार यही है कि ज्ञान चाहे निजात्मा (शुद्धात्मानुभव) में उपयुक्त हो चाहे पर पदार्थोंमें भी उपयुक्त हो वह गुण दोषोंमें कारण नहीं है। ऊपरके श्लोकोंमें गुणोंका कथन किया गया है। निर्जरादि गुणोंमें जीवके सम्यग्दर्शनरूप परिणाम ही कारण हैं स्वात्मोपयोग कारण नहीं है।

पुण्य और पापबन्धमें कारण—

यत्पुनः श्रेयसो बन्धो बन्धश्चाऽश्रेयसोपि वा।
रागाद्वा द्वेषतो मोहात् स स्यात् स्यान्नोपयोगसात् ॥८८०॥

अर्थ—जिस प्रकार निर्जरादिक गुणोंमें उपयोग कारण नहीं है। उसी प्रकार पुण्यबन्ध और पापबन्धमें भी वह कारण नहीं है। पुण्यबन्ध और पापबन्ध रागद्वेष मोहसे होते हैं, वे उपयोगाधीन नहीं होते।

बन्धकी व्याप्ति रागादिके साथ है—

व्याप्तिर्बन्धस्य रागाद्यैर्नाऽव्याप्तिर्विकल्पैरिव ।
विकल्पैरस्य चाऽव्याप्तिर्न व्याप्तिः किल तैरिव ॥ ८८१ ॥

अर्थ—बन्धकी व्याप्ति (अविनाभाव) रागादिकोंके साथ है। रागादिकोंके साथ उपयोगकी तरह बन्धकी अव्याप्ति नहीं है। और उपयोगके साथ बन्धकी अव्याप्ति है। उपयोगके साथ रागादिककी तरह बन्धकी व्याप्ति नहीं है। **भावार्थ**—बन्धके होनेमें रागद्वेष कारण हैं। शुभ बन्धमें शुभरागकी तीव्रता और अशुभ कर्मोदयकी मन्दता कारण है और अशुभ बन्धमें अशुभ रागकी तीव्रता और शुभ कर्मोदयकी मन्दता कारण है। परन्तु बन्धमात्रमें उपयोग कारण नहीं है। इसी लिये बन्धका अविनाभाव रागद्वेषके साथ है उपयोगके साथ नहीं है।

राग और उपयोगमें व्याप्ति नहीं है—

नानेकत्वमसिद्धं स्यान्नस्याद्व्याप्तिर्मिथोऽनयोः ।
रागादेश्चोपयोगस्य किन्तूपेक्षास्ति तद्द्वयोः ॥ ८८२ ॥

अर्थ—राग और उपयोग इनमें अनेकत्व असिद्ध नहीं है, अर्थात् राग भिन्न पदार्थ है और उपयोग भिन्न पदार्थ है। इन दोनोंमें परस्पर व्याप्ति भी नहीं है किन्तु राग और उपयोग दोनोंमें उपेक्षा भाव है, अर्थात् दोनोंमें कोई भी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता है। दोनोंमें कोई सम्बन्ध भी नहीं है। दोनों स्वतन्त्र हैं।

राग क्या पदार्थ है—

कालुष्यं तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ्मोहस्याथ नान्यथा ॥ ८८३ ॥

अर्थ—आत्माके कलुषित (सकषाय) परिणामोंका नाम ही रागादिक है। रागादिक आत्माका औदयिक भाव है। क्योंकि वह चारित्रमोहनीय और दर्शनमोहनीयके पाकसे होता है। अन्यथा नहीं होता। **भावार्थ**—रागादिकमें आदि पदसे द्वेष और मोहका ग्रहण करना चाहिये। चारित्र मोहनीयकर्मके विपाक होनेसे आत्माके चारित्र गुणके विभाव भावको रागद्वेष कहते हैं। दर्शनमोहनीयकर्मके विपाक होनेसे सम्यग्दर्शनके विभावभावको मोह कहते हैं। ये भावकर्मके उदयसे ही होते हैं इसलिये इन्हें औदयिकभाव कहते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व ये सब रागद्वेष मोहरूप औदयिक भाव हैं।

उपयोग क्या पदार्थ है—

क्षायोपशमिकं ज्ञानमुपयोगः स उच्यते ।
एतदावरणस्योच्चैः क्षयाद्वोपशमाद्यतः ॥ ८८४ ॥

अर्थ—क्षायोपशमिक ज्ञानको उपयोग कहते हैं। यह उपयोग ज्ञानावरण कर्मके क्षय और उपशमसे होता है।

राग और उपयोग भिन्न २ कारणोंसे होते हैं—

अस्ति स्वहेतुको रागो ज्ञानं चास्ति स्वहेतुकम् ।
दूरे स्वरूपभेदत्वादेकार्थत्वं कुतोऽनयोः ॥ ८८५ ॥

अर्थ—राग अपने कारणसे होता है और ज्ञान अपने कारणसे होता है। राग और ज्ञान दोनोंका स्वरूप भिन्न भिन्न है इसलिये दोनोंका एक अर्थ कैसे होसक्ता है ?

किञ्च ज्ञानं भवदेव भवतीदं न चापरम् ।
रागादयो भवन्तश्च भवन्त्येते न चिद्यथा ॥ ८८६ ॥

अर्थ—जिस समय ज्ञान होता है उस समय ज्ञानही होता है उस समय रागद्वेष नहीं होते और जिस समय रागादिक होते हैं उस समय रागादिक ही होते हैं उस समय ज्ञान नहीं होता। भावार्थ—'जिस समय, से यह आशय नहीं लेना चाहिये कि ज्ञानका समय भिन्न है और रागादिकका भिन्न है। समय दोनोंका एक ही है। ज्ञान और रागादिक दोनों ही एक ही समयमें होते हैं परन्तु ज्ञान अपने स्वरूपसे होता है और रागादिक अपने स्वरूपसे होते हैं। अथवा ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे ज्ञान होता है और चारित्र मोहनीय तथा दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे रागद्वेष मोह होते हैं। ज्ञानावरण कर्मकी अधिकतामें ज्ञानका कम बिकाश होता है और उसकी हानिमें ज्ञानका अधिक विकाश होता है। इसी प्रकार रागद्वेष और मोहकी हीनता और अधिकता उनके कारणोंकी हीनता अधिकतासे होती है।

ज्ञानकी वृद्धिमें रागकी वृद्धि नहीं होती—

अभिज्ञानं च तत्रास्ति वर्धमाने चितिस्फुटम् ।
रागादीनामभिवृद्धि र्नस्याद् व्याप्तेरसंभवात् ॥ ८८७ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनका खुलासा दृष्टान्त इस प्रकार है कि ज्ञानकी वृद्धि होनेपर रागादिककी वृद्धि नहीं होती है। क्योंकि इन दोनोंकी व्याप्ति नहीं है। अर्थात् ज्ञानकी वृद्धिसे रागादिकका कोई सम्बन्ध नहीं है।

रागादिकी वृद्धिमें ज्ञानकी वृद्धि नहीं होती—

वर्धमानेषु चैतेषु वृद्धिर्ज्ञानस्य न क्वचित् ।
अस्ति यद्वा स्वसामग्र्यां सत्यां वृद्धिः समा द्वयोः ॥ ८८८ ॥

अर्थ—रागादिकोंकी वृद्धि होनेपर ज्ञानकी वृद्धि कहीं नहीं भी होती है, अथवा अपनी २ सामिग्रीके मिलनेपर दोनोंकी एक साथ ही वृद्धि होजाती है।

ज्ञानकी वृद्धिमें रागकी हानि भी नहीं होती—

ज्ञानेऽथ वर्धमानेपि हेतोः प्रतिपक्षक्षयात् ।
रागादीनां न हानिः स्याद्धेतोर्मोहोदयात्सतः ॥ ८८९ ॥

अर्थ—अथवा प्रतिपक्ष कर्म (ज्ञानावरण) के क्षय होनेसे ज्ञानकी वृद्धि होनेपर मोहनीय कर्मके उदय रहनेसे रागादिकोंकी हानि भी नहीं होती है। **भावार्थ**—एक ही समय ज्ञानावरण कर्मका क्षय और मोहनीयका उदय हो रहा हो तो ज्ञानकी वृद्धि होती है परन्तु रागकी हानि नहीं होती है।

कारण मिलनेपर दोनोंकी हानि होती है—

यद्वा दैवात्तत्सामग्र्यां सत्यां हानिः समं द्वयोः ।
आत्मीयाऽऽत्मीयहेतोर्या ज्ञेया नान्योन्यहेतुतः ॥ ८९० ॥

अर्थ—अथवा दैववश अपनी २ सामग्रीके मिलनेपर दोनोंकी साथ ही हानि होती है। यह हानि वृद्धिका क्रम अपने २ कारणोंसे होता है। एकका कारण दूसरेकी हानि वृद्धिमें सहायक कभी नहीं हो सक्ता।

उपयोगकी द्रव्य कर्मके साथ भी व्याप्ति नहीं है—

व्याप्तिर्वा नोपयोगस्य द्रव्यमोहेन कर्मणा ।
रागादीनान्तु व्याप्तिः स्यात् संविदावरणैः सह ॥ ८९१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार रागद्वेषादि भावमोहके साथ उपयोगकी व्याप्ति नहीं है उसी-प्रकार द्रव्यमोहके साथ भी उसकी व्याप्ति नहीं है। परन्तु रागादिकोंकी तो ज्ञानावरणके साथ व्याप्ति है।

रागादिकोंकी ज्ञानावरणके साथ विषम व्याप्ति है—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेषा स्याद्विषमैव तु ।
न स्यात् क्रमात्तथाव्याप्तिर्हेतोरन्यतरादपि ॥ ८९२ ॥

अर्थ—रागादिकोंकी ज्ञानावरणके साथ अन्वय व्यतिरेक दोनोंसे विषम ही व्याप्ति है। किसी अन्यतर हेतुसे भी इन दोनोंकी सम व्याप्ति नहीं है।

व्याप्तेरसिद्धिः साध्यात्र साधनं व्यभिचारिता ।
सैकस्मिन्नपि सत्यन्यो न स्यात्स्याद्वा स्वहेतुतः ॥ ८९३ ॥

अर्थ—यहां पर समव्याप्तिकी असिद्धि साध्य है और व्यभिचारीपन हेतु है, अर्थात् यदि रागादिक और ज्ञानावरण कर्म इनकी समव्याप्ति मानी जाय तो व्यभिचाररूप दोष आता है वह इस प्रकार आता है—ज्ञानावरण कर्मके रहनेपर रागादिभाव नहीं भी होता है। यदि होता भी है तो अपने कारणोंसे होता है। **भावार्थ**—" रागाद्यावरणयोः समव्याप्तेरसिद्धिः व्यभिचारित्वात् " इस अनुमान वाक्यसे रागादि और आवरणमें समव्याप्ति नहीं बनती है। व्याप्तिसे यहां पर सम व्याप्तिका ही ग्रहण है।

व्याप्ति किसे कहते हैं—

व्याप्तित्वं साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः ।
सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह यः ॥ ८९४ ॥

अर्थ—साहचर्यके नियमको व्याप्ति कहते हैं, वह इस प्रकार है-जिसके होनेपर जो होता है और जिसके नहीं होनेपर जो नहीं होता है, यह व्याप्तिका नियम परस्परमें होता है ।

मा समा रागसद्भावे नूनं बन्धस्य संभवात् ।
रागादीनामसद्भावे बन्धस्याऽसंभवादपि ॥ ८९५ ॥

अर्थ—यहांपर समव्याप्ति नहीं है, रागके सद्भावमें बन्ध नियमसे होता है और रागादिकोंके अभावमें बन्ध नहीं होता है ।

विषम व्याप्ति—

व्याप्तिः सा विषमा सत्सु संविदावरणादिषु ।
अभावाद्रागभावस्य भावाद्वाऽस्य स्वहेतुतः ॥ ८९६ ॥

अर्थ—विषम व्याप्ति इस प्रकार है—ज्ञानावरणादि कर्मोंके रहने पर रागभावका अभाव पाया जाता है, अथवा रागादिकका सद्भाव भी पाया जाय तो उसके कारणोंसे ही पाया जायगा, ज्ञानावरणादिके निमित्तसे नहीं । **भावार्थ**—समव्याप्ति तो तब होती जब कि ज्ञानावरणादिके सद्भावमें रागादि भावोंका भी अवश्य सद्भाव होता, परन्तु ऐसा नहीं होता है, उपशान्तकषाय, क्षीण कषाय गुणस्थानोंमें ज्ञानावरणादि कर्म तो हैं परन्तु वहां पर रागादिभाव सर्वथा नहीं हैं । ग्यारहवें गुण स्थानसे नीचे भी ज्ञानावरणादि कर्मके सद्भावमें ही रागादिभाव नहीं होते हैं किन्तु अपने कारणोंसे होते हैं । परन्तु रागादिभावोंके सद्भावमें ज्ञानावरणादि कर्मोंका अवश्य ही बन्ध होता है । क्योंकि *आयुको छोड़कर सातों ही कर्मोंका बन्ध संसारी आत्माके प्रतिक्षण हुआ करता है । उस बन्धका कारण आत्माके कषाय भाव ही हैं । जिस प्रकार रागादिके होनेपर ज्ञानावरणादि कर्म होते हैं उस प्रकार ज्ञानावरणादिके होने पर रागभाव भी होते तब तो उभयथा समव्याप्ति बन जाती परन्तु दोनों तरफसे व्याप्ति नहीं है किन्तु एक तरफसे ही है इसलिये यह विषम व्याप्ति है ।

---

* आयुकर्मका बन्ध प्रतिक्षण नहीं होता है किन्तु त्रिभागमें होता है अर्थात् किसी जीवकी आयुमेंसे दो भाग समाप्त हो जाय एक भाग बाकी रह जाय तब दूसरे भवकी आयुका बन्ध होता है। यदि पहले त्रिभागमें परभवकी आयुका बन्ध न हो तो बची हुई आयुके त्रिभागमें होता है इसी प्रकार आठ त्रिभागोंमें आयुके बन्धकी संभावना है, आयुबन्धके आठ ही अपकर्षकाल हैं। यदि आठोंमें न हो तो मरण समयमें तो अवश्य ही परभवकी आयुका बन्ध होता है। आयुके बन्ध सहित आठों कर्मोंका बन्ध होता है।

उपयोगके साथ कर्मोंकी सर्वथा व्याप्ति नहीं है—

अव्याप्तिश्चोपयोगेपि विद्यमानेष्टकर्मणाम्।
बन्धो नान्यतमस्यापि नाबन्धस्तत्राप्यसति ॥ ८९७ ॥

अर्थ—उपयोगके साथ द्रव्यकर्मोंकी व्याप्ति नहीं है। उपयोगके विद्यमान रहने पर भी अष्ट कर्मोंका बन्ध नहीं होता है, अष्ट कर्मोंमेंसे किसी एक कर्मका भी बन्ध नहीं होता है। और उपयोगके नहीं होने पर भी आठों कर्मोंका बन्ध होता है। **भावार्थ**—सिद्धावस्थामें शुद्धोपयोग तो है परन्तु अष्टकर्मोंका वहां बन्ध नहीं है और मिथ्यात्व अवस्थामें शुद्धोपयोगका अभाव है परन्तु अष्ट कर्मोंका बन्ध है। इसलिये उपयोग और कर्मोंकी व्याप्ति नहीं है। इसीका खुलासा नीचे किया जाता है।

यद्वा स्वात्मोपयोगीह क्वचिन्नानुपयोगवान्।
व्यतिरेकावकाशोपि नार्थादत्रास्ति वस्तुतः ॥ ८९८ ॥

अर्थ—अथवा मिथ्यात्व अवस्थामें अष्टकर्मोंका बन्ध रहते हुए भी आत्मा निजात्माका अनुभव नहीं करता है, और कहीं पर 'सिद्धावस्था' में अष्टकर्मोंका अभाव होने पर भी निजात्माका अनुभव करता है। इसलिये यहांपर व्यतिरेकका अवकाश भी नहीं है। **भावार्थ**—मिथ्यात्वावस्थामें अष्टकर्मका बन्ध रहने पर भी शुद्धोपयोग नहीं है इसलिये अन्वय नहीं बना, और सिद्धावस्थामें बन्धाभावमें भी उपयोगका अभाव नहीं हुआ इसलिये व्यतिरेक नहीं बना। अतएव उपयोग और कर्मबन्धकी व्याप्ति नहीं है।

सारांश—

सर्वतश्चोपसंहारः सिद्धश्चैतावतात्र वै।
हेतुः स्यान्नोपयोगोयं दृशो वा बन्धमोक्षयोः ॥ ८९९ ॥

अर्थ—उपर्युक्त सम्पूर्ण कथनका उपसंहार–सारांश यही निकला कि उपयोग सम्यग्दर्शनका कारण नहीं है और न वह बन्ध तथा मोक्षका ही कारण है।

शंकाकार—

ननु चैवं स एवार्थो यः पूर्वं प्रकृतो यथा।
कस्यचिद्वीतरागस्य सद्दृष्टेर्ज्ञानचेतना ॥ ९०० ॥
आत्मनोऽन्यत्र कुत्रापि स्थिते ज्ञाने परात्मसु।
ज्ञानसञ्चेतनायाः स्यात् क्षतिः साधीयसी तदा ॥ ९०१ ॥

अर्थ—शंकाकारका कहना है कि वही अर्थ निकला जो पहले प्रकरणमें आया हुआ था, अर्थात् किसी वीतराग सम्यग्दृष्टिके ही ज्ञानचेतना होती है, क्योंकि ज्ञानोपयोग जब आत्माको छोड़कर अन्य बाह्य पदार्थोंमें चला जायगा तो उस समय ज्ञानचेतनाकी क्षति अवश्य ही होगी।

भावार्थ-यहां पर यह शंका की गई है कि जिस प्रकार सम्यग्दर्शनरूप कारणसे अष्ट कर्मोंकी निर्जरा होती है उसी प्रकार ज्ञान चेतना भी अष्ट कर्मोंकी निर्जरामें कारण है इसी आशय को हृदयमें रखकर दूसरे श्लोकमें यह शंका की गई है कि सम्यक्त्वके रहते हुए भी जब शुद्धात्मासे हटकर उपयोग केवल बाह्य पदार्थोंमें चला जाता है तो उस समय उपयोगात्मक ज्ञान चेतनाकी तो क्षति हो ही जाती है, साथमें ज्ञानचेतनाकी क्षति हो जानेसे निर्जरादिकी भी क्षति हो जानी चाहिये ?

उत्तर—

सत्यं चापि क्षतेरस्याः क्षतिः साध्यस्य न क्वचित् ।
इयानात्मोपयोगस्य तस्यास्तत्राप्यहेतुता ॥ ९०२ ॥*
साध्यं यद्दर्शनाङ्गेतोर्निर्जरा चाष्टकर्मणाम् ।
स्वतो हेतुवशात्तच्चेर्न तद्धेतुः स्वचेतना ॥ ९०३ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ठीक है, उपयोगात्मक ज्ञानचेतनाकी क्षति होनेपर भी सम्यक्त्व हेतुका साध्यभूत अष्ट कर्मोंकी निर्जराकी क्षति नहीं होती है। क्योंकि ज्ञानचेतनाका कर्म निर्जरामें कारण न होना ही उपयोग 'शुद्धोपयोग' का स्वरूप है। यहां पर साध्य—अष्ट कर्मोंकी निर्जरा है, और उसका कारणरूप हेतु सम्यग्दर्शन है, वह साध्य आत्मामें शक्ति होनेसे स्वतः भी होता है और ध्यानादि प्रयत्नसे भी होता है, किन्तु उसमें ज्ञानचेतना कारण नहीं है। भावार्थ-पहले भी यह बात कही गई है कि उपयोग गुण दोषोंमें कारण नहीं है, और यहां पर भी उसी बातका विवेचन किया गया है कि अष्ट कर्मोंकी निर्जरा सम्यक्त्वरूप कारणात्मक हेतुसे होती है और ध्यानादि कारणोंसे भी होती है परन्तु ज्ञानचेतनारूप उपयोग उसमें कारण नहीं है, उपयोगका कार्य केवल निजात्मा और परपदार्थोंका जानना मात्र है। इसलिये जब ज्ञानचेतना निर्जरामें कारण ही नहीं है तब शंकाकारका यह कहना कि "उपयोगको बाह्य पदार्थमें जानेसे ज्ञानचेतनाकी क्षतिके साथ ही अष्ट कर्मोंकी निर्जराकी भी क्षति होगी" सर्वथा निर्मूल है। क्योंकि निर्जरा ज्ञानचेतनाका साध्य ही नहीं है।

शंकाकार—

ननुचेदाश्रयासिद्धो विकल्पो व्योमपुष्पवत् ।
तत्किं हेतुः प्रसिद्धोस्ति सिद्धः सर्वविदागमात् ॥ ९०४ ॥

अर्थ—यहांपर स्वतन्त्र शंका यह है कि आपने (आचार्यने) जो मत्यादिक ज्ञानोंको संक्रमणात्मक व विकल्पात्मक बतलाया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्प कोई पदार्थ ही

* तत्राप्यहेतुतः, यह पाठ मूल पुस्तकमें है। संशोधितमें अहेतुता पाठ है।

नहीं है जिस प्रकार कि आकाशके पुष्प कोई पदार्थ नहीं है। इसलिये विकल्प शब्दका कोई वाच्य न होनेसे उसे आश्रयासिद्ध× ही कहना चाहिये, और जब विकल्प कोई पदार्थ नहीं है तब ज्ञानको सविकल्प कहनेमें सर्वज्ञागम प्रसिद्ध क्या हेतु हो सकता है, अर्थात् कुछ हेतु नहीं होसकता।

उत्तर—

सत्यं विकल्पसर्वस्वसारं ज्ञानं स्वलक्षणात्।
सम्यक्त्वे यद्विकल्पत्वं न तत्सिद्धं परीक्षणात् ॥ ९०५ ॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि ज्ञान अपने लक्षणसे विकल्पात्मक कहा जाता है, तथा सम्यक्त्वमें जो विकल्पका व्यवहार होता है वह परीक्षासे सिद्ध नहीं होता। **भावार्थ**—ज्ञानमें तथा सम्यक्त्वमें जो विकल्पका व्यवहार होता है वह व्योम पुष्पवत् नहीं है किंतु उपचरित है इसी बातको नीचे दिखाते हैं—

युत्पुनः कैश्चिदुक्तं स्यात् स्थूललक्ष्योन्मुखैरिह।
अत्रोपचारहेतुर्यस्तं ब्रुवे किल साम्प्रतम् ॥ ९०६ ॥

अर्थ—जिन लोगोंने स्थूल दृष्टि रख कर सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनको सविकल्प बतलाया है उन्होंने उपचारसे ही बतलाया है। वास्तवमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सविकल्प नहीं हैं। उपचारका भी क्या कारण है ? उसे ही अब बतलाते हैं।—

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ॥ ९०७ ॥

अर्थ—क्षायोपशमिक ज्ञान जो हर एक पदार्थको क्रम क्रमसे जानता है वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है किंतु राग क्रिया है, और यही राग उपचारका हेतु है।

राग क्रिया क्यों है उसे ही बतलाते हैं—

प्रत्यर्थं परिणामित्वमर्थानामेतदस्ति यत्।
अर्थमर्थं परिज्ञानं मुह्यद्रज्यद्द्विष्यथा ॥ ९०८ ॥

अर्थ—पदार्थोंमें प्रत्येक पदार्थका परिणमन होता है, उस परिणमनमें ज्ञान हरएक पदार्थके प्रति मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है। **भावार्थ**—पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि होनेसे किसीमें मोह रूप परिणाम होते हैं, किसीमें रागरूप परिणाम होते हैं और किसीमें द्वेषरूप परिणाम होते हैं।

×वाच्य वाचक सम्बंधकी अपेक्षासे शब्दका वाच्य ही उसका आश्रय होसकता है विकल्प शब्दका कोई वाच्य ही नहीं है अतएव आश्रयासिद्ध दोष आता है।

रागसहित ज्ञान शान्त नहीं हैं—

स्वसंवेदनप्रत्यक्षादस्ति सिद्धमिदं यतः ।
रागाक्तं ज्ञानमक्षान्तं रागिणो न तथा मुनेः ॥ ९०९ ॥

अर्थ—यह बात स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध है कि राग सहित ज्ञान शान्त नहीं है । ऐसा शान्ति रहित ज्ञान जैसा रागी पुरुषके होता है वैसा मुनिके नहीं होता । **भावार्थ**—जो ज्ञान शांति रहित होगा वह राग सहित अवश्य होगा इसलिये वह रागी पुरुषके ही हो सकता है रागरहित मुनिके नहीं ।

अस्तिज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः ।
अज्ञातेर्थे यतो न स्याद् रागभावः खपुष्पवत् ॥ ९१० ॥

अर्थ—बुद्धिपूर्वक राग ज्ञानका अविनाभावी है । क्योंकि अज्ञात (नहीं जाने हुए) पदार्थमें राग भाव उत्पन्न ही नहीं होता है । जिस प्रकार आकाशका पुष्प कोई पदार्थ नहीं है तो उसमें बुद्धिपूर्वक राग भी नहीं हो सक्ता है । **भावार्थ**—राग दो प्रकारका होता है एक बुद्धिपूर्वक, दूसरा अबुद्धिपूर्वक। बुद्धिपूर्वक रागका क्षायोपशमिक ज्ञानके साथ अविनाभाव है । जिसके बुद्धिपूर्वक राग होता है उसीके कर्म चेतना होती है परन्तु ऐसा नियम नहीं है क्योंकि बुद्धिपूर्वक राग चौथे गुणस्थानमें भी है तथा ऊपर भी है परन्तु वहां कर्म चेतना नहीं है किन्तु ज्ञान चेतना है । इतना विशेष है कि बुद्धिपूर्वक राग कर्म बन्धका ही कारण है । जिस जीवके सम्यक्त्व नहीं है बुद्धिपूर्वक राग है उसके कर्मचेतना होती है । यह कर्म चेतना ही महान् दुःखका कारण है । नरकादि गतियोंका बन्ध कर्मचेतनासे ही होता है । अबुद्धिपूर्वक राग कर्मोदयवश अज्ञात पदार्थमें ही होता है । जिन जीवोंके अबुद्धि पूर्वक राग है उन्हींके कर्मफल चेतना होती है । असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक कर्मफल चेतना ही होती है ।

बुद्धिपूर्वक राग कहां तक होता है ।

अस्त्युक्तलक्षणो रागश्चारित्रावरणोदयात् ।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ ॥ ९११ ॥

अर्थ—ऊपर कहा हुआ बुद्धिपूर्वक राग चारित्रमोहनीयके उदयसे होता है यह राग अप्रमत्त गुण स्थानसे पहले २ होता है । छठे गुणस्थानसे ऊपर सर्वथा नहीं होता है । **भावार्थ**—छठे गुणस्थानमें संज्वलन कषायका तीव्रोदय है इसीलिये प्रमादरूप परिणामोंके कारण वहां बुद्धिपूर्वक राग होता है । अप्रमत्त गुणस्थानमें संज्वलनका मन्दोदय है । वहांपर प्रमादरूप परिणाम सर्वथा ही नहीं होते हैं । केवल ध्यानावस्था है । जितनी मुनियोंकी कर्तव्य क्रिया है वह सब प्रमत्त गुणस्थान तक ही है । हां, स्वाध्याय, भोजन आदि क्रियाओंमें भी बीच २में सातवां गुणस्थान हो जाता है । क्योंकि छठा और सातवाँ दोनोंका ही अन्तर्मुहूर्त्त काल है । इसलिये दोनों ही अन्तर्मुहूर्त्तमें बदलजाते हैं ।

अबुद्धिपूर्वक राग कहां तक होता है।

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वकः।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्नवा ॥ ९१२ ॥

अर्थ—प्रमत्त गुणस्थानसे ऊपर सूक्ष्म—अबुद्धि पूर्वक राग है। यह राग क्षीणकषायसे पहले २ होता है। सो भी विवक्षाधीन है। यदि विवक्षा की जाय तो अबुद्धिपूर्वक-सूक्ष्म राग है अन्यथा नहीं है। **भावार्थ**—दशवें गुणस्थानमें सूक्ष्म लोभका उदय रहता है। उससे पहले नवमें गुणस्थानमें बादर कषायका उदय है। परन्तु वह भी सूक्ष्म ही है। दशवें गुणस्थान तक सूक्ष्म रागभाव रहता है इसलिये तो वहां तक अबुद्धि पूर्वक रागभावकी विवक्षा की जाती है। परन्तु सातिशय—अप्रमत्त गुणस्थानसे उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी माड़ना शुरू होजाता है। इसलिये आठवें गुणस्थानसे लेकर दशवें तक कोई मुनि उपशमश्रेणी माड़ते हैं और कोई क्षपकश्रेणी माड़ते हैं। जो उपशमश्रेणी माड़ते हैं उनके औपशमिक भाव हैं और जो क्षपकश्रेणी माड़ते हैं उनके क्षायिक भाव हैं। स्थूल दृष्टिसे आठवें नवमें और दशवें इन तीन गुणस्थानोंमें औपशमिक अथवा क्षायिक दो प्रकारके ही भाव हैं परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करने पर वहां पर क्षायोपशमिक भाव भी है। क्योंकि चरित्र मोहनीयका वहां मन्दोदय भी तो होरहा है। उस मंदोदयकी विवक्षा करनेसे ही वहां क्षायोपशमिक भाव हैं अन्यथा नहीं हैं। यही विवक्षा वशात्का आशय है।

उपचार किस नयसे किया जाता है—

विमृश्यैतत्परं कैश्चिदसद्भूतोपचारतः।
रागवज्ज्ञानमत्रास्ति सम्यक्त्वं तद्वदीरितम् ॥ ९१३ ॥

अर्थ—इसी बातको विचार कर किन्हीं पुरुषोंने असद्भूत उपचार नयसे राग सहित ज्ञानको देखकर सम्यक्त्वको भी वैसा कहा है। **भावार्थ**—जो मिले हुए भिन्न पदार्थोंको अभेदरूप ग्रहण करै उसे असद्भूत व्यवहारनय कहते हैं जैसे आत्मा और शरीरका मेल होने पर कोई कहै यह शरीर मेरा है। इसी प्रकार राग भिन्न पदार्थ है परन्तु अभेद बुद्धिके कारण ज्ञान और दर्शनको भी किन्हींने सरागी (सविकल्प) कह दिया है वास्तवमें राग दूसरा पदार्थ हैं; ज्ञानदर्शन दूसरे पदार्थ हैं; रागका ज्ञान दर्शनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिये इनमें सरागता केवल औपचारिक है।

ज्ञान, दर्शन कहां तक सविकल्प कहे जाते हैं—

हेतोः परं प्रसिद्धैर्यैः स्थूललक्ष्यैरितिस्मृतम्।
***आप्रमत्तं च सम्यक्त्वं ज्ञानं वा सविकल्पकम् ॥ ९१४ ॥**

---

* मूल पुस्तकमें "अप्रमत्तं" ऐसा पाठ है परन्तु 'आप्रमत्तं' पाठ ठीक प्रतीत होता है क्योंकि पहले छठे गुणस्थान तक ही बुद्धिपूर्वक राग बतलाया गया है।

अर्थ—स्थूल पदार्थको लक्ष्य रखनेवाले जिन प्रसिद्ध पुरुषोंने केवल रागरूप हेतुसे ऐसा कहा है । उनका कहना है कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही सविकल्पक हैं ।

ततस्तूर्ध्वं तु सम्यक्त्वं ज्ञानं वा निर्विकल्पकम् ।
शुक्लध्यानं तदेवास्ति तत्रास्ति ज्ञानचेतना ॥ ९१५ ॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थानसे ऊपर सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही निर्विकल्पक होते हैं । वही शुक्लध्यान कहलाता है, और उसी अवस्थामें ज्ञानचेतना होती है ।

प्रमत्तानां विकल्पत्वान्न स्यात्सा शुद्धचेतना ।
अस्तीति वासनोन्मेष केषाञ्चित्स न सन्निह ॥ ९१६ ॥

अर्थ—" प्रमत्त जीवोंको विकल्पात्मक होनेसे उनके शुद्ध चेतना नहीं हो सक्ती है ।" किन्हीं किन्हीं पुरुषोंके इस प्रकारकी वासना लगी हुई है, वह ठीक नहीं है । भावार्थ—जो लोग ऐसा कहते हैं कि प्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त बुद्धिपूर्वक राग होता है । इसलिये वहां तक ज्ञान और सम्यक्त्व दोनों ही सविकल्प हैं । सविकल्प अवस्थामें ज्ञानचेतना भी नहीं होती है अर्थात् छठे गुणस्थानसे ऊपर ही ज्ञानचेतना होती है नीचे नहीं । आचार्य कहते हैं कि ऐसा कहनेवाले यथार्थ वस्तुके विचारक नहीं है, क्यों नहीं है सो नीचे बतलाते हैं ।

यतः पराश्रितो दोषो गुणो वा नाश्रयेत्परम् ।
परो वा नाश्रयेद्दोषं गुणाश्चापि पराश्रितम् ॥ ९१७ ॥

अर्थ—क्योंकि दूसरेके आश्रयसे होनेवाला गुण दोष दूसरेके आश्रय नहीं हो सक्ता है । इसी प्रकार दूसरा भी दूसरेके आश्रयसे होनेवाले गुण दोषोंको अपने आश्रित नहीं बना सक्ता है । भावार्थ—जिस आश्रयसे जो दोष अथवा गुण होता है वह दोष अथवा गुण उसी आश्रयसे होसक्ता है अन्य किसी दूसरे आश्रयसे नहीं होसक्ता ऐसा सिद्धान्त स्थिर रहने पर भी जो पराश्रित गुणदोषोंको अन्याश्रित बतलाते हैं वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं ।

राग किस कारणसे होता है ?

पाकाच्चारित्रमोहस्य रागोस्त्यौदयिकः स्फुटम् ।
सम्यक्त्वे स कुतोन्यायाज्ज्ञाने वाऽनुदयात्मके ॥ ९१८ ॥

अर्थ—चारित्रमोहनीय कर्मका पाक होनेसे राग होता है, राग आत्माका औदयिक भाव है, अर्थात् कर्मोके उदयसे होनेवाला है । वह औदयिक भाव अनुदय स्वरूप सम्यक्त्व और ज्ञानमें किस प्रकार हो सक्ता है ? अर्थात् नहीं हो सक्ता । भावार्थ—राग आत्माका

निज परिणाम नहीं है किन्तु कर्मोंके उदयसे होनेवाली वैभाविक अवस्था है। सम्यक्त्व और ज्ञान दोनों ही आत्माके स्वाभाविक गुण हैं। इसलिये उनमें राग भाव हो ही नहीं सक्ता है।

ज्ञानचेतनाको भी राग नष्ट नहीं कर सक्ता है—

अनिघ्नन्निह सम्यक्त्वं रागोऽयं बुद्धिपूर्वकः।
नूनं हन्तुं क्षमो न स्याज्ज्ञानसंचेतनामिमाम् ॥ ९१९ ॥

अर्थ—बुद्धिपूर्वक राग सम्यक्त्वका घात नहीं कर सक्ता है। इसलिये वह सम्यक्त्वके साथ अविनाभावी ज्ञानचेतना (लब्धिरूप)का भी घात नियमसे नहीं कर सक्ता है। **भावार्थ**—राग भाव आत्माके चारित्रगुणका ही विघात करेगा। वह न तो सम्यक्त्वका ही विघात कर सक्ता है और न सम्यक्त्वके साथ अविनाभावपूर्वक रहनेवाली ज्ञानचेतनाका ही विघात कर सक्ता है। इन दोनोंसे रागका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, इसलिये चौथे गुणस्थानमें भी ज्ञानचेतना होती ही है उसका कोई बाधक नहीं हैं। जो लोग वीतराग सम्यक्त्वमें ही ज्ञानचेतना कहते थे उनका सयुक्तिक खण्डन होचुका।

ऐसी भी तर्कणा न करो—

नाप्यूहमिति शक्तिः स्याद्रागस्यैतावतोपि या।
बन्धोत्कर्षोदयांशानां हेतुर्दृग्मोहकर्मणः ॥ ९२० ॥

अर्थ—रागकी ऐसी भी शक्ति है जो दर्शन मोहनीय कर्मके बन्ध, उत्कर्ष और उदयमें कारण है ऐसी भी तर्कणा न करो।

ऐसा माननेमें दोष—

एवं चेत् सम्यगुत्पत्तिर्न स्यात्स्यात् दृगसंभवः।
सत्यां प्रध्वंससामग्र्यां कार्यध्वंसस्य सम्भवात् ॥ ९२१ ॥

अर्थ—यदि राग भाव ही दर्शन मोहनीयके बन्ध उत्कर्ष और उदयमें कारण हों तो सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति ही नहीं होसकती है। फिर तो सम्यग्दर्शनका होना ही असंभव हो जायगा। क्योंकि नाशकी सामग्री रहने पर कार्यका नाश होना अवश्यंभावी है। **भावार्थ**—पहले तो शंकाकारने सराग अवस्थामें ज्ञानचेतनका निषेध किया था, परन्तु उसका उसे उत्तर दे दिया गया कि रागका और ज्ञानचेतनाका कोई सम्बन्ध नहीं है पराश्रित दोष गुण अन्य श्रित नहीं होसकते हैं। रागभाव चारित्र गुणका ही विघातक है। वह सम्यग्दर्शन और ज्ञानका विघातक नहीं होसकता है। फिर शंकाकारने दूसरी शंका उठाई है कि यद्यपि रागभाव सम्यग्दर्शनका विघातक नहीं है, सम्यग्दर्शनका विघातक तो दर्शन मोहनीय कर्म है। तथापि रागभाव उस दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करानेमें तथा उसके परमाणुओंको उदयमें लानेमें समर्थ है।

आचार्य कहते हैं कि यदि रागभाव ही दर्शन मोहनीयका बन्ध तथा उदय करानेमें समर्थ है तो आत्मामें सम्यक्त्वकी कभी उत्पत्ति ही नहीं होसकती है ।

रागभावसे सम्यक्त्वकी हानि नहीं होसकती है—

न स्यात्सम्क्त्वप्रध्वंसश्चारित्रावरणोदयात् ।
रागेणैतावता तत्र दृङ्मोहेऽनधिकारिणा ॥ ९२२ ॥

अर्थ—चारित्रावरण कर्मके उदयसे (रागभावसे) सम्यक्त्वका विघात नहीं हो सकता है । क्योंकि रागभावका दर्शनमोहनीय कर्मके विषयमें कोई अधिकार नहीं है ।

सिद्धान्त कथन—

यतश्चास्त्यागमात् सिद्धमेतद्दृङ्मोहकर्मणः ।
नियतं स्वोदयाद्बन्धप्रभृति न परोदयात् ॥ ९२३ ॥

अर्थ—क्योंकि यह बात आगमसे सिद्ध है कि दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध उत्कर्ष आदि दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे ही नियमसे होता है । किसी अन्य (चारित्र मोहनीय)के उदयसे दर्शनमोहनीयका बन्ध, उत्कर्ष, उदय कुछ नहीं होता । **भावार्थ**—जिस कार्यका जो कारण नियत है उसी कारणसे वह कार्य सिद्ध होता है, यदि कार्यकारण पद्धतिको उठा दिया जाय तो किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है । इसके सिवा संकर, आदि अनेक दूषण भी आते हैं । क्योंकि कारण भेदसे ही कार्य भेद होता है। अन्यथा किसी पदार्थकी ठीक २ व्यवस्था नहीं हो सकती है । सिद्धान्तकारोंने पहले गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयका उदय कहा है वहीं पर उसका स्वोदयमें बन्ध भी होता है । यदि दर्शनमोहनीयका बन्ध अथवा उदय आदि किसी दूसरे कर्मके उदयसे भी होने लगे तब तो सदा पहला ही गुणस्थान रहेगा। अथवा गुणस्थानोंकी शृङ्खला ही टूट जायगी। गुणस्थानोंकी अव्यवस्था होने पर संसार मोक्ष अथवा शुद्ध अशुद्ध भावोंकी व्यवस्था भी नहीं रह सकती है, इसलिये दर्शनमोहनीयके उदय होने पर ही उसका बन्ध उत्कर्ष आदि मानना न्यायसंगत है।

शंकाकार ।

ननु चैवमनित्यत्वं सम्यक्त्वाद्यद्वयस्य यत् ।
स्वतः स्वस्योदयाभावे तत्कथं स्यादहेतुतः ॥ ९२४ ॥
न प्रतीमो वयं चैतद्दृङ्मोहोपशमः स्वयम् ।
हेतुः स्यात् स्वोदयस्योच्चैरुत्कर्षस्याऽथवा मनाक् ॥ ९२५ ॥

अर्थ—शंकाकारका कहना है कि यदि अपने उदयमें ही अपना बन्ध उत्कर्ष हो अथवा परोदयमें परका उदय न हो तो आदिके दो सम्यक्त्वोंमें अनित्यता कैसे आ सक्ती है? क्योंकि विना कारण अपना उदय अपने आप तो हो नहीं सकेगा, और विना दर्शनमोह-

नीयके उदय हुए आदिके दो सम्यक्त्वोंमें अनित्यता आ नहीं सक्ती है तथा हम (शंकाकार) यह भी विश्वास नहीं कर सक्ते हैं कि स्वयं दर्शन मोहनीयका उपशम ही दर्शनमोहनीयके उदय अथवा उत्कर्षका कारण हो जाता हो। भावार्थ—उपशमसम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्व दोनों ही अनित्य हैं अर्थात् दोनों ही छूटकर मिथ्यात्व रूपमें आसक्ते हैं। क्षायिक सम्यक्त्व ही एक ऐसा है जो होनेपर फिर छूट नहीं सक्ता है। शंकाकार पहले दो सम्यक्त्वोंके विषयमें ही पूंछता है कि दर्शनमोहनीयका जिस समय उपशम अथवा क्षयोपशम हो रहा है उस समय किस कारणसे दर्शनमोहनीय कर्मका उदय हो जाता है जो कि सम्यक्त्वके नाशका हेतु है। स्वयं दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम तो उसके उदयमें कारण हो नहीं सक्ता है। यदि ऐसा हो तो आत्माके स्वाभाविक भाव ही कर्मबन्धके कारण होने लगेंगे। और विना कारण दर्शनमोहनीयका उदय हो नहीं सक्ता है इस लिये अगत्या परोदय (राग)से उसका उदय और बन्ध मानना पड़ता है, शंकाकारने घुमाव देकर फिर भी वही "सराग अवस्थामें ज्ञानचेतना नहीं हो सकती है" शंका उठाई है।

उत्तर—

नैवं यतोऽनभिज्ञोसि पुद्गलाचिन्त्यशक्तिषु।
प्रतिकर्म प्रकृत्याद्यैर्नानारूपासु वस्तुतः॥ १२६॥

अर्थ—आचार्य कहते हैं कि शंकाकारने जो ऊपर शंका उठाई है वह सर्वथा निर्मूल है। आचार्य शंकाकारसे सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि अभी तुम पुद्गलकी अचिन्त्य शक्तियोंके विषयमें बिलकुल अजान हो, तुम नहीं समझते हो कि हर एक कर्ममें प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग आदि अनेक रूपसे फलदान शक्ति भरी हुई है।

अस्त्युदयो यथानादेः स्वतश्चोपशमस्तथा।
उदयः प्रशमो भूयः स्यादर्वागपुनर्भवात्॥ १२७॥

अर्थ—जिस प्रकार अनादि कालसे कर्मोंका उदय होरहा है उसी प्रकार कर्मोंका उपशम भी स्वयं होता है। इसी प्रकार उपशमके पीछे उदय और उदयके पीछे उपशम बार २ होते रहते हैं। यह उदय और उपशमकी शृङ्खला जब तक मोक्ष नहीं होती है बराबर होती रहती है।

यदि ऐसा न माना जाय तो दोष—

अथ गत्यन्तरादोषः स्यादसिद्धत्वसंज्ञकः।
दोषः स्यादनवस्थात्मा दुर्वारोन्योन्यसंश्रयः॥ १२८॥

अर्थ—यदि ऊपर कही हुई व्यवस्था न मानी जाय और दूसरी ही रीति स्वीकार

सम्यग्दर्शनके साथ और भी सद्गुण होते हैं—

एवमित्यादयश्चान्ये सन्ति ये सद्गुणोपमाः ।
सम्यक्त्वमात्रमारभ्य ततोप्यूर्ध्वं च तद्वतः ॥ ९४० ॥
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्ञानं स्वानुभवाह्वयम् ।
वैराग्यं भेदविज्ञानमित्याद्यस्तीह किं बहु ॥ ९४१ ॥

अर्थ—इसी प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ तथा उसके आगे और भी सद्गुण प्रकट होते हैं । वे सब सम्यग्दर्शन सहित हैं इसीलिये सद्गुण हैं । उनमेंसे कुछ ये हैं—स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वानुभव ज्ञान, वैराग्य, और भेद विज्ञान । इत्यादि सभी गुण सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होते हैं इससे अधिक क्या कहा जाय । **भावार्थ**—सम्यग्दर्शनके होनेपर ही भेद विज्ञानादि उत्तम गुणोंकी प्राप्ति होती है । अन्यथा नहीं होती । दूसरा यह भी आशय है कि जो गुण सम्यग्दर्शनके साथमें होते हैं वेही सद्गुण हैं । विना सम्यग्दर्शनके होनेवाले गुणोंको सद्गुणोंकी उपमा भले ही दी जाय, परन्तु वास्तवमें वे सद्गुण नहीं हैं । चौथे गुणस्थानसे पहले पहले भेदविज्ञानादि (सद्गुण) होते भी नहीं हैं ।

चेतना तीन प्रकार है—

अद्वैतेपि त्रिधा प्रोक्ता चेतना चैवमागमात् ।
ययोपलक्षितो जीवः सार्थनामास्ति नान्यथा ॥ ९४२ ॥

अर्थ—यद्यपि चेतना एक है तथापि आगमके अनुसार उस चेतनाके तीन भेद हैं उस चेतनासे विशिष्ट जीव ही यथार्थ नाम धारी कहलाता है । अन्यथा नहीं । **भावार्थ**—यद्यपि चेतना एक है तौ भी कर्मके निमित्तसे उसके कर्म चेतना, कर्म फल चेतना और ज्ञान चेतना ऐसे तीन भेद हैं उनमें आदिकी दो चेतनायें मिथ्यात्वके साथ होनेवाली हैं, और तीसरी ज्ञान चेतना सम्यग्दर्शनके साथ होने वाली है । इन तीनों चेतनाओंका खुलासा वर्णन पहले आ चुका है ।

आशङ्का—

ननु चिन्मात्र एवास्ति जीवः सर्वोपि सर्वथा ।
किं तदाद्या गुणाश्चान्ये सन्ति तत्रापि केचन ॥ ९४३ ॥

अर्थ—क्या सम्पूर्ण जीव सर्वथा चैतन्यमात्र ही है अथवा चैतन्यके साथ उसके और भी गुण होते हैं ? उत्तर—हां होते हैं उनमेंसे कुछ गुण नीचे बतलाये जाते हैं ।

सभी पदार्थ अनन्त गुणात्मक हैं—

उच्यतेनन्तधर्माधिरूढोप्येकः सचेतनः ।
अर्थजातं यतो यावत्स्यादनन्तगुणात्मकम् ॥ ९४४ ॥

अर्थ—यह जीव यद्यपि अनन्तगुणोंका धारी है तथापि एक कहा जाता है। जितना भी पदार्थ समूह है सभी अनन्तगुणात्मक है। **भावार्थ**-जितने भी पदार्थ हैं सभी अनन्त गुणात्मक हैं। अनन्तगुणात्मक होनेपर भी वे एक एक कहे जाते हैं, एक कहे जानेका कारण भी एक सत्ता गुण है। भिन्न २ सत्ता गुणसे ही पदार्थोंमें भेद होता है। जीव द्रव्य भी अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड है। भिन्न भिन्न सत्ता रखनेवाले भिन्न भिन्न अनन्तगुणधारी जीव द्रव्य अनन्त हैं। प्रत्येक द्रव्यमें गुणोंकी भेदविवक्षासे भेद होता है और अभेद विवक्षामें अभेद समझा जाता है। वास्तवमें गुण समूह ही द्रव्य है। और वे सभी गुण परस्पर अभिन्न हैं। इसी लिये द्रव्य और गुणोंका तादात्म्य सम्बन्ध है। परन्तु नैयायिक दार्शनिक गुण गुणीमें सर्वथा भेद मानते हैं और उन दोनोंका समवाय सम्बन्ध बतलाते हैं, नैयायिक लोगोंका यह सिद्धान्त न्यायकी दृष्टिसे सर्वथा बाधित है क्योंकि वे ही स्वयं ज्ञान और जीवका समवाय कहते हैं और समवाय सम्बन्ध उनके मतसे ही नित्य होता है फिर उन्हींके मतानुसार मुक्तात्माका ज्ञान गुण नष्ट हो जाता है। इसलिये उनका सिद्धान्त उनके मतसे ही बाधित हो जाता है। इसी आशयको हृदयमें रखकर ग्रन्थकार परीक्षकोंको सूचना देते हैं—

अभिज्ञानं च तत्रापि ज्ञातव्यं तत्परीक्षकैः।
वक्ष्यमाणमपि साध्यं युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ ९४५ ॥

अर्थ—जीव अनन्तगुणात्मक है इस विषयका विशेष परिज्ञान परीक्षकोंको करना चाहिये, यद्यपि जो हम सिद्ध करना चाहते हैं उसे आगे युक्ति, स्वानुभव और आगम प्रमाणसे कहेंगे तथापि परीक्षकोंको निर्णय कर लेना ही उचित है।

जीवके विशेष गुण—

तद्यथायथं जीवस्य चारित्रं दर्शनं सुखम्।
ज्ञानं सम्यक्त्वमित्येते स्युर्विशेषगुणाः स्फुटम् ॥ ९४६ ॥

अर्थ—चारित्र, दर्शन, सुख, ज्ञान, और सम्यक्त्व ये जीवके विशेष गुण हैं।

जीवके समान्य गुण—

वीर्यं सूक्ष्मोवगाहः स्यादव्याबाधश्चिदात्मकः।
स्यादगुरुलघुसंज्ञं च स्युः सामान्यगुणा इमे ॥ ९४७ ॥

अर्थ—वीर्य, सूक्ष्म, अवगाह, अव्याबाध और अगुरुलघु ये जीवके सामान्य गुण हैं। **भावार्थ**-हर एक पदार्थमें सामान्य और विशेष गुण रहते हैं। जो गुण समान रीतिसे सभी पदार्थोंमें रहते हैं उन्हें सामान्य गुण कहते हैं जैसे अस्तित्व, वस्तुत्व, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व आदि। ये गुण सभी पदार्थोंमें समान हैं तथापि जुदे २ हैं। जो गुण असाधारण

हों अर्थात भिन्न २ पदार्थोंके जुदे २ हों, उन्हें विशेष गुण कहते हैं। विशेष गुण ही वस्तुओंमें परस्पर भेद करानेवाले हैं। जैसे जीवमें विशेषगुण ज्ञान, दर्शन, सुख आदि हैं। पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण आदि हैं। इन्हीं सामान्य और विशेष गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं।

सभी गुण स्वाभाविक हैं—

सामान्या वा विशेषा वा गुणाः सिद्धाः निसर्गतः।
टंकोत्कीर्णा इवाजस्रं तिष्ठन्तः प्राकृताःस्वतः ॥ ९४८ ॥

अर्थ—जीवके सामान्यगुण अथवा विशेषगुण स्वभाव सिद्ध हैं। सभी गुण टांकीसे उकेरे हुए पत्थरके समान निरन्तर रहते हैं और स्वयं सिद्ध अनादिनिधन हैं।

तथापि प्रोच्यते किञ्चिच्छ्रूयतामवधानतः।
न्यायबलात्समायातः प्रवाहः केन वार्यते ॥ ९४९ ॥

अर्थ—तथापि उन गुणोंके विषयमें थोड़ासा विवेचन किया जाता है उसे सावधानीसे सुनना चाहिये। गुणोंका प्रवाह न्याय (युक्ति)के बलसे चला आरहा है उसे कौन रोक सकता है? **भावार्थ**–द्रव्यकी सहभावी पर्यायको गुण कहते हैं द्रव्यकी अनादि कालसे होनेवाली अनन्त कालतक सभी पर्यायोंमें गुण जाते हैं। गुणोंका नाश कभी नहीं हो सकता है, इसी लिये कहा गया है कि गुणोंका प्रवाह न्याय प्राप्त है उसे कौन रोक सकता है।

वैभाविकी शक्ति—

अस्ति वैभाविकी शक्तिः स्वतस्तेषु गुणेषु च।
जन्तोः संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुतः ॥ ९५० ॥

अर्थ—उन्हीं जीवके अनन्त गुणोंमें एक स्वतः सिद्ध वैभाविक नामा शक्ति है। वह शक्ति संसार अवस्थामें अपने कारणसे विकृत (विकारी) हो रही है। **भावार्थ**–वैभाविक भी एक आत्माका गुण है। उस गुणकी दो अवस्थायें होती हैं। आत्माकी शुद्ध अवस्थामें उसकी स्वभाविक अवस्था और आत्माकी अशुद्ध अवस्थामें उसकी वैभाविक अवस्था। अशुद्धताका कारण–राग द्वेषभाव हैं, उन्हीं भावोंके निमित्तसे उस वैभाविक शक्तिका विभावरूप परिणमन होता है। तथा रागद्वेषके अभावमें उसका स्वभाव परिणमन होता है। आत्माकी संसारावस्थामें उसका विभावरूप परिणमन होता है और मुक्तावस्थामें स्वभाव परिणमन होता है। इसलिये स्वाभाविक और वैभाविक ऐसी दो अवस्थायें उसी एक वैभाविक नामा गुण की हैं। कोई स्वाभाविक गुण पृथक् नहीं है।

दृष्टान्त—

यथा वा स्वच्छताऽऽदर्शे प्राकृतास्ति निसर्गतः।
तथाप्यस्यास्यसंयोगाद्वैकृतास्त्यर्थतोपि सा ॥ ९५१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्पणमें स्वभावसे ही स्वच्छता (निर्मलता) सिद्ध है। तथापि सम्बन्ध होनेसे उसकी विकार अवस्था होजाती है। और वह विकार वास्तविक है। भावार्थ—मुखका प्रतिबिम्ब पड़नेसे दर्पणका स्वरूप मुखमय होजाता है। वह उसकी विकारावस्था है और वह केवल कल्पना मात्र नहीं है किन्तु वास्तवमें कुछ वस्तु है। क्योंकि छाया पुद्गलकी पर्याय है। दर्पणकी मुखमय पर्याय सामने ठहरे हुए मुखके निमित्तसे होती है। उसी प्रकार जीवके रागद्वेष परिणामोंसे उस वैभाविक गुणकी विकारावस्था होरही है। ऐसी अवस्था इसकी अनादिकालसे है।

विकारावस्थामें पदार्थ सर्वथा अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता है—

वैकृतत्वेपि भावस्य न स्यादर्थान्तरं क्वचित्।
प्रकृतौ यद्विकारित्वं वैकृतं हि तदुच्यते ॥ ९५२ ॥

अर्थ—विकृत अवस्था होनेपर भी पदार्थ कहीं बदल नहीं जाता है। प्रकृतिमें जो विकृति होती है उसे ही उसका विकार कहते हैं। भावार्थ—पदार्थमें जो विकार होता है वह उसी पदार्थका विकार कहा जाता है। ऐसा नहीं है कि पदार्थ ही बदल कर दूसरे पदार्थ-रूप हो जाता हो। यदि ऐसा होता तो फिर उसे उसी पदार्थका विकार नहीं कहना चाहिये किन्तु पदार्थान्तर ही कहना चाहिये, इसलिये स्वभाव सिद्ध पदार्थमें जो विकृति होती है वह उसी पदार्थकी निमित्तान्तरसे होनेवाली अशुद्ध अवस्था है जिस निमित्तसे वह अशुद्धावस्था हुई है उस निमित्तके दूर होजाने पर वह पदार्थ भी अपने प्राकृतिक स्वरूपमें आ जाता है।

दृष्टान्त—

तथापि वारुणीपानाद् बुद्धिर्नाऽबुद्धिरेव नुः।
तत्प्रकारान्तरं बुद्धौ वैकृतत्वं तदर्थसात् ॥ ९५३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा पीनेसे मनुष्यकी बुद्धि बुद्धि ही रहती है वह अबुद्धि (पदार्थान्तर) नहीं होजाती है किन्तु बुद्धिमें ही कुछ दूसरी अवस्था हो जाती है। जो बुद्धिकी दूसरी अवस्था है वही उसकी वास्तविक विकृति है। भावार्थ—सुबुद्धि रूप परिणमनको ही बुद्धिकी विकृतावस्था कहते हैं।

प्राकृतं वैकृतं वापि ज्ञानमात्रं तदेव यत्।
यावदत्रेन्द्रियायत्तं तत्सर्वं वैकृतं विदुः ॥ ९५४ ॥

अर्थ—स्वाभाविक ज्ञान हो, अथवा वैभाविक ज्ञान हो सभी ज्ञान ही कहा जायगा। क्योंकि ज्ञानपना दोनों ही अवस्थाओंमें है। परन्तु इतना विशेष है कि जितना भी इन्द्रियोंसे ज्ञान होता है वह सब वैभाविक है।

विकृतावस्थामें जीवकी वास्तवमें हानि है—

अस्ति तत्र क्षतिर्नूनं नाक्षतिर्वास्तवादपि ।
जीवस्यातीवदुःखित्वात् सुखस्योन्मूलनादपि ॥ ९५५॥

अर्थ—जीवकी विकृत अवस्थामें वास्तवमें हानि है । विकृत अवस्थासे जीवकी वास्तवमें कुछ हानि न हो ऐसा नहीं है । क्योंकि विकृतावस्थामें जीवको अत्यन्त दुःख होता है और इसका स्वाभाविक सुख गुण नष्ट हो जाता है । **भावार्थ**—जो लोग सर्वथा निश्चय पर आरूढ़ है वे ऐसा कहते हैं कि कर्मबन्धसे वास्तवमें आत्माकी कोई हानि नहीं है, आत्मा सदा शुद्ध है । ऐसा कहनेवाले व्यवहारनयको सर्वथा मिथ्या समझते हैं परन्तु यह उनकी भूल है, कर्मबन्धसे ही जीव कष्ट भोग रहा है, अत्यन्त दुःखी हो रहा है, चारों गतियोंमें घूमता फिरता है, रागद्वेषसे मूर्छित हो रहा है, अल्पज्ञानी हो रहा है इत्यादि अवस्थायें इसकी प्रत्यक्ष दीख रही हैं इसी लिये आचार्यने इस श्लोक द्वारा बतलाया है कि वास्तवमें भी इस जीवकी विकृतावस्थामें हानि हो रही है, केवल निश्चय नय पर आरूढ़ रहनेवालोंको नयोंके स्वरूपपर भी थोड़ा विचार अवश्य करना चाहिये । उन्हें सोचना चाहिये कि निश्चय नय और व्यवहार नय कहते किसे हैं ? यथार्थमें नय नाम किसी अपेक्षासे पदार्थके निरूपण करनेका है । निश्चय नय आत्माके शुद्ध स्वरूपका निरूपण करता है, वह बतलाता है कि आत्मा कर्मोंसे सर्वथा भिन्न है, वह सदा शुद्ध ज्ञान शुद्ध दर्शनवाला है, वह चारों गतियोंके दुःखका भोक्ता नहीं है इत्यादि, यह सब कथन आत्माके असली स्वरूपके विचारकी अपेक्षासे है, अर्थात् आत्माका शुद्ध स्वरूप, कर्मोंके निमित्तसे होनेवाली अवस्थासे सर्वथा भिन्न है, बस इसी शुद्ध स्वरूपको प्रकट करना ही निश्चय नयका कार्य है । परन्तु वर्तमानमें जो कर्मकृत अवस्था हो रही है वह मिथ्या नहीं है किन्तु वह जीवकी शुद्ध अवस्था नहीं है इसी लिये नयकी दृष्टिसे यह जीवकी विकृतावस्था मिथ्या प्रतीत होती है । वास्तवमें यह जीवकी निज अवस्था नहीं है इसको व्यवहार नय बतलाता है इसीलिये उसे भी मिथ्या कह दिया जाता है । अन्यथा यदि विकृतावस्था कुछ वस्तु ही न हो, केवल कल्पना अथवा भ्रमात्मक बोध ही हो तो फिर यह शरीरका सम्बन्ध और पुण्य पापका फल तथा जीवका अच्छा बुरा कर्तव्य कुछ नहीं ठहरता है, इसलिये ये सब बातें यथार्थ हैं और विकृतावस्थासे जीव वास्तवमें दुःखी है और उसके सुख गुणकी हानि हो रही है × इसी बातको ग्रन्थकार आगे स्पष्ट करते हैं—

× निश्चयनयपर ही चलनेवाले पूजन आदि शुभ कार्योंमें भी उदास हो जाते हैं यह उनकी भारी भूल है। उन्हें स्वामी समन्तभद्रादि आचार्योंकी कृतिपर ध्यान देना चाहिये कि जिन्होंने केवल आत्माको ध्येय बनाते हुए भी भक्तिमार्गको कहां तक अपनाया है।

अपि द्रव्यनयादेशाट्टंकोत्कीर्णोस्ति प्राणभृत् ।
नात्मसुखे स्थितः कश्चित् प्रत्युतातीव दुःखवान् ॥ ९५६ ॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्यार्थिक नयसे यह जीव टांकीसे उकेरे हुए पत्थरके समान सदा शुद्ध है तथापि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे कोई संसारी जीव अपने सुखमें स्थित नहीं है किन्तु उल्टा अत्यन्त दुःखी है।

अपने स्वरूपमें स्थित समझना भी भूल है—

नाङ्गीकर्तव्यमेवैतत् स्वस्वरूपे स्थितोस्ति ना ।
बद्धो वा स्यादबद्धो वा निर्विशेषाद्यथा मणिः ॥ ९५७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मणि मिली हुई (कीचड़ आदिमें) अवस्थामें भी शुद्ध है और भिन्न अवस्थामें भी शुद्ध है। उसी प्रकार यह मनुष्य भी चाहे कर्मोंसे बँधा हुआ हो चाहे मुक्त हो सदा अपने स्वरूपमें स्थित है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये।

क्योंकि—

यतश्चैवं स्थिते जन्तोः पक्षः स्याद् बाधितो बलात् ।
संसृतिर्वा विमुक्तिर्वा न स्याद्वा स्याद्भेदसात् ॥ ९५८ ॥

अर्थ—क्योंकि जीवको यदि सदा शुद्ध माना जाय तो वह मानना न्यायबलसे बाधित है। जीवको सदा शुद्ध माननेसे न तो संसार ही सिद्ध हो सक्ता है, और न मोक्ष ही सिद्ध हो सक्ती है। अथवा दोनोंमें अभेद ही सिद्ध होगा। भावार्थ—संसरणं संसारः परिभ्रमणका नाम ही संसार है, वह विना अशुद्धताके हो नहीं सक्ता है। और संसारके अभावमें मुक्तिका होना भी असंभव है। क्योंकि मुक्ति संसार पूर्वक ही होती है। जो बंधा ही नहीं है वह मुक्त ही क्या होगा। इसलिये जीवको सदा शुद्ध माननेसे संसार और मोक्ष दोनों ही नहीं बनते हैं अथवा दोनोंमें कोई भेद सिद्ध नहीं होता है। इसीको स्पष्ट करते हैं—

स्वस्वरूपे स्थितो ना चेत् संसारः स्यात्कुतो नयात् ।
हटाद्वा मन्यमानेस्मिन्ननिष्टत्वमहेतुकम् ॥ ९५९ ॥

अर्थ—यदि मनुष्य सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहे अर्थात् सदा शुद्ध ही बना रहे तो संसार किस नयसे हो सक्ता है ? यदि जीवको हट पूर्वक ही विना किसी हेतुके शुद्ध माना जाय तो अनिष्टताका प्रसंग आता है। उसे ही दिखाते हैं—

जीवश्चेत्सर्वतः शुद्धो मोक्षादेशो निरर्थकः ।
नेष्टमिष्टत्वमत्रापि तदर्थं वा वृथा श्रमः ॥ ९६० ॥

अर्थ—यदि जीव सदा शुद्ध है तो फिर मोक्षका आदेश (निरूपण) व्यर्थ है। और

यह बात इष्ट नहीं है । क्यों इष्ट नहीं है इसका उत्तर यही है कि मोक्षके लिये जो श्रम किया जाता है वह सब व्यर्थ होगा । भावार्थ—जीवको सर्वथा शुद्ध माननेसे मोक्षका विवेचन और उसकी प्राप्तिका उपाय आदि सभी बातें व्यर्थ ठहरती हैं, यह बात इष्ट नहीं है ।

सर्वं विप्लवनेप्येवं न प्रमाणं न तत्फलम् ।
साधनं साध्यभावश्च न स्याद्वा कारकक्रिया ॥ ९६१ ॥

अर्थ—जब मोक्ष व्यवस्था और उसका उपाय ही निरर्थक है, तब न प्रमाण बनता है, न उसका फल बनता है, न साधन बनता है न साध्य बनता है, न कारण बनता है और न क्रिया ही बनती है, सभीका विप्लव (लोप) हो जाता है । भावार्थ–जीवको पहले अशुद्ध माननेसे तो संसार, मोक्ष, उसका उपाय साध्य, साधन, क्रियाकारक, प्रमाण, उसका फल सभी बातें सिद्ध हो जाती हैं परन्तु जीवको सर्वथा शुद्ध माननेसे ऊपर कही हुई बातोंमेंसे एक भी सिद्ध नहीं होती है । इसलिये पहले जीवको अशुद्ध मानना ही युक्तिसङ्गत है ।

सारांश—

सिद्धमेतावताप्येवं वैकृता भावसन्ततिः ।
अस्ति संसारिजीवानां दुःखमूर्तिर्दुरुत्तरी ॥ ९६२ ॥

अर्थ—उपर्युक्त कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो चुकी कि संसारी जीवोंके भावोंकी सन्तति विकृत है, दुःखकी मूर्ति है, और खोटे फलवाली है ।

शङ्काकार—

ननु वैभाविका भावाः कियन्तः सन्ति कीदृशाः ।
किं नामानः कथं ज्ञेया ब्रूहि मे वदतां वर ॥९६३ ॥

अर्थ—वैभाविक भाव कितने हैं, वे कैसे हैं, किस नामसे पुकारे जाते हैं, और कैसे जाने जाते हैं ? हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! मुझे सब समझाओ ।

उत्तर—

शृणु साधो महाप्राज्ञ ! वक्ष्यहं यत्तवेप्सितं ।
प्रायो जैनागमाभ्यासात् किञ्चित्स्वानुभवादपि ॥ ९६४ ॥

अर्थ—शङ्काकारको सम्बोधन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं–हे साधो ! हे महा विद्वान्! जो तुम्हें अभीष्ट है उसे मैं कहता हूं, प्रायः सब कथन मैं जैन शास्त्रोंके अभ्याससे ही करूंगा, कुछ २ स्वानुभवसे भी कहूंगा । तुम सुनो ।

भावोंकी संख्या—

लोकासंख्यातमात्राः स्युर्भावाः सूत्रार्थविस्तरात् ।
तेषां जातिविवक्षायां भावाः पञ्च यथोदिताः ॥ ९६५ ॥

अर्थ—सूत्रोंके अर्थके विस्तारसे जीवके भाव असंख्यातलोक प्रमाण हैं। तथा उन भावोंकी जातियोंकी अपेक्षासे पांच भाव कहे गये हैं।

पांच भावोंके नाम—

तत्रौपशमिको नाम भावः स्यात्क्षायिकोपि च ।
क्षायोपशमिकश्चेति भावोप्यौदयिकोस्ति नुः ॥ ९६६ ॥
पारिणामिकभावः स्यात् पञ्चेत्युद्देशिताः क्रमात् ।
तेषामुत्तरभेदाश्च त्रिपञ्चाशदितीरिताः ॥ ९६७ ॥

अर्थ—औपशमिकभाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिकभाव, औदयिकभाव और पारिणामिकभाव ये मनुष्य (जीव) के पांच भाव क्रमसे कहे गये हैं। इनके त्रेपन उत्तरभेद भी कहे गये हैं। **भावार्थ**—ये पांच जीवके असाधारणभाव हैं। यद्यपि भेदकी अपेक्षासे असंख्यात लोकप्रमाण जीवके भाव हैं अथवा अनन्तभाव हैं परन्तु स्थूलरीतिसे इन्हीं पांचोंमें सब गर्भित होजाते हैं। जो जीवके चौदह गुणस्थान कहे गये हैं वे भी इन पांच भावोंसे बाहर नहीं हैं अथवा दूसरे शब्दोंमें यह कहना चाहिये कि इन पांच भावोंमें ही चौदह गुणस्थान बँटे हुए हैं।* जीवके गुणोंमें सम्यग्दर्शन ही प्रधान गुण है, और उसके तीन भेदोंमेंसे पहले औपशमिक ही होता है इसलिये औपशमिक भावका पहले नाम लिया गया है। औपशमिककी अपेक्षासे क्षायिक भाववालोंका द्रव्य (जीव राशी) असंख्यात गुणा है इसलिये औपशमिकके पीछे क्षायिकका नाम लिया गया है। क्षायिककी अपेक्षा क्षायोपशमिकका द्रव्य असंख्यात गुणा है, तथा उपर्युक्त दोनों भावोंके मेलसे यह होता है इसलिये तीसरी संख्या क्षायोपशमिकके लिये कही गई है। उन तीनोंसे औदयिक पारिणामिक भावोंका द्रव्य अनन्त गुणित है इसलिये अन्तमें इन दोनोंका नाम लिया गया है। औपशमिक और क्षायिक भाव सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं। मिश्र भाव भव्य और अभव्य दोनोंके होता है, परंतु इतना विशेष है कि भव्यके सम्यक्त्व और चारित्रकी अपेक्षासे भी होता है। अभव्यके केवल अज्ञानादिकी अपेक्षासे होता है। औदयिक और पारिणामिक ये दो भाव सामान्य रीतिसे सभी संसारी जीवोंके होते हैं। औपशमिक भाव दो प्रकारका है, क्षायिक भाव नौ प्रकारका है, क्षायोपशमिक भाव अठारह प्रकारका है, औदयिकभाव इक्कीस प्रकारका है, और पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है। इसप्रकार ये जीवके त्रेपन भाव हैं इनका खुलासा ग्रन्थकार स्वयं आगे करेंगे।

---

* जेहिं दुलक्खिजंते उदयादिसु संभवेहि भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहिं ॥

औदयिकादिक यथासंभव भावोंमें जीव पाये जाते हैं इसलिये उन भावोंका नाम ही गुणस्थान है। ऐसा सर्वज्ञ देवने कहा है। **गोमट्टसार।**

औपशमिक भावका स्वरूप—

कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात् स्वतः ।
यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः ॥ ९६८ ॥

अर्थ—विपक्षी कर्मोंके पाकका स्वयं उपशम होनेसे जो प्राणियोंका भाव होता है उसीका नाम औपशमिक भाव है । भावार्थ–कर्मोंके उपशम होनेसे जो जीवका भाव होता है उसीको औपशमिक भाव कहते हैं । " आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः । " अर्थात् आत्मामें कर्मकी निज शक्तिका कारणवशसे उदय नहीं होना इसीको उपशम कहते हैं । जैसे कीचसे मिले हुए (खवीले) जलमें फिटकरी आदि द्रव्य डालनेसे कीच जलके नीचे बैठ जाती है और निर्मल जल ऊपर रहता है । इसीप्रकार जिन कर्मोंका उपशम होता है वे उस कालमें उदयमें नहीं आते हैं इसलिये आत्मा उस समय निर्मल जलकी तरह निर्मल होजाता है ।

क्षायिक भावका स्वरूप—

यथास्वं प्रत्यनीकानां कर्मणां सर्वतः क्षयात् ।
जातो यः क्षायिको भावः शुद्धः स्वाभाविकोऽस्य सः ॥९६९॥

अर्थ— विपक्षी कर्मोंका सर्वथा क्षय होनेसे जो आत्माका भाव होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं । यह क्षायिक भाव आत्माका शुद्ध भाव है, और उसका स्वाभाविक भाव है । भावार्थ—कर्मोंकी अत्यन्त निवृत्ति होनेसे जो आत्माका भाव होता है उसे ही क्षायिक भाव कहते हैं । जैसे फिटकरी आदिके डालनेसे जिस समय कीचड़ नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रहता है उस समय उस निर्मल जलको यदि दूसरे वर्तनमें धीरेसे ले लिया जाय तो फिर वह जल सदा शुद्ध ही रहता है फिर उसके मलिन होनेकी संभावना भी नहीं हो सक्ती है । क्योंकि मलिनता पैदा करनेवाला कीचड़ था वह सर्वथा हट गया है। इसी प्रकार क्षायिक भाव आत्मासे कर्मके सर्वथा हट जाने पर होता है । वह सदा शुद्ध रहता है, फिर वह कभी अशुद्ध नहीं हो सक्ता ।

क्षायोपशमिक भावका स्वरूप—

यो भावः सर्वतो घातिस्पर्धकानुदयोद्भवः ।
क्षायोपशमिकः स स्यादुदयादेशघातिनाम् ॥ ९७० ॥

अर्थ—सर्वघाति स्पर्धकोंका अनुदय होने पर और देशघातिस्पर्धकोंका उदय होने पर जो आत्माका भाव होता है उसे ही क्षायोपशमिक भाव कहते हैं । भावार्थ–क्षायोपशमिक भावमें क्षय और उपशमकी मिश्रित अवस्था रहती है। जैसे मलीन जलमें थोड़ी फिटकरी

डालनेसे कुछ तो निर्मल जल रहता है कुछ गदला रहता है, दोनोंकी मिली हुई अवस्था रहती है। उसी प्रकार क्षायोपशमिक भाव भी दोनोंकी मिश्रित अवस्था है। सर्वार्थसिद्धिमें मिश्रका ऐसा लक्षण किया है—"सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमाच्च देशघातिस्पर्धकानामुदये सति क्षायोपशमिको भावो भवति", अर्थात् जो कर्म सर्वथा गुणका घात करनेवाले हैं उनका (सर्वघातिस्पर्धकोंका) उदयक्षय* होनेसे और उन्हीं सर्वघाति स्पर्धकोंका सत्तामें उपशम होनेसे तथा देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक भाव होता है। यहांपर यह शंका हो सक्ती है कि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अथवा चारित्र आत्मीक भाव हैं, क्या आत्मीक भावोंमें भी कर्मका उदय कारण पडता है? यदि पडता है तबतो वे आत्मीक भाव ही नहीं रहे, उन्हें कर्मकृत पर भाव कहना चाहिये। यदि कर्मोदय कारण नहीं पड़ता है तो फिर देशघाति स्पर्धकोंका उदय मिश्र भावमें कारण क्यों बतलाया गया है? इसका उत्तर यह है कि आत्मीक भावके प्रकट होनमें कर्मोदय कारण नहीं पड़ता है, जितने अंशमें कर्मोदय है उतने अंशमें तो उस गुणका घात हो रहा है इसलिये कर्मोदय तो आत्मीक भावोंके घातका ही कारण है, यहांपर भी यही बतलाया है कि जिस समय मिश्र भाव होता है उस समय देशघाती कर्मका उदय रहता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि देशघाती कर्मका उदय मिश्रभावका कारण है। सम्यक्त्व प्रकृति सम्यग्दर्शनमें चलता, मलिनता, अगाढ़ता आदि दोष उत्पन्न करती ही है। इसलिये कर्मोदयमात्र ही आत्मगुणोंका घातक है।

औदयिक भावका स्वरूप—

कर्मणामुदयाद्यः स्याद्भावो जीवस्य संसृतौ।
नाम्नाप्यौदयिकोऽन्वर्थात्परं बन्धाधिकारवान् ॥ ९७१ ॥

अर्थ—संसारी जीवके कर्मोंके उदयसे जो भाव होता है वही औदयिक नामसे कहा जाता है और वही यथार्थ नामधारी है, तथा कर्मबन्ध करनेका वही अधिकारी है। **भावार्थ**—द्रव्य क्षेत्र काल भावके निमित्तसे कर्मोंकी जो फलदान विपाक अवस्था है उसीको उदय कहते हैं, कर्मोंके उदयसे जो आत्माका भाव होता है उसीको औदयिक भाव कहते हैं, यही भाव आत्माके गुणोंका घातक, दुःखदायक तथा कर्मबन्धका मूल कारण है।

पारिणामिक भावका स्वरूप—

कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्।
आत्मद्रव्यत्वमात्रात्मा भावः स्यात्पारिणामिकः ॥ ९७२ ॥

* जो कर्म विना फल दिये ही निर्जरित होजाय उसे उदय क्षय अथवा उदयाभावी क्षय कहते हैं।

अर्थ—कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे सर्वथा निरपेक्ष जो आत्माका स्वाभाविक भाव है उसे ही पारिणामिक भाव कहते हैं। भावार्थ–द्रव्यकी निज स्वरूपकी प्राप्तिको ही पारिणामिक भाव कहते हैं। इस भावमें कर्मोंकी सर्वथा अपेक्षा नहीं है, किन्तु आत्म द्रव्य मात्र है।

इत्युक्तं लेशतस्तेषां भावानां लक्षणं पृथक्।
इतः प्रत्येकमेतेषां व्यासात्तद्रूपमुच्यते ॥ ९७३ ॥

अर्थ—इस प्रकार उन भावोंका लेशमात्र लक्षण भिन्न २ कहा गया। अब उनमेंसे प्रत्येक भावका स्वरूप विस्तार पूर्वक कहा जाता है।

औदयिक भावके भेद—

भेदाश्चौदयिकस्यास्य सूत्रार्थादेकविंशति।
चतस्रो गतयो नाम चत्वारश्च कषायकाः ॥ ९७४ ॥
त्रीणि लिङ्गानि मिथ्यात्वमेकं चाज्ञानमात्रकम्।
एकम्वाऽसंयतत्वं स्यादेकमेकास्त्यसिद्धता ॥ ९७५ ॥
लेश्याः षडेव कृष्णाद्या क्रमादुद्देशिता इति।
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामि नाल्पं नातीव विस्तरम् ॥ ९७६ ॥

अर्थ—सूत्रोंके आशयसे औदयिक भावके इक्कीस भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—गति ४, कषाय ४, लिङ्ग ३, मिथ्यात्व १, अज्ञान १, असंयतत्व १, असिद्ध १, कृष्णादि-लेश्या ६ ये क्रमसे इक्कीस भाव हैं, इनका स्वरूप अब कहते हैं, वह नतो अधिक संक्षिप्त ही होगा और न अधिक विस्तृत ही होगा।

गति–कर्म—

गतिनामास्ति कर्मैकं विख्यातं नामकर्मणि।
चतस्रो गतयो यस्मात्तच्चतुर्धाधिगीयते ॥ ९७७ ॥

अर्थ—नाम कर्मके भेदोंमें प्रसिद्ध एक गति नामा कर्म भी है। गतियां चार हैं इस लिये वह गति कर्म भी चार प्रकारका कहा जाता है।

गतिकर्मका विपाक—

कर्मणोऽस्य विपाकाद्वा दैवादन्यतमं वपुः।
प्राप्य तत्रोचितान्भावान् करोत्यात्मोदयात्मनः ॥ ९७८ ॥

अर्थ—इस गतिकर्मके विपाक होनेसे यह आत्मा अपने ही उदयवश देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक इन चार गतियोंमेंसे किसी एकको प्राप्त होकर उसके उचित भावोंको करता

है। अर्थात् जिस गतिमें पहुंचता है वहांकी द्रव्य क्षेत्र काल भाव सामग्रीके अनुसार ही अपने भावोंको बनाता है।

दृष्टान्त—

यथा तिर्यगवस्थायां तद्व्या भावसन्ततिः।
तत्रावश्यं च नान्यत्र तत्पर्यायानुसारिणी ॥ ९७९ ॥

अर्थ--जिस प्रकार तिर्यञ्च अवस्थामें जो उसके योग्य भावसन्तति है वह उस पर्यायके अनुसार वहां अवश्य होती है, तिर्यञ्च अवस्थाके योग्य जो भाव सन्तति है वह वहीं पर होती है अन्यत्र नहीं होती।

इसी प्रकार—

एवं दैवेऽथ मानुष्ये नारके वपुषि स्फुटम्।
आत्मीयात्मीयभावाश्च सन्त्यसाधारणा इव ॥ ९८० ॥

अर्थ—इसी प्रकार देवगति, मनुष्यगति, नरकगतिमें भी अपनी २ गतिके योग्य भाव होते हैं। वे ऐसे ही होते हैं जैसे असाधारण हों। भावार्थ-जिस पर्यायमें भी यह जीव जाता है उसी पर्यायके योग्य उसे वहां द्रव्य क्षेत्र काल भावकी योग्यता मिलती है, और उसी सामग्रीके अनुसार उस जीवके भाव उत्पन्न होते हैं। जैसे भोगभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके वहांकी सुखमय सामग्रीके अनुसार शान्तिपूर्वक सुखानुभव करनेके ही भाव पैदा होते हैं। कर्मभूमिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके असि मस्यादि कारण सामग्रीके अनुसार कर्म (क्रिया) पूर्वक जीवन बितानेके भाव पैदा होते हैं। तथा जिस प्रकारका क्षेत्र मिलता है उसी प्रकारकी शरीर रचना आदि योग्यता भी मिलती है। इसलिये भावोंके सुधार और बिगाड़में निमित्त कारण ही प्रमुख है।

शङ्काकार—

ननु देवादिपर्यायो नामकर्मोदयात्परम्।
तत्कथं जीवभावस्य हेतुः स्याद्घातिकर्मवत् ॥ ९८१ ॥

अर्थ—देवादिक गतियां केवल नामकर्मके उदयसे होती हैं। जब ऐसा सिद्धान्त है तब क्या कारण है कि नाम (देवादिगतियां) कर्म घातिया कर्मोंके समान जीवके भावोंका हेतु समझा जाय? भावार्थ—ऊपर कहा गया है कि जैसी गति इस जीवको मिलती है उसीके अनुसार इसके भावोंकी सृष्टि भी बनती है। इसी विषयमें शङ्काकारका कहना है कि भावोंके परिवर्तनका कारण तो घातिया कर्म ही हो सक्ते हैं, नाम कर्म तो अघातिया है उसमें भावोंके परिवर्तन करनेकी सामर्थ्य कहांसे आई?

उत्तर—

सत्यं तन्नामकर्मापि लक्षणाच्चित्रकारवत् ।
नूनं तद्देहमात्रादि निर्मापयति चित्रवत् ॥ ९८२ ॥
अस्ति तत्रापि मोहस्य नैरन्तर्योदयोऽसा ।
तस्मादौदयिको भावः स्यात्तद्देहक्रियाकृतिः ॥ ९८३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसी प्रकार नाम कर्म भी नियमसे शरीरादिकी रचना करता है, साथ ही वहां पर मोहनीय कर्मका निरन्तर उदय रहता है, इसी लिये उस देह क्रियाके आकार औदयिक भाव होता है। भावार्थ—यद्यपि नामकर्मका कार्य शरीरादिकी रचना मात्र है वह भावोंके परिवर्त्तनका कारण नहीं हो सक्ता है, यह ठीक है। तथापि उस नाम कर्मके उदयके साथ ही मोहनीय कर्मक, उदय भी बराबर रहता है इस लिये उस पर्यायमें औदयिक भाव अपना कार्य करता है। यदि मोहनीय कर्मका उदय नाम कर्मके साथ न हो तो वास्तवमें वह पर्याय जीवके भावोंमें संक्लेश नहीं कर सक्ती है, अरहन्त परमेष्ठीके नाम कर्मका उदय तो है परन्तु मोहनीय कर्म उनके नहीं है इसलिये स्वाभाविक भावोंमें परिवर्त्तन नहीं होता है। अतः मोहनीय कर्मक अविनाभाव ही वास्तवमें कार्यकारी है।

शङ्काकार—

ननु मोहोदयो नूनं स्वायत्तोस्त्येकधारया ।
तत्तद्वपुः क्रियाकारो नियतोऽयं कुतो नयात् ॥ ९८४ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मका उदय अनर्गल रीतिसे अपने ही अधीन है। वह फिर भिन्न भिन्न शरीरोंकी क्रियाओंके आकार किस नयसे नियत है ? अर्थात् भिन्न २ शरीरानुसार मोहनीय कर्म क्यों फल देता है ?

उत्तर—

नैवं यतोनभिज्ञोसि मोहस्योदयवैभवे ।
तत्रापि बुद्धिपूर्वे चाऽबुद्धिपूर्वे स्वलक्षणात् ॥ ९८५ ॥

अर्थ—शंकाकारका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। शङ्काकारसे आचार्य कहते हैं कि मोहनीय कर्मका उदय वैभव कितना बड़ा हुआ है, और वह अपने लक्षणके अनुसार बुद्धिपूर्वक अबुद्धिपूर्वक आदि भेदोंमें बँटा हुआ है इस विषयमें तुम सर्वथा अजान हो। भावार्थ—मोहनीय कर्मका बहुत बड़ा विस्तार है, वह कहां २ किस २ रूपमें उदयमें आरहा है इसके समझनेकी बड़ी आवश्यकता है।

मोहनीय कर्मके भद—

मोहनान्मोहकर्मैकं तद्द्विधा वस्तुतः पृथक् ।
दृङ्मोहश्चात्र चारित्रमोहश्चेति द्विधा स्मृतः ॥ ९८६ ॥

अर्थ—मूर्छित करनेसे सामान्य रीतिसे मोहकर्म एक प्रकार है। और वही दर्शन-मोह और चारित्रमोहकी अपेक्षासे वास्तवमें दो प्रकार भी है। भावार्थ–अन्य कर्मोंकी अपेक्षा मोहकर्ममें बहुत विशेषता है, अन्यकर्म अपने प्रतिपक्षी गुणमें न्यूनता करते हैं उसे सर्वथा भी ढक लेते हैं परन्तु अपने प्रतिपक्षी गुणको मूर्छित नहीं करते हैं, जैसे ज्ञानावरण कर्म ज्ञानगुणको ढकता है परन्तु ज्ञानगुणको अज्ञानरूप नहीं करता है, इसी प्रकार अन्तराय कर्म वीर्यगुणको ढकता है परन्तु उसे उल्टे रूपमें नहीं लाता है। उल्टे रूपमें लानेकी विशेषता इसी मोहनीय कर्ममें है, मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षीको सर्वथा विपरीत स्वादु बना डालता है। इसीलिये इसका नाम मोहनीय है अर्थात् मोहनेवाला–मूर्छित करनेवाला है। सामान्य रीतिसे वह एक है, और दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीय ऐसे उसके दो भेद हैं। इसी मोहनीय कर्मके उदयसे सम्यग्दर्शन मिथ्यादर्शनरूप और सम्यक्चारित्र मिथ्याचारित्ररूप परिणत होजाता है। इसीके निमित्तसे जीव अनन्त संसारमें भ्रमण करता फिरता है।

दर्शन मोहनीयके भेद—

एकधा त्रिविधा वा स्यात् कर्ममिथ्यात्वसञ्ज्ञकम् ।
क्रोधाद्याद्यचतुष्कश्च, सप्तैते दृष्टिमोहनम् ॥ ९८७ ॥

अर्थ–दर्शन मोहनीय कर्म भी सामान्य रीतिसे मिथ्यात्वरूप एक प्रकार है, विशेष रीतिसे मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व, भेदोंसे तीन प्रकार है, और अनन्तानुबन्धि क्रोध, मान, माया, लोभ चार भेद प्रथम कषायके हैं। इस प्रकार ये सात भेद दर्शनमोहनीयके हैं। भावार्थ–मूलमें दर्शनमोहनीयका एक ही भेद है–मिथ्यात्व। पीछे प्रथमोपशम सम्यक्त्वके होनेपर उस मिथ्यात्वके तीन टुकड़े हो जाते हैं। एक सम्यक्त्व प्रकृति, दूसरा-सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृति, तीसरा मिथ्यात्वप्रकृति, ये तीन टुकड़े ऐसे ही होते हैं जैसे धान्यको पीसनेसे उसके तीन टुकड़े होते हैं, एक तो छिलकारूप, दूसरा सूक्ष्म कणरूप तीसरा मध्यमका सारभूत अंश–मिगीरूप। जिस प्रकार छिलकेमें पुष्ट करनेकी शक्ति नहीं है, उसी प्रकार सम्यक्त्वप्रकृतिमें भी सम्यग्दर्शनको घात करनेकी पूर्ण शक्ति नहीं है तो भी उसमें चलता, मलिनता आदि दोष उत्पन्न करनेकी अवश्य थोड़ीसी शक्ति है। सम्क्त्वप्रकृतिके उदय होनेपर सम्यग्दर्शनका घात नहीं होता है किन्तु उस समय क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। जिस प्रकार सूक्ष्म धान्यकणमें पुष्ट करनेकी शक्ति है उसी

प्रकार सम्यङ्मिथ्यात्वप्रकृतिमें भी सम्यग्दर्शनको घात करनेकी* शक्ति है, सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयमें सम्यग्दर्शनका घात होकर तीसरा गुणस्थान इस जीवके हो जाता है। जिस प्रकार धान्यका बीचका अंश पूर्ण पुष्टता उत्पादक है उसी प्रकार मिथ्यात्वप्रकृति भी पूर्णतासे सम्यग्दर्शनकी घातक है। इस प्रकृतिके उदयमें जीवके पहला गुणस्थान रहता है। इस प्रकार मिथ्यात्व प्रकृति एकरूप होनेपर भी तीन भेदोंमें बँट जाती है इसलिये दर्शन मोहनीयके तीन भेद हैं। यद्यपि अनन्तानुबन्धि कषाय चारित्र मोहनीयके भेदोंमें परिगणित है तथापि इस कषायमें दो शक्तियां होनेसे इस दर्शन मोहनीयके भेदोंमें भी गिनाया गया है। अनन्तानुबन्धि कषायमें स्वरूपाचरण चारित्रको घात करनेकी भी शक्ति है और सम्यग्दर्शनको घात करनेकी भी शक्ति है। क्योंके अनन्तानुबन्धि कषायकी किसी अन्यतम प्रकृतिका उदय होनेपर इस जीवके सम्यग्दर्शन गुणका घात होकर दूसरा गुणस्थान—सासादन होजाता है। इसलिये इसको दर्शन मोहनीयमें भी परिगणित किया गया है। इस प्रकार ऊपर कही हुई सात प्रकृतियां दर्शन मोहनीयकी हैं।

दर्शनमोहनीय कर्मका फल—

दृङ्मोहस्योदयादस्य मिथ्याभावोस्ति जन्मिनः।
स स्यादौदयिको नूनं दुर्वारो दृष्टिघातकः ॥ ९८८ ॥
अस्ति प्रकृतिरस्यापि दृष्टिमोहस्य कर्मणः।
शुद्धं जीवस्य सम्यक्त्वं गुणं नयति विक्रियाम् ॥ ९८९ ॥

अर्थ—इस जीवके दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यारूप परिणाम होता है। वह मिथ्याभाव ही औदयिक भाव है और वही सम्यग्दर्शनका घात करनेवाला है। यह भाव

---

* यद्यपि यह प्रकृति सम्यग्दर्शनकी पूर्ण घातक है तथापि इसके उदयमें जीवके मिथ्यात्वरूप परिणाम नहीं होते हैं, किन्तु मिश्रित परिणाम होते हैं, इसी लिये इसे जात्यन्तर सर्व घाती प्रकृति बतलाया गया है।

सम्मामिच्छुदयेणय जतंतर सव्वघादिकज्जेण।
णय सम्मं मिच्छंपिय सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥
दहिगुडमिव वा मिस्सं पुहभावं णेव कारिदुं सक्कं।
एवं मिस्सय भावो सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो।

अर्थात् सम्यङ्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेपर न तो सम्यग्दर्शन रूप ही परिणाम होते हैं और न मिथ्यात्वरूप ही परिणाम होते हैं किन्तु मिले हुए दोनों ही रूप परिणाम होते हैं जिस प्रकार कि दही और गुड़के मिलनेसे खट्टे और मीठेका मिश्रित स्वाद आता है यद्यपि मिश्र प्रकृति वैभाविक भाव है तथापि मिथ्यात्व रूप वैभाविक भावसे हलका है।

गोमट्टसार।

आत्मासे कठिनतासे दूर होता है । जीवके शुद्ध सम्यग्दर्शन गुणको विपरीत स्वादु कर देना इस दर्शन मोहनीय कर्मका स्वभाव है । अर्थात् सम्यग्दर्शन गुणको मिथ्यादर्शन रूप करदेना दर्शन मोहनीय कर्मका कार्य है ।

दृष्टान्त—

यथा मद्यादिपानस्य पाकाद् बुद्धिर्विमुह्यति ।
इदेतं शंखादि यद्वस्तु पीतं पश्यति विभ्रमात् ॥ ९९० ॥

अर्थ—जिस प्रकार मदिरा पीनेवाले पुरुषकी बुद्धि मदिराका नशा चढ़नेपर भ्रष्ट होजाती है। वह पुरुष शंखादि सफेद पदार्थोंको भी विभ्रमसे पीले ही देखता है—समझता है।

दृष्टान्त—

तथा दर्शनमोहस्य कर्मणोस्तूदयादिह ।
अपि यावदनात्मीयमात्मीयमनुते कुदृक् ॥ ९९१ ॥

अर्थ—उसी प्रकार दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि पुरुष इस संसारमें जो आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं उन्हें भी अपने (आत्माके) मानता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि भिन्न पदार्थोंमें आत्मीयत्व बुद्धि करता है ।

चापि लुम्पति सम्यक्त्वं दृङ्मोहस्योदयो यथा ।
निरुणद्धयात्मनो ज्ञानं ज्ञानस्यावरणोदयः ॥ ९९२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार दर्शन मोहनीय कर्मका उदय सम्यग्दर्शन गुणका लोप कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मका उदय भी आत्माके ज्ञान गुणको ढक देता है। भावार्थ—यहांपर लुम्पति, क्रियाके दो आशय हैं (१) दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक्त्वका लोप करता है उसे छिपा देता है किन्तु उसका नाश नहीं करता है, क्योंकि नाश किसी गुणका होता ही नहीं है (२) लोप करता है, सम्यक्त्वको सर्वथा छिपा देता है अर्थात् उसे विकृत बना देता है, उस रूपमें उसे नहीं रहने देता है । परन्तु ज्ञानावरण कर्म ज्ञानको रोकता है विकृत नहीं करता, इसी लिये निरुणद्धि क्रिया दी है ।

यथा ज्ञानस्य निर्णाशो ज्ञानस्यावरणोदयात् ।
तथा दर्शननिर्णाशो दर्शनावरणोदयात् ॥ ९९३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ज्ञानका नाश होजाता है उसी प्रकार दर्शनावरण कर्मके उदयसे दर्शनका नाश होजाता है । भावार्थ—यहां पर ज्ञान और दर्शनके नाशसे उनके नष्ट होनेका तात्पर्य नहीं है किन्तु उन गुणोंके ढक जानेसे तात्पर्य है, वास्तव दृष्टिसे नतो किसी गुणका नाश होता है और न किसी गुणका उत्पाद ही होता है किन्तु पर्यायकी अपेक्षासे गुणोंके अंशोंमें हीनाधिकता होती रहती है वह हीनाधिकता भी आविर्भाव तिरोभाव रूप होती है। वास्तवमें सभी गुण नित्य हैं इसी आशयको नीचे प्रकट करते हैं।

यथा धाराधराकारैः गुण्ठितस्यांशुमालिनः ।
नाविर्भावः प्रकाशस्य द्रव्यादेशात् स्वतोपि वा ॥ ९९४ ॥

अर्थ—यद्यपि द्रव्यदृष्टिसे सूर्यका प्रकाश दा सूर्यके साथ है उसका कभी अभाव नहीं हो सक्ता है तथापि मेघोंसे आच्छादित होनेपर सूर्यका प्रकाश छिप अवश्य जाता है। **भावार्थ**–उसी प्रकार ज्ञानादि गुण सदा आत्माके साथ हैं अथवा आत्मस्वरूप हैं उनका कभी नाश नहीं हो सक्ता है तथापि ज्ञानावरणादि कर्मोंके निमित्तसे वे ढक अवश्य जाते हैं।

अज्ञान औदयिक नहीं है—

यत्पुनर्ज्ञानमज्ञानमस्ति रूढिवशादिह ।
तन्नौदयिकमस्त्यस्ति क्षायोपशमिकं किल ॥ ९९५ ॥

अर्थ—जो ज्ञान ही रूढिवश अज्ञान कहा जाता है वह औदयिक नहीं है किन्तु निश्चयसे क्षायोपशमिक है। **भावार्थ**—यहांपर अज्ञानसे तात्पर्य मन्दज्ञानसे है। प्रायः मन्दज्ञानीको अज्ञानी अथवा मन्द ज्ञानको अज्ञान कह दिया जाता है, वह अज्ञान औदयिक भाव नहीं है किन्तु क्षायोपशमिक भाव है तथा मिथ्यादृष्टिका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है वह भी क्षायोपशमिक ही है। क्योंकि ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है। जो अज्ञानभाव औदयिक भावोंमें गिनाया गया है वह कर्मके उदयकी अपेक्षासे है।

अथास्ति केवलज्ञानं यत्तदावरणावृतम् ।
स्वापूर्वार्थान् परिच्छेतुं नालं मूर्छितजन्तुवत् ॥ ९९६ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मोंमें एक केवल ज्ञानावरण कर्म भी है, वह केवलज्ञानावरण कर्म आत्माके स्वाभाविक केवलज्ञान गुणको ढक लेता है। आवरणसे ढक जानेपर वह ज्ञान मूर्छित पुरुषकी तरह अपने स्वरूप और अनिश्चित पदार्थोंको जाननेके लिये समर्थ नहीं रहता है।

अथवा—

यद्वा स्यादवधिज्ञानं ज्ञानं वा स्वान्तपर्ययम् ।
नार्थक्रियासमर्थं स्यात्तत्तदावरणावृतम् ॥ ९९७ ॥

अर्थ—अथवा अवधिज्ञान वा मनःपर्ययज्ञान ये भी अपने २ आवरकसे जब आवृत होते हैं अर्थात् ढके जाते हैं तब अर्थक्रिया करनेमें अर्थात् पदार्थोंके जाननेमें समर्थ नहीं रहते हैं।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं तत्तदावरणावृतम् ।
यद्यावतोदयांशेन स्थितं तावदपन्हुतम् ॥ ९९८ ॥

अर्थ— इसी प्रकार मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी अपने २ आवरणसे आच्छादित होते हैं, और उनके आवरक कर्मका जितने अंशोंमें उदय रहता है उतने ही अंशोंमें ज्ञान भी तिरोभूत (ढका हुआ) रहता है ।

क्षायिक भाव—

यत्पुनः केवलज्ञानं व्यक्तं सर्वार्थभासकम् ।
स एव क्षायिको भावः कृत्स्नस्वावरणक्षयात् ॥ ९९९ ॥

अर्थ—जो केवलज्ञान है वह प्रकटरीतिसे सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रकाशक है वह अपने सम्पूर्ण आवरणोंके क्षय होनेसे होता है इसलिये वही क्षायिक भाव है ।

कर्मोंके भेद प्रभेद—

कर्माण्यष्टौ प्रसिद्धानि मूलमात्रतया पृथक्
अष्टचत्वारिंशच्छतं कर्माण्युत्तरसंज्ञया ॥ १००० ॥

अर्थ—कर्मोंके मूल भेद आठ प्रसिद्ध हैं और उनके उत्तर भेद एकसौ अड़तालीस हैं । भावार्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ मूल भेद कर्मोंके प्रसिद्ध हैं । उत्तर भेद १४८ इस प्रकार हैं—ज्ञानावरण के ५ भेद, दर्शनावरणके ९ भेद, वेदनीयके २ भेद, मोहनीयके २८ भेद, आयुके ४ भेद, नामके ९३ भेद, गोत्रके २ भेद, और अन्तरायके ५ भेद ।

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम् ॥
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम् ॥ १००१ ॥

अर्थ—ये ही कर्म उत्तरोत्तर भेदोंसे असंख्यात लोक प्रमाण हैं, और सर्व कर्म समूह शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त भी हैं ।

घातिया कर्म—

तत्र घातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थसंज्ञया ।
घातकत्वाद्गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्स्मृतिः ॥ १००२ ॥

अर्थ—उन मूल कर्मोंमें चार घातिया कर्म हैं, और घातिया संज्ञा उनके लिये अर्थानुकूल ही है, क्योंकि जीवके गुणोंका वे कर्म घात करनेवाले हैं ऐसा सिद्धान्त है ।

अघातिया कर्म—

ततः शेषचतुष्कं स्यात् कर्माघाति विवक्षया ।
गुणानां घातका भावशक्तेरप्यात्मशक्तिवत् ॥ १००३ ॥

अर्थ—घातिया कर्मोंसे बचे हुए बाकीके चार कर्म अघातिया कहलाते हैं । ये कर्म

गुणोंके घात करनेकी शक्ति नहीं रखते हैं तौ भी विवक्षावश* अपनी कर्मत्व, शक्ति रखते ही हैं। भावार्थ-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय ये चार कर्म घातिया हैं, और वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र ये चार अघातिया हैं। घातिया कर्म तो साक्षात् आत्माके गुणोंका घात करते ही हैं परंतु अघातिया कर्म आत्माके गुणोंका घात नहीं करते हैं, किन्तु घातिया कर्मोंके सहायक अवश्य हैं। तथा अरहन्त भगवानको विना अघातिया कर्मोंके नष्ट हुए मुक्तिका लाभ नहीं हो पाता, इसलिये अघातिया कर्म कर्मत्व, शक्ति अवश्य रखते हैं।

ज्ञानावरण--

एवमर्थवशान्नूनं सन्त्यनेके गुणाश्रितः।
गत्यन्तरात्स्यात्कर्मत्वं चेतनावरणं किल ॥ १००४ ॥

अर्थ--इस प्रकार प्रयोजनवश आत्माके अनेक गुण कल्पना किये जा सकते हैं अर्थात् यदि कर्मोंके मूल भेद आठ ही रक्खे जायें तो आत्मामें आठ कर्मोंसे आच्छादित सम्यक्त्व ज्ञान दर्शन वीर्य सूक्ष्म अवगाहन अगुरुलघु अव्याबाध ये आठ गुण कल्पना किये जाते हैं। यदि कर्मोंके एकसौ अड़तालीस या उससे भी अधिक भेदोंकी अपेक्षा की जाय तो कर्मोंके भेदानुसार आत्माके अधिक गुण कल्पना किये जाते हैं जैसे कि ज्ञानावरणके पांच भेद होनेसे ज्ञानके भी मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि पांच भेद मान लिये जाते हैं इसी प्रकार आत्मगुणोंकी हीनाधिक कल्पनासे कर्मोंमें भी हीनाधिकता मानी जाती है। जैसे यदि चेतना गुणके ज्ञान दर्शन इन दो भेदोंकी पृथक् पृथक् कल्पना न करके केवल चेतना गुणकी ही अपेक्षा की जाय तो उस गुणका प्रतिपक्षी कर्म भी चेतनावरण एक ही माना जायगा और फिर ज्ञानावरण दर्शनावरणको अलग अलग माननेकी आवश्यकता न होगी।

दर्शनावरण—

दर्शनावरणेप्येष क्रमो ज्ञेयोस्ति कर्मणि।
आवृतेरविशेषाद्धा चिद्गुणस्यानतिक्रमात् ॥ १००५ ॥

अर्थ—यही क्रम दर्शनावरण कर्ममें भी जानना चाहिये जिस प्रकार चेतना आत्माका गुण है और उसको आवरण करनेवाला कर्म चेतनावरण कहलाता है उसी प्रकार दर्शन भी आत्माका गुण है और उसको आवरण करनेवाला कर्म भी दर्शनावरण कहलाता है।

दर्शन मोहनीय—

एवं च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः
तं मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्यं तदुच्यते ॥ १००६ ॥

* अघातिया कर्म यद्यपि अनुजीवी गुणोंका घात नहीं करते हैं तथापि प्रतिजीवी गुणोंका अवश्य घात करते हैं, यही विवक्षाका आशय विदित होता है।

अर्थ—ज्ञान, दर्शनके समान आत्माका सम्यग्दर्शन गुण भी है, और उस सम्यग्दर्शन गुणको मूर्छित करनेवाला कर्म भी दर्शनमोहनीय कहलाता है।

दर्शनमोहनीय कर्म अन्तर्भावी नहीं है—

नैतत्कर्मापि तत्तुल्यमन्तर्भावीति न क्वचित्।
तद्द्वयावरणादेतदस्ति जात्यन्तरं यतः ॥ १००७ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण, दर्शनावरणके समान यह कर्म भी कहींपर अन्तर्भूत नहीं हो सक्ता है क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरणसे यह सर्वथा जुदा है इसलिये तीसरा ही कर्म इसे मानना चाहिये।

सारांश—

ततः सिद्धं यथा ज्ञानं जीवस्यैको गुणः स्वतः।
सम्यक्त्वं च तथा नाम जीवस्यैको गुणः स्वतः ॥ १००८ ॥

अर्थ—इसलिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिस प्रकार जीवका एक स्वतःसिद्ध ज्ञान गुण है उसी प्रकार जीवका स्वतःसिद्ध एक सम्यग्दर्शन भी गुण है।

अतएव—

पृथगुद्देश एवास्य पृथक् लक्ष्यं च लक्षणम्।
पृथग्दृङ्मोहकर्म स्यादन्तर्भावः कुतो नयात् ॥ १००९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनका भिन्न स्वरूप है, भिन्न ही लक्ष्य है, भिन्न ही लक्षण है, और भिन्न ही दर्शनमोहनीय कर्म है फिर किस नयसे इस कर्मका कहीं पर अन्तर्भाव (गर्भितपना) हो सक्ता है ? अर्थात् कहीं पर नहीं हो सक्ता।

चारित्र मोहनीय—

एवं जीवस्य चारित्रं गुणोस्त्येकः प्रमाणसात्।
तन्मोहयति यत्कर्म तत्स्याच्चारित्रमोहनम् ॥ १०१० ॥

अर्थ—इसी प्रकार जीवका एक प्रमाणसिद्ध गुण चारित्र भी है, उस चारित्र गुणको जो कर्म मूर्छित करता है उसीको चारित्रमोहनीय कहते हैं।

अन्तराय—

अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोस्येकस्तदादिवत्
तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत् ॥ १०११ ॥

अर्थ—पहले गुणोंके समान जीवका एक वीर्य नामक भी गुण है, उस वीर्य गुणमें जो अन्तर डालता है उसे ही अन्तराय कर्म कहते हैं। भावार्थ—आत्माकी वीर्य शक्तिको रोकनेवाला अन्तराय कर्म है।

सारांश—

एतावदत्र तात्पर्यं यथा ज्ञानं गुणश्चितः ।
तथाऽनन्ता गुणा ज्ञेया युक्तिस्वानुभवागमात् ॥ १०१२ ॥

अर्थ—यहांपर इतना ही तात्पर्य है कि जिस प्रकार आत्माका ज्ञान गुण है उसी प्रकार अनन्त गुण हैं । ये सभी गुण युक्ति, स्वानुभव और आगमसे सिद्ध हैं । भावार्थ—यहांपर अन्यान्य अनन्तगुणोंकी सिद्धिमें ज्ञान गुणका दृष्टान्त दिया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि आत्माके अनन्तगुणोंमें एक ज्ञान गुण ही ऐसा है जो कि स्पष्टतासे प्रतीत होता है, अन्यान्य गुणोंका विवेचन भी इसी ज्ञान गुणके द्वारा किया जाता है । सभी गुण निर्विकल्पक हैं, एक ज्ञान गुण ही सविकल्पक है । इसीलिये पहले कहा जा चुका है कि "ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः । सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यं नाकारमात्रकाः । ततोऽवक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः । तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते" अर्थात् ज्ञानके विना सभी गुण सत्तामात्र हैं, चाहे सामान्य गुण हों चाहे विशेष गुण हों सभी निर्विकल्पक हैं, निर्विकल्पक वस्तु कही नहीं जा सक्ती है इसलिये ज्ञानके द्वारा उसका निरूपण किया जाता है । इस कथनसे यह बात भलीभांति सिद्ध हो जाती है कि सब गुणोंसे ज्ञान गुणमें विशेषता है और यह बात हरएकके अनुभवमें भी आजाती है कि ज्ञान गुण ही प्रधान है इसीलिये ज्ञानको दृष्टान्त बनाकर इतर गुणोंका उल्लेख किया गया है ।

एक गुण दूसरे गुणमें अन्तर्भूत नहीं है—

न गुणः कोपि कस्यापि गुणस्यान्तर्भवः क्वचित् ।
नाधारोपि च नाधेयो हेतुर्नापीह हेतुमान् ॥ १०१३ ॥

अर्थ—कोई भी गुण कभी किसी दूसरे गुणमें अन्तर्भूत नहीं हो सक्ता है अर्थात् दूसरे गुणमें मिल नहीं जाता है, और न एक गुण दूसरे गुणका आधार ही है और न आधेय ही है, न हेतु ही है और न हेतुमान् (साध्य) ही है ।

किन्तु—

किन्तु सर्वोपि स्वात्मीयः स्वात्मीयः शक्तियोगतः ।
नानारूपा ह्यनेकेपि सता सम्मिलिता मिथः ॥ १०१४ ॥

अर्थ—किन्तु सभी गुण अपनी अपनी भिन्न २ शक्तिके धारण करनेसे भिन्न भिन्न अनेक हैं, और वे सब परस्पर पदार्थके साथ तादात्म्य रूपसे मिले हुए हैं । भावार्थ—इन दोनों श्लोकोंमें गुणोंको भिन्न २ बतलाते हुए भी पदार्थके साथ उनका सम्मेलन बताया गया है, इसका तात्पर्य यह है कि वास्तवमें पदार्थ और गुण भिन्न २ वस्तु नहीं है, जो

पदार्थ है सो ही गुण हैं और जो गुण हैं सो ही पदार्थ हैं अर्थात् गुणोंका समूह ही पदार्थ है और एक पदार्थमें रहनेवाले अनन्तगुणोंकी एक ही सत्ता है इसलिये सभी गुण परस्परमें अभिन्न हैं, और अभिन्नताके कारण ही एक गुणके कहनेसे सभी अनन्तगुणोंका ग्रहण हो जाता है. जीवको ज्ञानी कहनेसे सम्पूर्ण जीवका ही ग्रहण होता है, परन्तु एक२ गुणका भिन्न२ कार्य है, भिन्न२ कार्य होनेसे उन गुणोंके भिन्न२ लक्षण किये जाते हैं, इस प्रकार भिन्न२ लक्षणोंवाली भिन्न२ अनन्त शक्तियां जलमें जलकल्लोलकी तरह कभी उदित कभी अनुदित होती रहती हैं। सारांश यह है कि द्रव्यसे भिन्न गुणोंकी विवक्षा करनेसे (भेद विवक्षा करनेसे) सभी गुण भिन्न हैं, उनमें परस्पर आधार-आधेय भाव, हेतु हेतुमद्भाव आदि कुछ भी उस समय नहीं है तथा अभेद विवक्षा करनेसे वे सभी गुण अभिन्न हैं। जो एक गुणका आधार है वही इतर सब गुणोंका आधार है, जो एक गुणकी सत्ता है वही इतर सब गुणोंकी सत्ता है, जो एक गुणका काल है वही सब गुणोंका काल है आदि सभी बातें सबोंकी एक ही हैं। इसी बातको 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' यह सूत्र प्रकट करता है। अर्थात् जो द्रव्यके आश्रयसे रहें और निर्गुण हों उन्हें गुण कहते हैं, यहांपर आचार्यने दोनों बातोंको बतला दिया है, 'द्रव्याश्रया' कहनेसे तो गुण और द्रव्यमें अभेद बतलाया है, + जिस समय किसी एक गुणका विवेचन किया जाता है तो उस समय बाकीका गुण समुदाय (द्रव्य) उसका आश्रय पड़ जाता है, इसी प्रकार चालिनी न्यायसे सभी गुण सभी गुणोंके आधारभूत हो जाते हैं क्योंकि गुण समुदायको छोड़कर और कोई द्रव्य पदार्थ नहीं है और निर्गुणा कहनेसे गुणोंमें परस्पर भेद बतलाया है। एक गुणकी विवक्षासे वही उसका आधार है वही उसका आधेय है। एक गुण दूसरे गुणमें नहीं रहता है इसलिये गुण परस्परमें कथञ्चित् भिन्न हैं और कथञ्चित् अभिन्न भी हैं। लक्षण भेदादिकी अपेक्षासे भिन्न हैं, तादात्म्य सम्बन्धकी अपेक्षा अभिन्न हैं हरएक पदार्थकी सिद्धि अनेकान्तके अधीन है, अपेक्षा पर दृष्टि न रखनेसे सभी कथन अव्यवस्थित प्रतीत होता है। इसी बातको पूर्वार्द्धमें स्पष्ट किया गया है "तन्नयतोऽनेकान्तो बलवानिह खलु न सर्वथैकान्तः। सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात्" अर्थात् अनेकान्त ही बलवान् है सर्वथा एकान्त ठीक नहीं है, अनेकान्त पूर्वक सभी कथन अविरुद्ध हो जाता है और उसके विना सभी विरुद्ध हो जाता है।

गुणानां चाप्यनन्तत्वे वाग्व्यवहारगौरवात्।
गुणाः केचित् समुद्दिष्टाः प्रभिदाः पूर्वसूरिभिः ॥ १०१५ ॥

+ 'द्रव्याश्रयाः' का यह भी आशय है कि द्रव्यके आश्रयसे गुण अनादि अनन्तकाल रहते हैं।

अर्थ गुण अनन्त हैं, सब कहे नहीं जा सक्ते हैं। उनमेंसे कुछ अधिक भी यदि कहे जायं तो भी वचन गौरव होता है इसलिये पूर्वाचार्योंने उनमेंसे प्रसिद्ध कुछ गुणोंका निरूपण किया है।

यत्पुनः क्वचित् कस्यापि सीमाज्ञानमनेकधा ।
मनःपर्ययज्ञानं वा तद्द्वयं भावयेत् समम् ॥ १०१६ ॥
तत्तदावरणस्योच्चैः क्षायोपशमिकत्वतः ॥
स्याद्यथालक्षिताद्भावात्स्यादत्राप्यपरा गतिः ॥ १०१७ ॥

अर्थ—जो कहीं किसीके अवधिज्ञान होता है वह भी अनेक प्रकार है, इसी प्रकार मनःपर्यय ज्ञान भी अनेक प्रकार है, इन दोनोंको समान ही समझना चाहिये। दोनोंही अपने २ आवरण कर्मका क्षयोपशम होनेसे होते हैं और कभी २ यथायोग्य भावोंके अनुसार उनकी दूसरी भी गति होती है। भावार्थ–अवधिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे अवधिज्ञान होता है, परन्तु देव और नारकियोंके भव प्रत्यय भी अवधिज्ञान होता है भवप्रत्ययसे होनेवाला अवधिज्ञान तीर्थंकरके भी होता है, अपवाद नियमसे तीर्थंकरका ग्रहण होता है। यद्यपि भवप्रत्यय अवधिमें भी क्षयोपशम ही अन्तरंग कारण है तथापि बाह्य कारणकी प्रधानतासे भव प्रत्ययको ही मुख्य कारण कहा गया है। देव नारक और तीर्थंकर पर्यायमें नियमसे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम हो जाता है, इसलिये भवकी प्रधानतासे भवप्रत्यय और क्षयोपशम निमित्तक ऐसे अवधिज्ञानके दो भेद किये हैं। और भी अनेक भेद हैं। अवधिज्ञान भवसे भवान्तर और क्षेत्रसे क्षेत्रान्तर जाता है उसे अनुगामी कहते हैं, कोई नहीं जाता है उसे अननुगामी कहते हैं, कोई अवधिज्ञान विशुद्ध परिणामोंकी वृद्धिसे बढ़ता है और बाल सूर्यके समान बढ़ता ही चला जाता है उसे वर्धमान कहते हैं, कोई संक्लेश परिणामोंके निमित्तसे घटता ही चला जाता है उसे हीयमान कहते हैं, कोई समान परिणामोंसे ज्योंका त्यों बना रहता है उसे अवस्थित कहते हैं, और कोई अवधिज्ञान कभी विशुद्ध परिणामोंसे बढ़ता है, कभी संक्लेश परिणामोंसे घटता भी है उसे अनवस्थित कहते हैं। कर्मोंके क्षयोपशमके भेदसे अवधिज्ञान के भी अनेक भेद हो जाते हैं, जैसे देशावधि, परमावधि, सर्वावधि,। देशावधिके भी अनेक भेद हैं, इसी प्रकार परमावधि और सर्वावधिके भी अनेक भेद हैं। इतना विशेष है कि परमावधि और सर्वावधि ये दो ज्ञान चरम शरीरी विरतके ही होते हैं। छठे गुणस्थानसे नीचे नहीं होते हैं। सर्वावधिज्ञान क्षेत्रकी अपेक्षा तीनों लोकोंको विषय करता है, द्रव्यकी अपेक्षा एक पुद्गल परमाणु तक विषय करता है * इस प्रकार अवधिज्ञानका बहुत बड़ा

* यह कथन गोम्मटसारकी अपेक्षासे है।

विस्तार है । कभी मिथ्यात्वोदयके साथ होनेसे कु-अवधिज्ञान (विभंगज्ञान) भी हो जाता है यह भी "अपरागति" का आशय है। अवधिज्ञानके समान मन पर्यय ज्ञानके भी अनेक भेद हैं । इतना विशेष है कि चाहे ऋजुमती मन:पर्यय ज्ञान हो, चाहे विपुलमती हो, छठे गुणस्थानसे नीचे होता ही नहीं है विपुलमती मन:पर्यय तो एकवार होकर छूटता भी नहीं है, वह चरम शरीरीके होता हुआ भी अप्रतिपाती है अर्थात् फिर गिरता नहीं, नियमसे बारहवें गुणस्थान तक जाता है । हां ऋजुमतीवाला गिर भी जाता है। बहुतसे मनुष्य ऐसी शंका करते हैं कि ऋजुमती मन:पर्यय ज्ञान ईहामतिज्ञान पूर्वक होता है और ईहामतिज्ञान इंद्रियजन्य ज्ञान है इसलिये यह भी इन्द्रियजन्य हुआ । ऐसी शंका करनेवालोंको यह जान लेना चाहिये कि ईहा मतिज्ञान वहां पर केवल बाह्यमें आपेक्षिक है, वास्तवमें ऋजुमती मन:पर्यय तो मनमें ठहरी हुई बातका साक्षात्कार करता है, इन्द्रिय जन्य ज्ञान पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं कराता है । मन:पर्यय ज्ञानमें तो पदार्थका आत्म प्रत्यक्ष हो जाता है इसलिये उक्त शंका निर्मूल है । मन:पर्यय ज्ञान क्षेत्रकी अपेक्षा ढाई द्वीप तक ही जान सक्ता है आगे नहीं । द्रव्यकी अपेक्षा अवधिज्ञानके विषयभूत पदार्थके अनन्तवें भाग जान सक्ता है । मन:पर्ययं ज्ञानावरण कर्मके भेदोंकी अपेक्षासे मन:पर्यय ज्ञानके भी अनेक भेद हो जाते हैं, परन्तु अवधिज्ञानकी तरह इसमें मिथ्यापन नहीं आता है ।

मतिज्ञानं श्रुतज्ञानमेतन्मात्रं सदातनम् ।
स्याद्वा तरतमैर्भावैर्यथा हेतूपलब्धिसात् ॥ १०१८ ॥

अर्थ—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों तो इस जीवके संसारावस्थामें सदा ही रहते हैं, इतना विशेष है कि जैसा निमित्त कारण मिल जाता है वैसे ही इन ज्ञानोंमें भी तरतम भाव होता रहता है ।

ज्ञानं यद्यावदर्थानामस्ति ग्राहकशक्तिमत् ।
क्षायोपशमिकं तावदस्ति नौदयिकं भवेत् ॥ १०१९ ॥

अर्थ—पदार्थोंके ग्रहण करनेकी शक्ति रखनेवाला जितना भी ज्ञान है वह सब क्षायोपशमिक ज्ञान है, औदयिक नहीं है ।

सु-अवधि और कु-अवधि—

अस्ति क्वचिदवधिज्ञानं हेतोः कुतश्चिदन्तरात् ।
ज्ञानं स्यात्सम्यगवधिरज्ञानं कुत्सितोऽवधिः ॥ १०२० ॥

अर्थ—किसी कारणवश अवधिज्ञानके दो भेद हो जाते हैं । सम्यक् अवधिको ज्ञान कहते हैं तथा मिथ्या-अवधिको अज्ञान कहते हैं । भावार्थ—ज्ञानसे तात्पर्य सम्यग्ज्ञानका

है । जो ज्ञान मिथ्यादर्शनके उदयके साथ होता है उसे ही मिथ्या अवधि कहते हैं । सम्यग्दर्शनके साथ होनेवाले अवाधज्ञानको सम्यक् अवधि कहते हैं । प्रायः अवधिज्ञान कहनेसे सम्यक् अवधिका ही ग्रहण किया जाता है । मिथ्या अवधिको विभङ्गज्ञान, शब्दसे उच्चारण किया जाता है ।

मति श्रुत भी दो प्रकार है—

अस्ति द्वेधा मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं च स्याद्द्विधा ।
सम्यङ् मिथ्याविशेषाभ्यां ज्ञानमज्ञानमित्यपि ॥१०२१॥

अर्थ—मतिज्ञान भी दो प्रकार है और श्रुतज्ञान भी दो प्रकार है, एक ज्ञान एक अज्ञान । सम्यग्ज्ञानको ज्ञान कहते हैं, और मिथ्याज्ञानको अज्ञान कहते हैं ।

त्रिषु ज्ञानेषु चैतेषु यत्स्याद्ज्ञानमर्थतः । *
क्षायोपशमिकं तत्स्यान्नस्यादौदयिकं क्वचित् ॥ १०२२ ॥

अर्थ—इन तीनों ज्ञानोंमें अर्थात् कुमति, कुश्रुत, कुअवधिमें जो अज्ञान है वह वास्तवमें क्षायोपशमिक ज्ञान है वह अज्ञान कहीं औदयिक नहीं है । भावार्थ—मिथ्याज्ञान भी अपने अपने आवरणोंके क्षयोपशमसे ही होते हैं इसलिये वे भी क्षायोपशमिक भाव हैं, वे मिथ्यादर्शनके उदयके साथ होते हैं इसीलिये मिथ्याज्ञान कहलाते हैं । मिथ्यात्वके उदयसे उसके अविनाभावी ज्ञान भी पदार्थको विपरीत रूपसे ही जानते हैं। परन्तु जानना क्षायोपशमिक ज्ञान है ।

औदयिक ज्ञान—

अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम् ।
तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥ १०२३ ॥

अर्थ—जो अज्ञानभाव औदयिक भावोंमें कहा गया है वह शून्यतारूप है, जैसे कि चेतनके निकल जानेपर शरीर रह जाता है । भावार्थ जीवके इक्कीस औदयिक भावोंमें अज्ञान भी है । वह अज्ञानभाव जीवकी औदयिक अवस्था है । जब तक इस आत्मामें सर्व पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता है अर्थात् जबतक केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है तब तक उसके अज्ञानभाव रहता है । यह भाव ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होता है । पदार्थ विषयक अज्ञान होना ही उसका स्वरूप है । अर्थात् जितने अंशोंमें ज्ञानावरण कर्मका उदय रहता है उतने ही अंशोंमें अज्ञान भाव रहता है, जैसे अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण कर्मोंका आजकल यहांपर सब जीवोंके उदय हो रहा है इसलिये वे सब अज्ञान भाव सहित हैं । वह अज्ञान क्षायोपशमिक नहीं है, यदि वह क्षायोपशमिक

* संशोधित पुस्तकमें ' यदज्ञानत्वमर्थतः ' ऐसा पाठ है । क्योंकि अज्ञानोंमें अज्ञानत्व-धर्म रहता है ।

होता तो औदयिक भावोंमें नहीं गिनाया जाता, इसका कारण भी यही है कि क्षायोपशमिक ज्ञान भी आत्माका गुण है, जितने अंशोंमें भी ज्ञान प्रकट होजाता है वह आत्माका गुण ही है, और जो आत्माका गुण है वह औदयिकभाव हो नहीं सकता, क्योंकि उदय तो कर्मोंका ही होता है, कहीं आत्माके गुणोंका उदय नहीं होता है। इसलिये कर्मोंके उदयसे होनेवाली आत्माकी अज्ञान अवस्थाको ही अज्ञानभाव कहते हैं वही अज्ञान औदयिक है। जो भाव ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है वह क्षायोपशमिक भाव है। इसलिये ही कुमति, कुश्रुत और कुअवधिको क्षायोपशमिक भावोंमें शामिल किया गया है।

सारांश—

एतावतास्ति यो भावो दृङ्मोहस्योदयादपि।
पाकाच्चारित्रमोहस्य सर्वोप्यौदयिकः स हि ॥ १०२४ ॥

अर्थ—इस कथनसे यह बात भी सिद्ध हुई कि जो भाव दर्शन मोहनीयके उदयसे होता है और जो भाव चारित्र मोहनीयके उदयसे होता है वह सभी औदयिक है।

तथा—

न्यायादप्येवमन्येषां मोहादिघातिकर्मणाम्।
यावाँस्तत्रोदयाज्जातो भावोस्त्यौदयिकोऽखिलः ॥ १०२५ ॥

अर्थ—इसी प्रकार और भी मोहको आदि लेकर जितने घातिया कर्म हैं उन सबके उदयसे जो आत्माका भाव होता है वह सब भी न्यायानुसार औदयिक भाव है।

विशेष—

तत्राप्यस्ति विवेकोऽयं श्रेयानत्रोदितो यथा।
वैकृतो मोहजो भावः शेषः सर्वोपि लौकिकः ॥ १०२६ ॥

अर्थ—ऊपर कहे हुए कथनमें इतना समझ लेना और अच्छा है कि घातिया कर्मोंमें मोहनीय कर्मके उदयसे जो भाव होता है वही वैकृत (वैभाविक) भाव है। बाकीके सभी कर्मोंके उदय से जो भाव होता है वह लौकिक है। भावार्थ—वास्तवमें जो भाव मोहनीय कर्मके उदयसे होता है वही विकारी है। वही भाव आत्माकी अशुद्धताका कारण है, उसीसे सम्पूर्ण कर्मोंका बन्ध होता है और उसीके निमित्तसे यह आत्मा अशुद्ध रूप धारण करता हुआ अनन्त संसारमें भ्रमण करता रहता है, बाकीके कर्म अपने प्रतिपक्षी गुणको ढकते मात्र हैं। न तो वे कर्मबन्ध ही करनेमें समर्थ हैं और न उस घातिकी अशुद्धता ही करते हैं।

स यथाऽनादिसन्तानात् कर्मणोऽच्छिन्नधारया।
चारित्रस्य दशश्च स्यान्मोहस्यास्त्युदयाचितः ॥ १०२७ ॥

अर्थ—वह विकृत-मोहरूप भाव दर्शनमोहनीय तथा चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होता है। इन दोनों कर्मोंका उदय बराबर अनादि सन्तति रूपसे संसारी जीवोंके हो रहा है। इन्ही दोनों कर्मोंके उदयसे आत्माकी जो विकारावस्था हो रही है उसे ही मोहरूप औदयिक भाव कहते हैं।

तत्रोल्लेखो यथासूत्रं दृङ्मोहस्योदये सति।
तत्त्वस्याऽप्रतिपत्तिर्वा मिथ्यापत्तिः शरीरिणाम् ॥ १०२८ ॥

अर्थ—सूत्रानुसार उस दर्शनमोहनीयके विषयमें ऐसा उल्लेख (कथन) है कि दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेपर जीवोंको तत्त्वकी प्रतीति (श्रद्धान) नहीं होती है अथवा मिथ्या प्रतीति होती है। भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदय होनेपर इस जीवकी विपरीत ही बुद्धि हो जाती है। उसे उपदेश भी दिया जाय तो भी ठीक२ पदार्थोंको वह ग्रहण नहीं करता है, यदि करे भी तो उल्टे रूपसे ही ग्रहण करता है। मिथ्यात्वका ऐसा ही माहात्म्य है*

इसीका खुलासा—

अर्थादात्मप्रदेशेषु कालुष्यं दृग्विपर्ययात्।
तत्स्यात्परिणतिमात्रं मिथ्याजात्यनतिक्रमात् ॥ १०२९ ॥

अर्थ—अर्थात् सम्यग्दर्शनकी विपरीत अवस्था हो जानेसे आत्माके प्रदेशोंमें कलुषता आ जाती है और वह कलुषता आत्माका मिथ्यात्वरूप परिणाम विशेष है।

तत्र सामान्यमात्रत्वादस्ति वक्तुमशक्यता।
ततस्तल्लक्षणं वच्मि संक्षेपादबुद्धिपूर्वकम् ॥ १०३० ॥

अर्थ—वह मिथ्यात्वरूप परिणाम सामान्य स्वरूपवाला है इसलिये उसके विषयमें कहा नहीं जासकता। अतएव बुद्धिपूर्वक उसका लक्षण संक्षेपसे कहते हैं। भावार्थ—एकेन्द्रियादि जीवोंके जो मिथ्यात्वका उदय हो रहा है वह अबुद्धिपूर्वक है—सामान्य है इसलिये विवेचनमें नहीं आ सकता है। अतः उसका बुद्धिपूर्वक लक्षण संक्षेपसे कहा जाता है।

अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी सिद्धि—

निर्विशेषात्मके तत्र न स्याद्धेतोरसिद्धता।
स्वसंवेदनसिद्धत्वाद्युक्तिस्वानुभवागमैः ॥ १०३१ ॥

अर्थ—सामान्य अर्थात् अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वकी किसी हेतुसे असिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि अबुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व स्वसंवेदन ज्ञानसे भलीभांति सिद्ध है। तथा युक्ति, अपने

* मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं। गोमट्टसार।

अनुभव और आगमसे भी सिद्ध है। भावार्थ–हर एक संसारी जीवके मिथ्यात्वका उदय हो रहा है यह बात आगमसे तो सिद्ध है ही, किंतु युक्ति और अपने अनुभवसे भी सिद्ध है। इसी बातको नीचेके श्लोकसे स्पष्ट करते हैं—

सर्वसंसारिजीवानां मिथ्याभावो निरन्तरम् ।
स्याद्विशेषोपयोगीह केषाञ्चित् संज्ञिनां मनः ॥ १०३२ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवोंके निरन्तर मिथ्याभाव होरहा है, परन्तु किन्हीं संज्ञी जीवोंका मन उस मिथ्याभावकी ओर विशेष उपयोगवाला हो रहा है। **भावार्थ**–यद्यपि सामान्य रीतिसे असंज्ञी जीवों तक तो सभीके मिथ्यात्व कर्मका उदय होरहा है, संज्ञियोंमें भी बहु भाग जीव मिथ्यात्वसे ग्रसित होरहे हैं, वे सभी उस मिथ्यात्वके उदयसे उसी प्रकार मूर्छित होरहे हैं जिस प्रकार कि गाढ़ रीतिसे मदिरा पीनेवाला मूर्छित होजाता है। जिस प्रकार मद्यपायी पुरुषको कुछ खबर नहीं रहती है उसी प्रकार उन जीवोंको भी कुछ खबर नहीं है, कर्मोंके फलको भोगते जाते हैं और नवीन कर्मोंका बन्ध भी करते जाते हैं। अनन्त कालतक उनकी ऐसी ही अवस्था रहती है। वे अपने समीचीन गुण पुञ्जको खोचुके हैं, निपट अज्ञानी भी बन चुके हैं, परन्तु उनकी यह अवस्था अज्ञानभावोंमें ही लिप्त रहती है असंज्ञी जीव कर्मबन्ध करनेमें तथा उसका फल भोगनेमें बुद्धिपूर्वक उपयुक्त नहीं होसकते हैं। बुद्धिपूर्वक उपयोग लगानेमें संज्ञी जीव ही समर्थ हैं इसलिये कितने ही संज्ञी जीव अपने उपयोगको उस मिथ्याभावकी ओर विशेषतासे लगाते हैं, अर्थात् वे मिथ्या सेवनमें जान बूझ कर अपनी प्रवृत्ति करते हैं। तथा दूसरे जीवोंको भी उसमें लगाते हैं ऐसे ही जीव बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व सेवी कहे जाते हैं।

अथवा—

तेषां वा संज्ञिनां नूनमस्त्यनवस्थितं मनः ।
कदाचित् सोपयोगि स्यान्मिथ्याभावार्थभूमिषु ॥ १०३३ ॥

अर्थ—अथवा उन संज्ञी जीवोंका मन चञ्चल रहता है इसलिये मिथ्याभाव पूर्वक पदार्थोंमें कभी २ उपयुक्त होता है। भावार्थ–कोई संज्ञी जीव मिथ्यात्व प्रवृत्तिमें सदा लगे रहते हैं और कोई कभी २ लगते हैं।

सारांश—

ततो न्यायागतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः ।
दृङ्मोहस्योदयादेव वर्त्तते वा प्रवाहवत् ॥ १०३४ ॥

अर्थ–इसलिये यह बात न्यायसंगत है कि इस जीवके दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे ही स्वयं मिथ्याभाव हो रहा है, और उसका प्रवाह अनादिकालसे अनन्तकाल तक चला जाता है।

मिथ्यात्वका कार्य—

कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत् ॥
स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः ॥ १०३५ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयका कार्य प्रत्यक्षसे ही सिद्ध है कि आत्माके स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होने पाती। यदि दर्शनमोहनीय कर्मका उदय न होता तो अवश्य ही आत्माके निज स्वरूपकी उपलब्धि हो जाती। इसलिये आत्माके स्वरूपको नष्ट करना ही दर्शनमोहनीय कर्मका कार्य है।

स्वरूपानुपलब्धिका फल—

स्वरूपानुपलब्धौ तु बन्धः स्यात्कर्मणो महान्।
अत्रैवं शक्तिमात्रं तु वेदितव्यं सुदृष्टिभिः ॥१०३६॥

अर्थ—आत्माके स्वरूपकी अनुपलब्धि होनेसे कर्मोंका तीव्र बन्ध होता है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टियोंको जान लेना चाहिये कि दर्शनमोहनीय कर्ममें ऐसी शक्ति है।

प्रसिद्धैरपि भास्वद्भिरलं दृष्टान्तकोटिभिः
अत्रेत्थमेवमेवं स्यादलङ्घ्या वस्तुशक्तयः ॥१०३७॥

अर्थ—प्रसिद्ध तथा ज्वलन्त (पुष्ट)ऐसे करोड़ो दृष्टान्त भी यदि दिये जांय तो भी यही बात सिद्ध होगी कि मोहनीय कर्ममें इसी प्रकारकी शक्ति है, जिस वस्तुमें जो शक्ति है वह अनिवार्य है। मोहनीय कर्ममें आत्माके स्वरूपको नष्ट करनेकी शक्ति है, इस शक्तिको उस कर्मसे कोई दूर नहीं कर सक्ता है। क्यों कि भिन्न २ पदार्थोंकी भिन्न २ ही शक्तियां होती हैं और जो जिसका स्वभाव है वह अमिट है।

शंका—

सर्वे जीवमया भावा दृष्टान्तो बन्धसाधकः।
एकत्र व्यापकः कस्मादन्यत्राऽव्यापकः कथम् ॥ १०३८॥

अर्थ—जब कि जीवोंके सभी भाव बंधके साधक हैं और इसमें दृष्टांत भी मिलता है, जैसे क्रोध मान मतिज्ञान आदि। फिर यह नियम जिसप्रकार अन्यभावोंमें व्याप्त होकर रहता है उसी प्रकार स्वरूपोपलब्धिमें क्यों नहीं व्याप्त होकर रहता ?

उत्तर—

अथ तत्रापि केषाञ्चित् संज्ञिनां बुद्धिपूर्वकः।
मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्थाकृतिसंस्थितः ॥१०३९॥

अर्थ—किन्हीं २ संज्ञी जीवोंके बुद्धिपूर्वक—गृहीत मिथ्यात्व होता है, वह पदार्थोंमें

मिथ्या भावको लिये हुए होता है। भावार्थ—बंधका कारण असलमें मिथ्यात्व भाव है और इसके मूल मिथ्यादर्शन व मिथ्याचारित्र ये दो भेद हैं और उत्तर भेद असंख्यात लोक हैं। मिथ्यात्वके संबंधसे ही अन्य भाव भी बंधके कारण कहलाते हैं इसलिये मिथ्यात्वके सहचारी भावोंमें बंधके साधकपनेका नियम व्याप्त होकर रहजाता है और स्वरूपोपलब्धि मिथ्यादर्शनका सहचारी भाव नहीं है इसलिये उसमें यह नियम व्याप्त होकर नहीं रहता।

अर्थादेकविधः स स्याज्जातेरनतिक्रमादिह।
लोकासंख्यातमात्रः स्यादालापापेक्षयापि च ॥१०४०॥

अर्थ—अर्थात् वह मिथ्याभाव जातिकी अपेक्षासे एक प्रकार है, अर्थात् मिथ्याभावोंके जितने भी भेद हैं उन सबोंमें मिथ्यात्व है इसलिये मिथ्यात्वकी अपेक्षासे तो कौनसा ही मिथ्या भाव क्यों न हो सब एक ही है, और आलाप (भेदों) की अपेक्षासे वह असंख्यात लोक प्रमाण है।

आलापोंके भेद—

आलापोप्येकजातिर्यो नानारूपोप्यनेकधा।
एकान्तो विपरीतश्च यथेत्यादिक्रमादिह ॥१०४१॥

अर्थ—जो एक जातिका आलाप (भेद) है वह भी अनेक रूपोंमें विभक्त होनेसे अनेक प्रकार है। जैसे—एकान्त मिथ्यात्व, विपरीत मिथ्यात्व इत्यादि। भावार्थ—मिथ्यात्व कर्मके अनेक भेद हैं परन्तु जो एक भेद है वह भी अनेक प्रकारका है, कभी इस जीवके विपरीत भाव होता है, कभी एकान्तभाव होता है, कभी संशयभाव होता है, कभी अज्ञानभाव होता है कभी विनयभाव होता है इत्यादि सभी भाव मिथ्यात्वके एक भेदमें ही गर्भित है। इसका खुलासा इस प्रकार है कि हर एक कर्मके अनेक भेद होते हैं और उन अनेक भेदोंमें प्रत्येक भेदका भी तरतमस्वरूप अनेक प्रकार होता है। दृष्टान्तके लिये ज्ञानावरण कर्मको ही लेलीजिये ज्ञानावरण कर्मके सामान्य रीतिसे पांच भेद हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण मनःपर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण। उनमें जो मतिज्ञानावरण है वह भी अनेक प्रकार है, किसी वर्गणामें * तीव्र अनुभाग बन्ध होता है और किसीमें कम होता है, किसी वर्गणाकी स्थिति अधिक पड़ती है, किसीकी कम पड़ती है। तथा एक प्रकारकी रसशक्ति रखने वाले भी कर्म भिन्न भिन्न कार्यों द्वारा फलीभूत होते हैं। इन्हीं कर्मोंके भेद प्रभेदोंसे आत्माके भाव भी अनेक प्रकारके होते रहते हैं। वास्तवमें आत्माका ज्ञान गुण एक है, उसके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि भेद केवल कर्मोंके निमित्तसे हुए हैं, और उन भेदोंमें भी

* वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं। समान अविभाग प्रतिच्छेदोंका धारण करनेवाले कर्मपरमाणुओं को वर्ग कहते हैं। भिन्न २ वर्ग समूहको भिन्न २ वर्गणायें होती हैं।

अनेक भेद हैं। किसी जीवके अधिक मतिज्ञान पाया जाता है किसीके कम पाया जाता है, जितने भी मतिज्ञान धारी हैं सभी कुछ न कुछ भेदको लिये हुए हैं। इसी प्रकार सभी कर्मोंके अनेक भेद हैं और उन्हींके निमित्तसे उनके प्रतिपक्षी गुणोंमें न्यूनाधिकता पाई जाती है। प्रकृतमें मिथ्यात्वके असंख्यात भेद तो बतलाये गये, अब उसीके शक्तिकी अपेक्षासे अनन्त भेद बतलाये जाते हैं—

अथवा शक्तितोऽनन्तो मिथ्याभावो निसर्गतः।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥ १०४२ ॥

अर्थ—अथवा शक्तिकी अपेक्षासे वह मिथ्यात्व परिणाम स्वभावसे अनन्त प्रकार है क्योंकि एक एक आलापके प्रति अनन्त २ शक्तियां होती हैं। **भावार्थ**—प्रत्येक आलाप अनंतानंत वर्गणाओंका समूह है और प्रत्येक वर्गणामें अनन्तानन्त परमाणुओंका समूह रहता है, इसलिये प्रत्येक परमाणुमें प्रतिपक्षी गुणको घात करनेकी शक्ति होनेसे उस कर्मके तथा उसके प्रतिपक्षी गुणके भी अनंत भेद हो जाते हैं, तथा अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा भी अनन्त भेद हैं।

तथा—

जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैर्वा परिणामिनः।
शक्तिभेदात्क्षणं यावदुन्मज्जन्ति पुनः पृथक् ॥१०४३॥

कारं कारं स्वकार्यत्वाद्बन्धकार्यं पुनः क्षणात्।
निमज्जन्ति पुनश्चान्ये प्रोन्मज्जन्ति यथोदयात् ॥१०४४॥

अर्थ—उन कर्मोंकी जितनी भी शक्तियां हैं वे सब प्रतिक्षण परिणमनशील हैं, इसलिये वे यथायोग्य जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भावों द्वारा परिणमन करती हुई भिन्न रूपसे प्रगट होती हैं। और बन्धरूप कार्य कर करके शीघ्र ही शान्त हो जाती हैं। उनके शान्त होते ही दूसरी शक्तियां अपने उदयानुसार प्रगट होजाती हैं। उन शक्तियोंका बन्ध करना ही एक कार्य है। **भावार्थ**—जो कर्म जिस भावसे उदय होता है अर्थात् जघन्यरूपसे अथवा उत्कृष्टरूपसे जितनी भी फलदान शक्तिको लेकर उदयमें आता है वह उसी रूपसे अपना फल देता है साथ ही नवीन कर्मोंका बन्ध करता है, इतना कार्य कर वह नष्ट होजाता है और दूसरा कर्म उदयमें आने लगता है। इसी प्रकार वह भी अपनी अपनी शक्तिके अनुसार फल देकर तथा नवीन कर्मोंका बन्ध करके नष्ट हो जाता है, इसी क्रमसे पहले २ बाँधे हुए कर्म उदयमें आते हैं और नवीन २ कर्म बँधते रहते हैं, यह क्रम तब तक बराबर रहता है जबतक कि कारणभूत मोहनीय कर्म शान्त नहीं होता है।

बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वके कतिपय दृष्टान्त—

बुद्धिपूर्वकमिथ्यात्वं लक्षणाल्लक्षितं यथा ।
जीवादीनामश्रद्धानं श्रद्धानं वा विपर्ययात् ॥ १०४५ ॥

अर्थ—बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्वका जो लक्षण किया गया है वह इस प्रकार है—जीवादिक पदार्थोंका श्रद्धान नहीं करना, अथवा उनका उल्टा श्रद्धान करना।

तथा—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रागेवात्रापि दर्शिताः ।
नित्यं जिनोदितैर्वाक्यैर्ज्ञातुं शक्या न चान्यथा १०४६ ॥
दर्शितेष्वेपि तेषूच्चैर्जैनैः स्याद्वादिभिः स्फुटम् ॥
न स्वीकरोति तानेव मिथ्याकर्मोदयादपि । * ॥ १०४७ ॥

अर्थ—सूक्ष्म पदार्थ—परमाणु धर्मादि द्रव्य, अन्तरित पदार्थ—राम रावणादि, दूरवर्ती पदार्थ—सुमेरु अकृत्रिम चैत्यालय आदि। इसका वर्णन पहले भी आचुका है। ये पदार्थ जिनेन्द्र कथित—आगमसे ही जाने जा सक्ते हैं अन्यथा नहीं। इन पदार्थोंका स्याद्वाद पारंगत आचार्योंने अच्छी तरह शास्त्रोंमें विवेचन किया है परन्तु मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि पुरुष उनको नहीं स्वीकार करता है। **भावार्थ**—जैनाचार्योंने प्रथमानुयोग—शास्त्रोंमें मोक्षगामी—उत्तम पुरुषोंके जीवन चरित्र लिखे हैं परन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष उस कथनको ही मिथ्या समझता है, वह समझता है कि जिन राम रावणादिका चरित आचार्योंने लिखा है वह केवल काल्पनिक है वास्तवमें राम रावण आदिक हुए नहीं हैं। यह आचार्योंकी कल्पना उपन्यासकी तरह समझानेके लिये है। इसी प्रकार सुमेरु, विदेह आदि जो उसके सर्वथा परोक्ष हैं उन्हें भी वह मिथ्या समझता है। मिथ्यात्व कर्मने उसकी आत्मापर इतना गहरा प्रभाव डाल दिया है जिससे कि उसकी बुद्धि सत्पदार्थोंकी ओर जाती ही नहीं है। वास्तवमें जबतक तीव्र कर्मका प्रकोप इस आत्मापर रहता है तबतक इसका कल्याण होता ही नहीं है। जिन जीवोंका कर्म शान्त हो जाता है उनके अन्तरंग किवाड़ तुरन्त खुल जाते हैं और उसी समय वे सुपथमें लग जाते हैं। स्वामी विद्यानन्दि गौतम गणधर आदिके ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो कि पहले मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उन्हीं पदार्थोंको भ्रमरूप समझते थे परन्तु पीछे निमित्तवश मिथ्यात्व कर्मके हट जानेसे उन्हीं पदार्थोंको यथार्थ समझने लगे। जो लोग उन्हीं आचार्योंकी कही हुई तत्त्व फिलासिफी (तत्त्व सिद्धान्त)को ठीक मानते हैं और उन्हीं आचार्योंकी कही हुई प्रथमानुयोग कथनीको काल्पनिक समझते हैं उन्हें सोचना चाहिये कि

* मिथ्याकर्मोदयादधीः ऐसा संशोधित पुस्तकमें पाठ है।

आचार्योंको ऐसी क्या आवश्यकता पड़ी थी जो कि विना किसी प्रयोजनके कल्पना करके लोगोंको ठगते? यदि यही कर्तव्य उनको करना शेष था तो क्यों सांसारिक सुखका परित्याग कर कठिन तप करनेके लिये भयास्पद जंगलको उन्होंने निवास स्थान बनाया था? यदि कहा जाय कि अपना कल्याण करनेके लिये तो दूसरे लोगोंको प्रतारण करना आत्मकल्याण नहीं कहा जा सकता है? इसलिये आचार्योंकी कृतिको जो मिथ्या बतलाते हैं वे विचारे मिथ्यात्व कर्मोदयके सताये हुए हैं। दूसरी बात यह है कि कल्पनासे शिक्षा अवश्य मिलती है परंतु निश्चय पथका परिज्ञान कभी नहीं हो सकता, और विना निश्चय पथका परिज्ञान हुए उस शिक्षाको सुखद शिक्षा नहीं कहा जा सकता। पद्मपुराणमें लिखा है कि रावणने कैलाश पर्वत उठानेके पीछे उस पर्वत पर जब चैत्यालय और मुनिमहाराजके दर्शन किये तब भक्तिके वश अपने हाथकी नशको चिकाड़ा बना कर उनके गुणोंका गद्गद गान किया। इसी प्रकार वज्रजंघने मुनिमहाराजके दर्शन कर अणुव्रतोंको ग्रहण किया, अथवा रामचंद्रको सीताके जीवने बहुत कुछ विचलित करनेका उद्योग किया, परंतु वे ध्यानमें दृढ़ ही बने रहे, किञ्चिन्मात्र भी विचलित न होसके, इत्यादि बातोंको यदि ठीक माना जाता है तब तो मनुष्य उसी प्रकारकी क्रियाओंसे अपने भावोंका सुधार कर सक्ते हैं और रावणके समान भक्तिरसमें मग्न हो सक्ते हैं, वज्रजंघके समान अपने अनर्थोंको छोड़ सक्ते हैं, रामचन्द्रके तुल्य ध्यानमें निश्चल-उपयोगी बन सक्ते हैं। अंजनचोर सरीखे पुरुषोंके आगे पीछेके कर्त्तव्योंसे भावोंका वैचित्र्य जान सक्ते हैं। परन्तु इन सब बातोंको काल्पनिक समझनेसे कुछ कार्य सिद्ध नहीं हो सक्ता है, क्योंकि कल्पनामें रावण-उसकी भक्ति, रामचन्द्र-उनका ध्यान, वज्रजंघ-उसका सुधार, अंजनचोर-उसकी काया पलट, ये सब कार्य मिथ्या ही प्रतीत होंगे। ऐसी अवस्थामें किस आधार पर और किस आदर्शसे सुधारकी यथार्थ शिक्षा ली जा सकी है! किसीने पाप किया वह नरकको गया, किसीने पुण्य किया वह स्वर्गको गया, यह पाप पुण्यका फल भी मिथ्या ही प्रतीत होगा, क्योंकि कल्पनामें न कोई स्वर्ग गया और न नरक गया, ऐसी अवस्थामें नरक स्वर्ग व्यवस्था भी उड़ जाती है। केवल वे ही बातें शेष रह जाती हैं जो कि संसारमें-व्यवहारमें आ रही हैं, परोक्ष पदार्थ कुछ पदार्थ नहीं ठहरते। परोक्ष पदार्थोंमें बुद्धि न जानेसे अज्ञानी पुरुष लोकको भी उतना ही समझता है जितना कि वह देखता है। ऐसा विपरीत भाव मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होता है।

मिथ्यात्व कर्मोदयसे होनेवाले भाव—

ज्ञानानन्दौ यथा स्यातां मुक्तात्मनो यदन्वयात्।
विनाप्यक्षशरीरेभ्यः प्रोक्तमस्त्यस्ति वा न वा ॥ १०४८ ॥

अर्थ—ज्ञान और सुख आत्माके गुण हैं इसलिये वे इन्द्रिय और शरीरके विना भी मुक्त जीवके निरन्तर रहते हैं, इसी विषयमें मिथ्यादृष्टि विचार करता है कि यह कहना ठीक है अथवा ठीक नहीं है। भावार्थ—ज्ञान और सुख आत्माके निज गुण हैं। गुणोंका कभी नाश नहीं होता है यदि गुणोंका ही नाश हो जाय तो द्रव्यका भी नाश हो जाय, और द्रव्यका नाश होनेसे शून्यताका प्रसंग आवेगा इसलिये गुण पुञ्ज-द्रव्य सदा टङ्कोत्कीर्णके समान अखण्ड रहता है परन्तु संसारमें ज्ञान और सुखका अनुभव शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा ही होता रहता है। यद्यपि इन्द्रियोंसे आत्मीक सुखका स्वाद नहीं आता है। आत्माका सुख तो आत्मामें ही स्वयं होता है, इन्द्रियां तो उसकी बाधक हैं इन्द्रियों द्वारा जो सुख होता है वह केवल शुभ कर्मका फलस्वरूप है, तथापि मिथ्यादृष्टि उसी सुखको आत्मीक सुख समझने लगता है, इन्द्रियजन्य ज्ञानको ही वह यथार्थ-प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान समझता है। और उसी समझके अनुसार वह यह भी कल्पना करता है कि बिना इन्द्रिय और शरीरके सुख और ज्ञान हो ही नहीं सक्ते हैं। इसीलिये वह मुक्तात्माओंके ज्ञान, सुखमें सन्देह करता है कि बिना शरीर और इन्द्रियोंके मुक्तात्माओंके ज्ञान और सुख जो बताया है वह हो सक्ता है या नहीं? वास्तवमें इन्द्रियजन्य ज्ञान सीमाबद्ध और परोक्ष होता है, जहांपर इन्द्रियोंसे रहित-अतीन्द्रिय ज्ञान होता है वहीं पर उसमें पूर्णता और निर्मलता आती है। मुक्त जीवोंके जो ज्ञान होता है वह अतीन्द्रिय होता है। इसी प्रकार उनके जो सुख होता है वह इन्द्रियोंसे सर्वथा विलक्षण होता है, इन्द्रियजन्य जो सुख है वह कर्मोदय जनित है इसलिये दुःख ही है। मिथ्यादृष्टि दुःखको ही सुख समझता है।

और भी—

स्वतः सिद्धानि द्रव्याणि जीवादीनि किलेति षट्।
प्रोक्तं जैनागमे यत्तत्स्याद्वा नेच्छेदनात्मवित् ॥ १०४९ ॥

अर्थ—जैन शास्त्रोंमें स्वतः सिद्ध जीवादिक छह द्रव्य कहे गये हैं वे हो सक्ते हैं वा नहीं? ऐसी भी आशंका वह आत्मस्वरूपको नहीं जाननेवाला-मिथ्यादृष्टि करता है।

और भी—

नित्यानित्यात्मकं तत्त्वमेकं चैकपदे च यत्।
स्याद्वा नेति विरुद्धत्वात् संशयं कुरुते कुदृक् ॥ १०५० ॥

अर्थ—पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, एक ही पदार्थमें नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म रहते हैं। इस विषयमें भी मिथ्या दृष्टि संशय करता है कि एक पदार्थमें नित्यत्व और अनित्यत्व दो धर्म रह सक्ते हैं या नहीं? वह समझता है कि नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म

परस्पर विरोधी हैं इस लिये उनका एक पदार्थमें रहना अशक्य है । भावार्थ—पदार्थ द्रव्य दृष्टिसे सदा रहता है उसका कभी भी नाश नहीं होता है । परन्तु पर्याय दृष्टिसे वह अनित्य है । जैसे मनुष्य मरकर देव हो जाता है । यहां पर जीवकी मनुष्य पर्यायका तो नाश हो गया और देव पर्यायका उत्पाद हो गया परन्तु जीवका न तो नाश हुआ है और न उत्पाद हुआ है । जो जीव मनुष्य पर्यायमें था वही जीव अब देव पर्यायमें है, इस लिये जीवद्रव्यकी अपेक्षासे तो जीव नित्य है परन्तु जीवकी पर्यायोंकी अपेक्षासे जीव अनित्य है अतः जीवमें कथंचित् नित्यता, और कथंचित् अनित्यता दोनों ही धर्म रहते हैं, परन्तु जिस अपेक्षासे नित्यता है उस अपेक्षासे अनित्यता नहीं है, यदि जिस अपेक्षासे जीवमें नित्यता है उसी अपेक्षासे उसमें अनित्यता भी मानी जावे तब तो अवश्य विरोध संभव है परन्तु अपेक्षाके न समझनेसे ही मिथ्या दृष्टि इन धर्मोंको विरोधी समझता है ।

और—

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्मकर्मसु ।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दृङ्मोहस्य विजृम्भितम् ॥ १०५१ ॥

अर्थ—कर्म-ज्ञानावरणादि, नो कर्म-शरीरादि जो आत्मासे भिन्न पदार्थ हैं उन पदार्थों में ९ मैं आत्मा हूं, इस प्रकार जो बुद्धि होती है वह दर्शनमोहकी चेष्टा है । भावार्थ—दर्शन मोहनीयके उदयसे यह जीव शरीरादि जड़ पदार्थोंको ही आत्मा समझता है ।

और—

अदेवे देवबुद्धिः स्यादगुरौ गुरुधीरिह ।
अधर्मे धर्मबुद्धिश्च दृङ्मोहस्यानुशासनात् ॥ १०५२ ॥

अर्थ—दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे यह जीव अदेवमें देवबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि और अधर्ममें धर्मबुद्धि करता है ।

और भी—

धनधान्यसुताद्यर्थं मिथ्यादेवं दुराशयः ।
सेवते कुत्सितं कर्म कुर्याद्वा मोहशासनात् ॥ १०५३ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मके वशीभूत होकर यह जीव अनेक खोटे २ आशयोंको हृदयमें रखकर धन धान्य पुत्र आदिकी प्राप्तिके लिये मिथ्या देवोंकी सेवा करता है । तथा नीच कर्म भी करता है । भावार्थ—जो लोग वरकी इच्छासे चण्डी, मुण्डी, भैरों, नगरसेन, माता आदि कुदेवोंकी पूजा करते हैं तथा जो हिंसादिक निंद्य कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं वे सब मिथ्यात्व कर्मके वशीभूत हैं ।

सारांश—

सिद्धमेतन्नु ते भावाः प्रोक्ता येऽपि गतिच्छलात्।
अर्थादौदयिकास्तेपि मोहद्वैनोदयात्परम् ॥ १०५४ ॥

अर्थ—यह बात सिद्ध हो गई कि गतिके बहानेसे जो भाव कहे गये हैं वे भी गति कर्मके साथ उदयमें आनेवाले मोहनीय कर्मके उदयसे औदयिक हैं। भावार्थ—कुछ ऊपर नामकर्मके भेदोंमें गति कर्मका विवेचन करते हुए उसे औदयिक भावोंमें गिनाया है, और यह बतला दिया है कि नारक, तिर्यग्, मनुष्य, देव इन चारों पर्यायोंमें आत्माके भाव भिन्न २ रीतिसे असाधारण होते हैं। जैसी पर्याय होती है उसीके अनुसार आत्माकी भाव सन्तति भी होजाती है। अर्थात् जिस पर्यायमें यह आत्मा जाता है उसी पर्यायके अनुसार इसके भावोंकी रचना हो जाती है इसलिये गति कर्म औदयिक है। यहां पर किसीने शंका की थी कि गति कर्म तो नाम कर्मका भेद होनेसे अघातिया कर्म है, उसमें आत्माके भावोंको परिवर्त्तन करनेकी योग्यता कहांसे आसक्ती है? इस शंकाके उत्तरमें यह कहा गया है कि उस गति कर्मके उदयके साथ ही मोहनीय कर्मका भी उदय हो रहा है इसलिये वही आत्माके भावोंके परिवर्तनका कारण है? और नारकादि पर्याय उस परिवर्तनमें सहायक कारण है, क्योंकि नारकादि भिन्न २ पर्यायोंके निमित्तसे ही भिन्न २ द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी योग्यता मिलती है और जिस प्रकारकी जहां सामग्री है उसीके अनुसार मोहनीयके उदयसे आत्माके भावोंमें परिवर्तन होता है, अर्थात् सामग्रीके अनुसार कर्मोदय विशेष रीतिसे विपच्यमान होता है। इसीलिये गति कर्मके उदयसे होनेवाले भाव भी औदयिक हैं। इनमें अन्तरंग कारण मोहनीय कर्मका उदय ही समझना चाहिये।

यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः।
स स्याद्द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ॥ १०५५ ॥

अर्थ—जहां कहीं भी बुद्धिपूर्वक राग होता है वह दर्शनमोह और चारित्रमोहके पाकसे ही होता है अथवा दोनोंमेंसे किसी एकके पाकसे होता है। भावार्थ—जहां पर दर्शनमोहका उदय है वहां पर चारित्रमोहका भी उदय नियमसे रहता है ऐसे स्थल पर दोनों ही बुद्धिपूर्वक रागके कारण हैं, और जहांपर चारित्रमोहका उदय रहता है वहां दर्शनमोहका उदय रहे या न रहे नियम नहीं है, चौथे गुणस्थानसे ऊपर केवल चारित्रमोहका ही उदय है इसलिये वहां केवल चारित्रमोहके उदयसे राग होता है। जहांपर दोनोंसे होता है वहां पर दर्शनमोह आत्माकी मिथ्या बुद्धि करता है। चारित्रमोह राग करता है। चौथे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके गुणस्थानोंमें बुद्धिपूर्वक राग तो होता है परन्तु वहां पर मिथ्या

बुद्धिपूर्वक राग नहीं होता है । जैसे—मिथ्यादृष्टि शरीरादि भिन्न पदार्थोंमें आत्मत्व बुद्धिसे राग कर सक्ता है परन्तु सम्यग्दृष्टि शरीरादिमें राग अवश्य कर सक्ता है किन्तु आत्मत्व बुद्धिसे नहीं कर सक्ता है । क्योंकि शरीरादिमें आत्मत्वबुद्धि करनेवाला तो केवल दर्शनमोह है ।

सारांश—

एवमौदयिका भावाश्चत्वारो गतिसंश्रिताः ।
केवलं बन्धकर्तारो मोहकर्मोदयात्मकाः ॥ १०५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार गतिकर्मके आश्रयसे चार औदयिक भाव होते हैं । परन्तु बन्धके करनेवाले केवल मोहकर्मके उदयसे होनेवाले ही भाव हैं । भावार्थ—विना मोहनीय कर्मके गति कर्मका उदय कुछ नहीं कर सक्ता है, केवल उदयमें आकर खिर जाता है ।

कषाय भाव—

कषायाश्चापि चत्वारो जीवस्यौदयिकाः स्मृताः ।
क्रोधो मानोऽथ माया च लोभश्चेति चतुष्टयात् ॥१०५७॥
ते चाऽऽत्मोत्तरभेदैश्च नामतोप्यत्र षोडश ।
पञ्चविंशतिकाश्चापि लोकासंख्यातमात्रकाः ॥ १०५८ ॥
अथवा शक्तितोऽनन्ताः कषायाः कल्मषात्मकाः ।
यस्मादेकैकमालापं प्रत्यनन्ताश्च शक्तयः ॥ १०५९ ॥

अर्थ—क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषायें भी जीवके औदयिक भाव हैं । और उन कषायोंके जितने उत्तर भेद हैं वे सब भी औदयिक भाव हैं । कषायोंके उत्तर भेद नामकी अपेक्षासे सोलह भी हैं तथा पच्चीस भी हैं । परन्तु सूक्ष्म दृष्टिसे उनके असंख्यात लोक प्रमाण भी भेद हैं । अथवा शक्तिकी अपेक्षासे उन कषायोंके अनन्त भी भेद हैं । क्योंकि एक २ भेदके प्रति अनन्त अनन्त शक्तियाँ हैं । ये सब कषायें पाप रूप हैं । अर्थात् सभी कषायें आत्माके गुणोंका घात करनेवाली हैं । भावार्थ—सामान्य रूपसे क्रोध मान माया लोभ ये कषायोंके चार भेद हैं, अनन्तानुबन्धि, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, और संज्वलन इन भेदोंकी अपेक्षासे उनके सोलह भेद हैं । अर्थात् इन चारों भेदोंमें क्रोध मान माया लोभ जोड़ देनेसे सोलह भेद हो जाते हैं । इन्हींमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद इन नौ नोकषायोंको जोड़ देनेसे उनके पच्चीस भेद हो जाते हैं । अन्तर्भेद और शक्तियोंकी अपेक्षासे उनके असंख्यात लोकप्रमाण और

अनन्त भेद भी हैं। ÷अनन्तानुबन्धि कषाय आत्माके स्वरूपाचरणचारित्रका घात करती है। ×अप्रत्याख्यानावरण कषाय आत्माके देशचारित्रका घात करती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय। *आत्माके सकल चारित्रका घात करती है। तथा संज्वलन कषाय+ आत्माके यथाख्यातचारित्रका घात करती है। अनन्तानुबन्धि कषायका दूसरे गुणस्थान तक उदय रहता है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका चौथे गुणस्थान तक उदय रहता है। प्रत्याख्यानावरण कषायका पांचवें गुणस्थान तक उदय रहता है। संज्वलन कषायका दशवें गुणस्थान तक उदय रहता है। इन कषायोंका जहां २ तक उदय है वहीं २ तक ये अपने प्रतिपक्षी गुणोंको नहीं होने देती हैं। इन कषायोंका वासनाकाल इस प्रकार है—संज्वलन कषायका अन्तर्मुहूर्त, प्रत्याख्यान कषायका एक पक्ष अर्थात् १५ दिन, अप्रत्याख्यान कषायका छह महीना और अनन्तानुबन्धिका संख्यात, असंख्यात तथा अनन्त भव। वासनाकालका अभिप्राय यह है कि इतने काल तक इनका संस्कार आत्मामें बैठा रहता है। जैसे संज्वलन कषायके संस्कार केवल अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सके हैं। प्रत्याख्यान कषायके संस्कार एकवारके बैठे हुए १५ दिन तक रह सक्ते हैं। इसी प्रकार औरोंका संस्कारकाल समझना चाहिये। इन सबोंमें अनन्तानुबन्धिका संस्कारकाल सबसे अधिक है। उसके संस्कार अनन्त भव तक रह सकते हैं।

चारित्रमोहनीयका कार्य—

अस्ति जीवस्य चारित्रं गुणः शुद्धत्वशक्तिमान्।
वैकृतोस्ति स चारित्रमोहकर्मोदयादिह ॥ १०६० ॥

अर्थ—जीवका एक चारित्र गुण है, वह शुद्ध स्वरूप है परन्तु इस संसारमें चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे वह विकृत हो रहा है अर्थात् अनादि कालसे चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे वह अशुद्ध हो रहा है।

÷ अनन्तं—अनन्तसंसारं, अनुबन्धाति स अनन्तानुबन्धी, अर्थात् जो अनन्त संसारको बाँधे—बढ़ावे उसे अनन्तानुबन्धी कहते हैं। अनन्तानुबन्धीकषाय सम्यग्दर्शनका भी घात करती है इस लिये यह संसारमें अनन्तकाल तक भ्रमण करानेवाली है।

× अ—ईषत्, प्रत्याख्यानं—चारित्रं, आवृणोति—रुणद्धि असौ अप्रत्याख्यानावरणः। अर्थात् जो थोड़े भी—एक देश भी चारित्रको न होने दे उसे अप्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

* प्रत्याख्यानं—सकलचारित्रं, आवृणोतीति प्रत्याख्यानावरणः। अर्थात् जो सकलचारित्रको न होने दे उसे प्रत्याख्यानावरण कहते हैं।

+ यो यथाख्यातं संज्वलयति—भस्मसात् करोति सः संज्वलनः अर्थात् जो यथाख्यातचारित्रको न होने दे उसे संज्वलन कहते हैं।

चारित्रमोहके भेद—

तस्माच्चारित्रमोहश्च तद्भेदाद्द्विविधो भवेत् ।
पुद्गलो द्रव्यरूपोस्ति भावरूपोस्ति चिन्मयः ॥ १०६१ ॥

अर्थ—इस लिये उसके भेदसे चारित्र मोह दो प्रकार है एक द्रव्य रूप, दूसरा भावरूप द्रव्यरूप चारित्र मोह पुद्गल स्वरूप है और भावरूप चारित्र मोह चैतन्य स्वरूप है। भावार्थ—चारित्रमोह कर्मके उदयसे जो आत्माके चारित्र गुणकी राग द्वेष रूप वैभाविक अवस्था है उसीसे चारित्र मोहनीय कर्मके दो भेद होजाते हैं, एक द्रव्य मोह दूसरा भाव मोह। पौद्गलिक चारित्र मोह द्रव्य मोह है और उसके निमित्तसे होनेवाले आत्माके राग-द्वेषरूप भाव, भावमोह है।

द्रव्य मोह—

अस्त्येकं मूर्तिमद्द्रव्यं नाम्ना ख्यातः स पुद्गलः ।
वैकृतः मोस्ति चारित्रमोहरूपेण संस्थितः ॥ १०६२ ॥

अर्थ—रूप रस गन्ध स्पर्शका नाम मूर्ति है। जिस द्रव्यमें ये चारों गुण पाये जावें उसे मूर्तिमान द्रव्य कहते हैं, ऐसा मूर्तिमान द्रव्य छहों द्रव्योंमेंसे एक है और वह पुद्गलके नामसे प्रसिद्ध है। उसी पुद्गलकी एक वैभाविक पर्याय चारित्र मोहरूप है।

पृथ्वीपिण्डसमानः स्यान्मोहः पौद्गलिकोऽखिलः ।
पुद्गलः स स्वयं नात्मा मिथो बन्धो द्वयोरपि ॥ १०६३ ॥

अर्थ—पौद्गलिक जितना भी मोह है सभी पृथ्वी पिण्डके समान है, वह स्वयं पुद्गल है आत्मा नहीं है पौद्गलिक द्रव्यमोह और आत्मा इन दोनोंका परस्पर बन्ध होता है।

भाव मोह—

द्विविधस्यापि मोहस्य पौद्गलिकस्य कर्मणः ।
उदयादात्मनो भावो भाव मोहः स उच्यते ॥ १०६४ ॥

अर्थ—दोनों प्रकारके पौद्गलिक मोहनीय कर्मोंके उदयसे आत्माका जो भाव होता है उसे ही भाव मोह कहते हैं। भावार्थ—द्रव्यमोहके उदयसे होनेवाली आत्माकी वैभाविक अवस्थाका नाम ही भावमोह है।

भाव मोहका स्वरूप—

जले जम्बालवन्नूनं स भावो मलिनो भवेत् ।
बन्धहेतुः स एव स्याद्धेतश्चाष्टकर्मणाम् ॥ १०६५ ॥

अर्थ—जलमें जिसप्रकार काई (हरा मल) के जमजानेसे जल मलिन हो जाता है उसी प्रकार वह भाव भी (रागद्वेषरूप) मलिन होता है, तथा वही अकेला आठों कर्मोंके

बन्धका कारण है। भावार्थ-विना कषाय भावोंके कर्म आत्माके साथ बंध नहीं सक्ते हैं, जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं, कषाय भाव ही उनके बन्धका कारण है, इसीलिये दशवें गुणस्थान तक ही कर्मबन्ध होता है, उससे ऊपर कर्मबन्ध नहीं होता किन्तु योगोंके निमित्तसे जिस समयमें कर्म आते हैं उसी समयमें खिरते भी जाते हैं।

भाव मोह ही अनर्थोंका मूल है—

अपि यावदनर्थानां मूलमेकः स एव च।
यस्मादनर्थमूलानां कर्मणामादिकारणम् ॥ १०६६ ॥

अर्थ—संसारमें जितने भी अनर्थ हैं उन सबका मूल-कारण वही भाव मोह है क्योंकि अनर्थके मूल कारण कर्म हैं और उन कर्मोंका भी आदि कारण वह भाव मोह है।

और भी—

अशुचिर्घातको रौद्रो दुःखं दुःखफलं च सः।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वासां विपदां पदम् ॥ १०६७ ॥

अर्थ—यह भाव मोह अपवित्र है, आत्माके गुणोंका घातक है, रौद्रस्वरूप है, दुःखरूप है, और दुःखका फल स्वरूप है, अथवा दुःख ही उसका फल है। उस भाव मोहके विषयमें अधिक क्या कहा जाय, सम्पूर्ण आपत्तियोंका वह स्थान है।

भावमोहमें परस्पर कार्यकारण भाव—

कार्यकारणमप्येष मोहो भावसमाह्वयः।
*** सर्ववद्धानुवादेन प्रत्यग्रास्रवसंचयात् ॥ १०६८ ॥**

अर्थ-यह भाव मोह कार्य भी है और कारण भी है। पूर्वमें बाँधे हुए कर्मोंके उदयसे होता है इसलिये तो कार्य रूप है, तथा नवीन कर्मोंके आस्रवका सञ्चय करता है इसलिये कारण रूप है। नीचेके श्लोकोंमें भाव मोहका परस्पर कार्य कारण भाव ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं—

यदोदयैः पूर्ववद्धस्य द्रव्यमोहस्य कर्मणः।
पाकाल्लब्धात्मसर्वस्वः कार्यरूपस्ततो नयात् ॥ १०६९ ॥

* संशोधित पुस्तकमें 'पूर्ववद्धानुवादेन' पाठ है।

अर्थ—उस भाव कर्मके निमित्तसे ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल कर्म आते हैं (आत्माके साथ बँधते हैं) इसलिये वह कारणरूप है । भावार्थ—भाव कर्मोंके निमित्तसे नवीन कर्मोंका बन्ध होता है, उन कर्मोंके निमित्तसे नवीन भाव मोह पैदा होता है, फिर उससे नवीन कर्म बँधते हैं उन कर्मोंके निमित्तसे दूसरा भाव मोह पैदा होता है । इस प्रकार यह परस्पर कार्य-कारण भाव सन्तति अनादि कालसे चली आ रही है । एक वार द्रव्य मोह कारण पड़ता है भाव मोह उसका कार्य पड़ता है । इस प्रकार परस्पर इन दोनोंमें निमित्त नैमित्तिक भाव है ।

विशेष—

विशेषः कोऽयं कार्यं केवलं मोहकर्मणः ।
मोहस्यास्यापि बन्धस्य कारणं सर्वकर्मणाम् ॥ १०७१ ॥

अर्थ—इस भावमोहमें इतनी कोई विशेषता है कि यह कार्य तो केवल मोहनीय कर्मका है, परन्तु कारण उस मोहनीय कर्म तथा सम्पूर्ण कर्मोंके बंधका है । भावार्थ—द्रव्य मोहके उदयसे ही भाव मोह होता है इसलिये वह कार्य तो केवल मोह कर्मका ही है । परन्तु सम्पूर्ण कर्मोंमें स्थिति अनुभाव डालनेवाला वही एक भाव मोह है इसलिये वह कारण सब कर्मोंका है ।

सारांश—

अस्ति सिद्धं ततोऽन्योन्यं जीवपुद्गलकर्मणोः ।
निमित्तनैमित्तिकोभावो यथा कुम्भकुलालयोः ॥ १०७२ ॥

अर्थ—इस लिये यह बात सिद्ध हो चुकी कि जिस प्रकार कुम्हार और घटका निमित्तनैमित्तिक भाव है उसी प्रकार जीव और पुद्गल कर्मोंका परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है । यहां पर दृष्टान्तका उद्दिष्ट अंश ही लेना चाहिये, दृष्टान्त स्थूल है ।

अन्तर्दृष्ट्या कषायाणां कर्मणां च परस्परम् ।
निमित्तनैमित्तिकोभावः स्यान्नस्याज्जीवकर्मणोः ॥ १०७३ ॥

अर्थ—बाह्य दृष्टिसे तो जीव और कर्मोंका परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है परन्तु अन्तरंग दृष्टिसे कषायोंका निमित्तनैमित्तिक भाव है । अन्तर्दृष्टिसे जीव कर्मका नहीं है । भावार्थ—जीवके चारित्र गुणका विकार राग द्वेष है और वही राग द्वेष कर्म बन्धका हेतु है इसलिये अन्तर्दृष्टिसे कषाय भाव चारित्र गुणकी वैभाविक अवस्था और कर्मोंका ही उपर्युक्त सम्बन्ध है । स्थूल दृष्टिसे जीवका भी कहा जा सकता है ।

यदि जीवका ही उपर्युक्त भाव माना जाय तो—

यतस्तत्र स्वयं जीवे निमित्ते सति कर्मणाम् ।
नित्या स्यात्कर्तृता चेति न्यायान्मोक्षो न कस्यचित् ॥१०७४॥

अर्थ—यदि कर्म बन्धका निमित्त कारण स्वयं जीव ही माना जाय तो जीव सदा कर्म बन्धका कर्त्ता ही बना रहेगा। फिर किसी जीवकी कभी भी मोक्ष नहीं हो सकेगी। इसलिये कर्म बन्धके करनेवाले आत्माके वैभाविक भाव कषाय भाव ही हैं। जब तक उन भावोंकी सत्ता है, तभी तक आत्मा कर्म बन्ध करता है, उनके अभावमें कर्म बन्ध नहीं करता है। जीव स्वयं कर्मबन्धका कारण नहीं है। किन्तु अशुद्ध जीव है।

इत्येवं ते कषायाख्याश्चत्वारोप्यौदयिकाः स्मृताः।
चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मनः॥ १०७५॥

अर्थ—इस प्रकार वे चारों ही कषायें औदयिक कही गई हैं। वे कषायें आत्माके चारित्र गुणकी वैभाविक पर्यायें हैं।

नोकषाय—

लिङ्गान्यौदयिकान्येव त्रीणि स्त्रीपुन्नपुंसकात्।
भेदाद्वा नोकषायाणां कर्मणामुदयात् किल॥ १०७६॥

अर्थ—स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेदके भेदसे तीन प्रकारके लिङ्ग भी औदयिक भाव हैं। ये भाव नो कषाय कर्मोंके उदयसे होते हैं

चारित्र मोहके भेद—

चारित्रमोहकर्मैतद्द्विविधं परमागमात्।
आद्यं कषायमित्युक्तं नोकषायं द्वितीयकम्॥ १०७७॥

अर्थ—जैनागममें चारित्र मोह कर्मके दो भेद किये हैं। पहला—कषाय, दूसरा नोकषाय। भावार्थ—जो आत्माके गुणोंको कषै अर्थात् उन्हें नष्ट करै उसे कषाय कहते हैं, और कुछ कम कषायको नोकषाय कहते हैं। नो नाम ईषत्—थोड़ेका है, ये दो भेद चारित्र मोहनीयके हैं।

नो कषायके भेद—

तत्रापि नोकषायाख्यं नवधा स्वविधानतः।
× हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सेति त्रिलिङ्गकम्॥ १०७८॥

अर्थ—नो कषायके नौ भेद हैं—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद। भावार्थ—जिसके उदयसे हँसी आवे उसे हास्य 'नोकषाय' कहते हैं। जिसके उदयसे विषयोंमें उत्सुकता (रुचि) हो उसे रति कहते हैं। जिसके

× 'हास्यो रत्यरती शोको भीर्जुगुप्सा त्रिलिङ्गकम्। संशोधित पुस्तकमें ऐसा पाठ है। यही शुद्ध प्रतीत होता है।

उदयसे अरुचि हो उसे अरति कहते हैं। जिसके उदयसे शोक हो उसे शोक कहते हैं। जिसके उदयसे उद्वेग (भय) हो उसे भय कहते हैं। जिसके उदयसे दूसरेके दोषोंको यह जीव प्रकट करे और अपने दोषोंको छिपावे उसे जुगुप्सा कहते हैं। अथवा दूसरेसे घृणा करना भी जुगुप्सा है। जिसके उदयसे स्त्रीत्व भाव हो अर्थात् पुरुषके साथ रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे स्त्री वेद कहते हैं। जिसके उदयसे पुंस्त्व भाव हो अर्थात् स्त्रीके साथ रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे पुंवेद कहते हैं। जिसके उदयसे नपुंसकत्व भाव हो अर्थात् स्त्री पुरुष दोनोंसे रमण करनेकी वाञ्छा हो उसे नपुंसक वेद कहते हैं। ये नौ नो कषाय कर्मोंके भेद हैं। इन्हींके उदयसे ऊपर कहे हुए कार्य होते हैं। इतना विशेष है कि कहीं पर जैसा भाव वेद होता है वैसा ही द्रव्य वेद होता है परंतु कहीं कहीं पर द्रव्य वेद दूसरा होता है और भाव वेद दूसरा। आत्माके भावोंको भाव वेद कहते हैं और शरीरके आकारको द्रव्य वेद कहते हैं। यदि कोई पुरुष पुरुषके साथ रमण करनेकी वाञ्छा करे तो उसके द्रव्य वेद तो पुरुष वेद है परन्तु भाव वेद स्त्री वेद है। प्रायः अधिक तर द्रव्यके अनुकूल ही भाव होता है, किंतु कहीं २ पर विषमता भी हो जाती है । इन तीनों वेदोंके उदयसे जैसे इस जीवके परिणाम होते हैं उसका क्रम आचार्योंने इस प्रकार बतलाया है। पुरुषकी काम वासना तृणकी अग्निके समान है। जिस प्रकार तृणकी अग्नि उत्पन्न भी शीघ्र होती है और भस्म होकर शान्त भी शीघ्र ही होजाती है। स्त्रीकी काम वासना कण्डेकी अग्नि (उपलोंकी अग्नि)के समान होती है कंडेकी अग्नि उत्पन्न भी देरसे होती है और ठहरती भी अधिक काल तक है। इसी प्रकार स्त्रियोंकी काम वासना विना निमित्तकी प्रबलताके सदा दबी ही रहती है परन्तु प्रबल निमित्तके मिलने पर उत्पन्न होकर फिर शान्त भी देरसे होती है। इसी लिये आवश्यक है कि स्त्रियोंको ऐसे निमित्तोंसे बचाया जावें। और सदा सदुपदेशकी उन्हें शिक्षा दी जावे। ऐसी अवस्थामें उनकी कामवासना कभी दीप्त नहीं हो सक्ती है परन्तु आजकलके शिक्षितम्मन्य अतत्वज्ञ अपने भावोंसे उनकी तुलना करके उनके जीवनको कलङ्कित और दुखदाई बनानेका व्यर्थ ही उद्योग करते हैं। यह उनका दयाका परिणाम केवल हिंसामय है और अनर्थोंका घर है। यदि स्वभावमृदु स्त्रियोंको सदा सन्मार्गकी शिक्षा दी जावे तो वे कभी नहीं उन्मार्गकी ओर पैर रक्खेंगी। और ऐसी ही निष्कलङ्क स्त्रियोंकी सन्तान संसारका कल्याण करनेमें समर्थ हो सक्ती हैं। नपुंसककी काम वासना ईंटोंके पाक (अवा)के समान होती है अर्थात् उसकी अग्नि दोनोंकी अपेक्षा अत्यन्त दीप्त होती है। संसारी जीव इन्हीं वेदोंके उदयसे सताये हुए हैं। वास्तवमें विचार किया जाय तो ज्यों२ विषय सेवनकी तरफ यह मनुष्य जाता है त्यों २ इसकी अशान्ति और लालसा बढ़ती ही जाती है, खेद तो इस बातका है कि इनके अधिक सेवनसे मनुष्य तृप्तिकी वाञ्छा करता है परन्तु उस अज्ञको विदित नहीं

है कि अग्निको शान्त करनेके लिये क्या उसमें लकड़ी डालनेकी आवश्यकता है ? यदि विषय सेवन तृप्तिका मार्ग है तो अनादिकालसे अभी तक क्यों नहीं तृप्ति हो पाती ? इसलिये इनसे जितना जल्दी सम्बन्ध छुड़ाया जाय और इनकी ओर विरक्तता की जाय उतना ही परम सुख समझना चाहिये।

ततश्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद्ध्रुवम्।
चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी ॥ १०७९ ॥

अर्थ—इसलिये चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले ये नोकषाय भी चारित्र गुणके वैभाविक भाव हैं।

प्रत्येकं त्रिविधान्येव लिङ्गानीह निसर्गतः।
द्रव्यभावविभेदाभ्यां सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥ १०८० ॥

अर्थ—सर्वज्ञकी आज्ञा—आगमके अनुसार प्रत्येक लिङ्ग स्वभावसे ही द्रव्य वेद, भाव वेद इन भेदोंसे दो दो प्रकार हैं। इन दोनोंका वर्णन पहले श्लोकमें सविस्तर किया गया है।

नाम कर्म-स्वरूप—

अस्ति यन्नामकर्मैकं नानारूपं च चित्रवत्।
पौद्गलिकमचिद्रूपं स्यात्पुद्गलविपाकि यत् ॥ १०८१ ॥

अर्थ—आठ कर्मोंमें एक नाम कर्म है वह चित्रोंके समान अनेक रूपवाला है, अर्थात् जिस प्रकार चित्रकार अपने हस्त कौशलसे अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसी प्रकार यह नाम कर्म भी अपने अनेक भेदोंसे अनेक आकार बनाता है। शरीर, संहनन, गति, जाति, आङ्गोपाङ्ग आदि सभी रचना इस नामकर्मके उदयसे ही होती है। इसका बहुत बड़ा विस्तार है। नाम कर्म पौद्गलिक है, पुद्गलकी वैभाविक व्यञ्जन पर्याय है। इसीलिये वह जड़ है, और पुद्गल विपाकी है* भावार्थ—कुछ कर्म तो ऐसे हैं जिनका पुद्गलमें ही विपाक होता है। अर्थात् शरीरमें ही उनका फल होता है, कुछ कर्म ऐसे हैं जिनका क्षेत्रमें ही विपाक होता है, अर्थात् उनका उदय तभी आता है जब कि संसारी जीव एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको धारण करनेके लिये जाता हुआ विग्रह गतिमें होता है। कुछ कर्म ऐसे हैं जो भवविपाकी हैं अर्थात् मनुष्यादि पर्यायोंमें ही उनका फल होता है, और कुछ कर्म ऐसे हैं जो जीवविपाकी हैं, अर्थात् उनका जीवमें फल होता है।

* सभी नामकर्म पुद्गल विपाकी नहीं है। २७ प्रकृतियां उसमें जीव विपाकी भी हैं, परन्तु अधिक प्रकृतियां पुद्गल विपाकी ही हैं, इसी लिये (बाहुल्यकी अपेक्षासे) उपर्युक्त कथन है।

उनमें ९२ प्रकृतियां पुद्गल विपाकी हैं । पांच शरीरोंसे लेकर स्पर्श पर्यन्त * ९० प्रकृतियां, तथा निर्माण, आताप, उद्योत, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, प्रत्येक साधारण, अगुरुलघु, उपघात परघात ये नाम कर्मकी ९२ प्रकृतियां पुद्गल विपाकी हैं इनका फल शरीरमें ही होता है । नरकादि चारों आयु भव विपाकी हैं । आयुका कार्य प्राप्त हुई पर्यायमें नियमित स्थिति तक रोकना है । इसलिये आयुका फल नरकादि चारों पर्यायोंमें ही होता है । चार आनुपूर्वी प्रकृतियाँ क्षेत्र विपाकी हैं । आनुपूर्वी कर्म उसे कहते हैं कि जिस समय जीव पूर्व पर्यायको छोड़ कर उत्तर पर्यायमें जाता है, उस समय जब तक वहां नहीं पहुंचा है, तब तक मध्यमें उस जीवका पहली पर्यायका आकार बनाये रक्खे । चार गतियां हैं इस लिये आनुपूर्वी प्रकृतियां भी चार ही हैं । जिस आनुपूर्वीका भी उदय होता है वह पहली पर्यायके आकारको रखती है । इसी लिये आनुपूर्वी प्रकृतियां क्षेत्र विपाकी हैं । इनका फल परलोक गमन करते समय जीवकी मध्य अवस्थामें ही आता है । निम्न लिखित ७८ प्रकृतियां जीव विपाकी हैं वेदनीयकी २, गोत्रकी २, घातिया कर्मोंकी ४७ और २७ नाम कर्मकी । नाम कर्मकी २७ प्रकृतियां इस प्रकार हैं । तीर्थंकर, उच्छ्वास, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, सुस्वर, दुस्वर, आदेय, अनादेय, यशस्कीर्ति, अयशस्कीर्ति, त्रस, स्थावर, शुभविहायोगति, अशुभ विहायोगति, सुभग, दुर्भग, नरकगति, तिर्यञ्चगति मनुष्यगति, देवगति, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय जाति, ये प्रकृतियां जीव विपाकी हैं ।

अंगोपाङ्ग और शरीरनामकर्मके कार्य—

अङ्गोपाङ्गं शरीरं च तद्भेदौस्तोप्यभेदवत् ।
तस्त्रियाकास्त्रिलिङ्गनामाकाराः सम्भवन्ति च ॥ १०८२ ॥

अर्थ—उसी नाम कर्मके भेदोंमें एक अंगोपांग और एक शरीर नाम कर्म भी है । ये दोनों ही भेद नाम कर्मसे अभिन्न हैं । इन्हीं दोनोंके उदयसे स्त्रीवेद, पुंवेद और नपुंसक वेदके आकार होते हैं । **भावार्थ**—शरीर और अंगोपांग नाम कर्मके उदयसे इस जीवके शरीर और अंग तथा + उपांग बनते हैं, शरीरके मध्य तीनों वेदोंके आकार भी इन्हीं दोनों कर्मोंके उदयसे बनते हैं । वेदोंसे यहां पर द्रव्य वेद समझना चाहिये ।

---

* ५ शरीर, ३ आङ्गोपाङ्ग, ५ बन्धन, ५ संघात, ६ संस्थान, ६ संहनन, ८ स्पर्श, ५ रस, २ गन्ध, ५ वर्ण ।

+ णलया बाहू य तहा णियंब पुट्ठी उरोय सीसोय ।
अट्ठेव दु अंगाइं देहे सेसा उवंगाइं ॥

अर्थ–दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, (चूतड़), पीठ, पेट, शिर ये आठ तो अंग कहलाते हैं बाकी सब उपांग कहलाते है । जैसे उंगलियां, कान, नाक, मुंह, आंखे आदि ।

गोमट्टसार ।

द्रव्य वेदसे भाव वेदमें सार्थकता नहीं आती—

स्त्रिलिङ्गाकारसम्पत्तिः कार्यं तन्नामकर्मणः ।
नास्ति तद्भावलिङ्गेषु मनागपि करिष्णुता ॥ १०८३ ॥

अर्थ—स्त्रीवेद अथवा पुरुषवेद अथवा नपुंसकवेदके आकारका पाना नाम कर्मका कार्य है। इस आकारकी भावलिङ्गोंमें कुछ भी कार्यकारिता नहीं है। **भावार्थ**–नाम कर्म केवल द्रव्यवेद–शरीरमें लिङ्गाकृतिको बनाता है, स्त्री पुरुषोंके भावोंमें जो रमण करनेकी वाञ्छा होती है व भाव वेद कहलाता है। ऐसा भाव वेद नाम कर्मके उदयसे नहीं होता है। जब तक भाव वेदका उदय न हो तब तक केवल द्रव्य वेद कुछ नहीं कर सक्ता है, केवल आकार मात्र है। इसीलिये नवमें गुणस्थानसे ऊपर केवल वेदोंका द्रव्याकार मात्र है।

भाव वेदका कारण—

भाववेदेषु चारित्रमोहकर्मांशकोदयः ।
कारणं नूनमेकं स्यान्नेतरस्योदयः क्वचित् ॥ १०८४ ॥

अर्थ—भाववेदोंके होनेमें केवल एक चारित्र मोहकर्मका उदय ही निश्चयसे कारण है, किसी दूसरे कर्मका उदय उनके होनेमें कारण नहीं है।

वेदोंके कार्य—

रिरंसा द्रव्यनारीणां पुंवेदस्योदयात्किल ।
नारी वेदोदयाद्वेदः पुसां भोगाभिलाषिता ॥ १०८५ ॥
नालं भोगाय नारीणां नापि पुंसामशक्तितः ।
अन्तर्दग्धोस्ति यो भावः क्लीववेदोदयादिव ॥ १०८६ ॥ ×

अर्थ—पुंवेदके उदयसे द्रव्य स्त्रियोंके साथ रमण करनेकी वाञ्छा होती है। स्त्री वेदके उदयसे पुरुषोंके साथ भोग करनेकी अभिलाषा होती है। और जो अशक्त सामर्थ्य हीन होनेसे न तो स्त्रियोंके साथ ही भोग कर सक्ता है, और न पुरुषोंके साथ ही कर सक्ता है किन्तु दोनोंकी वाञ्छा रखता हुआ हृदयमें ही जला करता है ऐसा भाव नपुंसक वेदके उदयसे होता है।÷

वेदोंकी सम विषमता—

द्रव्यलिंगं यथा नाम भावलिंगं तथा क्वचित् ।
क्वचिदन्यतमं द्रव्यं भावश्चान्यतमो भवेत् ॥ १०८७ ॥

× संशोधित पुस्तकमें क्लीववेदोदयादिति, पाठ है। इसका कोई अर्थ भी नहीं निकलता है।

÷ णेवित्थी णेव पुमं णउंसओ उहयलिंगविदिरित्तो ।
इट्ठावग्गिसमाणग वेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥
यह नपुंसकका स्वरूप है। गोमट्टसार।

अर्थ—कहीं पर जैसा द्रव्यलिंग होता है वैसा ही भावलिंग भी होता है। कहीं पर द्रव्यलिंग दूसरा होता है और भावलिंग दूसरा होता है।

उदाहरण—

यथा दिविजनारीणां नारीवेदोस्ति नेतर।
देवानां चापि सर्वेषां पाकः पुंवेद एव हि ॥ १०८८ ॥

अर्थ—जितनी भी चारों निकायोंके देवोंकी देवियां हैं उन सबके स्त्रीवेद ही भाववेद होता हैं, दूसरा नहीं होता। और जितने भी देव हैं उन सबके पुंवेद ही भाववेद होता है दूसरा नहीं होता। भावार्थ—देव देवियोंके द्रव्यवेद और भाववेद दोनों एक ही होते हैं।

भोग भूमौ च नारीणां नारीवेदो नचेतरः।
पुंवेदः केवलः पुंसां नान्यो वाऽन्योन्यसंभवः ॥ १०८९ ॥

अर्थ—भोगभूमिमें स्त्रियोंके स्त्रीवेद ही भाववेद होता है दूसरा नहीं होता? और वहांके पुरुषोंके केवल पुंवेद ही भाववेद होता है, दूसरा नहीं होता अथवा इन दोनोंमें भी परस्पर विषमता नहीं होती। भावार्थ—देव देवियोंके समान इनके भी समान ही वेद होता है, देव देवियां और भोगभूमिके स्त्री पुरुष इनके नपुंसक वेद तो दोनों प्रकारका होता ही नहीं पुंवेद और स्त्रीवेद भी द्रव्यभाव समान ही होता है विषम नहीं।

नारकाणां च सर्वेषां वेदश्चैको नपुंसकः।
द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान् ॥ १०९० ॥

अर्थ—सम्पूर्ण नारकियोंके एक नपुंसक वेद ही होता है। वही तो द्रव्यवेद होता है और वही भाववेद होता है। नारकियोंके द्रव्यसे अथवा भावसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद सर्वथा नहीं होते।

तिर्यग्जातौ च सर्वेषां एकाक्षाणां नपुंसकः।
वेदो विकलत्रयाणां क्लीबः स्यात् केवलः किल ॥ १०९१ ॥
पञ्चाक्षासंज्ञिनां चापि तिरश्चां स्यान्नपुंसकः।
द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्यः कदाचन ॥ १०९२ ॥

अर्थ—तिर्यञ्च जातिमें सभी एकेन्द्रिय जीवोंके नपुंसकवेद ही होता है, जितने भी विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) हैं उन सबके केवल नपुंसक वेद ही होता है। और जितने भी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं उन सबके भी केवल नपुंसक वेद ही होता है। वही द्रव्य वेद होता है और वही भाव वेद होता है। दूसरा वेद कभी नहीं होता।

कर्मभूमौ मनुष्याणां मानुषीणां तथैव च।
तिरश्चां वा तिरश्चीनां त्रयो वेदास्तथोदयात् ॥ १०९३ ॥

केषाञ्चिद्द्रव्यतः साङ्गः पुंवेदो भावतः पुनः।
स्त्रीवेदः क्लीववेदो वा पुंवेदो वा त्रिधापि च ॥ १०९४ ॥
केषाञ्चित्क्लीववेदो वा द्रव्यतो भावतः पुनः।
पुंवेदो क्लीववेदो वा स्त्रीवेदो वा त्रिधोचितः ॥ १०९५ ॥
कश्चिदापर्ययन्यायात्क्रमादस्ति त्रिवेदवान्।
कदाचित्क्लीववेदो वा स्त्री वा भावात् क्वचित् पुमान् ॥१०९६॥

अर्थ—कर्मभूमिमें होनेवाले मनुष्योंके, मानुषियोंके, तिर्यञ्चोंके और तिर्यञ्चिनियोंके कर्मोदयके अनुसार तीनों ही वेद होते हैं। किन्हींके द्रव्य वेद तो पुंवेद वेद होता है अर्थात् उनके शरीरमें पुरुषवेदका चिन्ह होता है, परन्तु भाव वेद उनके स्त्रीवेद, अथवा नपुंसक वेद होता है। अथवा द्रव्यवेदके अनुसार भाववेद भी पुरुषवेद ही होता है। इस प्रकार एक द्रव्यके होते हुए भाववेद कर्मोदयके अनुसार तीनों ही हो सक्ते हैं। ऐसे ही किन्हीके द्रव्य वेद तो नपुंसक वेद होता है परन्तु भाववेद पुंवेद, अथवा नपुंसक वेद अथवा स्त्री वेद तीनों ही हो सक्ते हैं। इसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिये कि किन्हींके द्रव्य वेद तो स्त्री वेद होता है परन्तु भाव वेद पुंवेद अथवा नपुंसक वेद अथवा स्त्री वेद तीनों ही हो सक्ते हैं। कोई आपर्यय न्यायसे अर्थात् क्रमसे परिवर्त्तन करता हुआ तीनों वेदवाला भी हो जाता है, कभी भावसे नपुंसक वेदवाला, कभी स्त्रीवेदवाला और कभी पुरुष वेदवाला। इसका आशय यह है कि कोई तो ऐसे होते हैं जिनके द्रव्य वेदके समान ही भाव वेद होता है, कोई ऐसे हैं जिनके द्रव्य वेद दूसरा और भाव वेद दूसरा ही सदा रहता है जैसे कि जनखा हिजड़ा आदि। परन्तु कोई ऐसे होते हैं जिनके कर्मोदयके अनुसार भाव वेद बदलता भी रहता है। किन्तु द्रव्य वेद सदा सभीके एक ही होता है और वह आजन्म नहीं बदल सक्ता।

त्रयोपि भाववेदास्ते नैरन्तर्योदयात्किल।
नित्यंबाबुद्धि पूर्वास्युः क्वचिद्बुद्धिपूर्वकाः ॥ १०९७ ॥

अर्थ—ये तीनों ही भाव वेद निरन्तर कर्मोके उदयसे होते हैं। किन्हींके अबुद्धि पूर्वक होते हैं और किन्हींके बुद्धिपूर्वक होते हैं। भावार्थ–बुद्धिपूर्वक भाव उन्हें कहते हैं कि ~~जानकर~~ पूर्वक–जान करके स्त्रीत्व पुंस्त्व भावोंमें चित्तको लगाया जाता है। और ही है। जहां पर मैथुनोपसेवनकी वाञ्छा होती है वहां बुद्धिपूर्वक भाव वेद है।

~~महाव्रत किसी एकेन्द्रियादि चारित्र मोह कर्मोका ही उदय रहता है, अतएव उनके भाव~~
~~भाव भी नहीं है वहां अबुद्धि पूर्वक भाव होते हैं एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक~~
जीवोंके अबुद्धिपूर्वक ही भाव वेद होता है। केवल कर्मोदय मात्र है। तथा नवमें गुणस्थान तक जो ध्यानी मुनियोंके भाव वेद बतलाया गया है वह भी केवल कर्मोदय मात्र अबुद्धिपूर्वक ही है। जहां पर मैथुनोपसेवनकी वाञ्छा होती है वहीं बुद्धिपूर्वक भाव वेद है।

तेपि चारित्रमोहान्तर्भाविनो बन्धहेतवः ।
संक्लेशाङ्गैकरूपत्वात् केवलं पापकर्मणाम् ॥ १०९८ ॥

अर्थ—दोनों प्रकारके भी भाववेद चारित्रमोहके उदयसे होते हैं इसलिये उसीमें उनका अन्तर्भाव हो जाता है । तथा संक्लेश स्वरूप होनेसे वे केवल पाप कर्मोंके ही बन्धके कारण हैं ।

द्रव्यवेद बन्धका हेतु नहीं है—

द्रव्यलिङ्गानि सर्वाणि नात्रबन्धस्य हेतवः ।
देहमात्रैकवृत्तत्वे बन्धस्याऽकारणात्स्वतः ॥ १०९९ ॥

अर्थ—जितने भी द्रव्य लिंग हैं वे सभी बन्धके कारण नहीं हैं । क्योंकि शरीरमें उनका चिन्ह मात्र है और चिन्ह मात्र बन्धका स्वयं कारण नहीं हो सक्ता । शरीराकृति बन्धका कारण नहीं हो सक्ती है ।

मिथ्यादर्शन—

मिथ्यादर्शनमाख्यातं पाकान्मिथ्यात्वकर्मणः ।
भावो जीवस्य मिथ्यात्वं स स्यादौदयिकः किलः ॥ ११०० ॥

अर्थ—मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीवका जो मिथ्या भाव होता है वही मिथ्यादर्शन कहलाता है । वह जीवका औदयिक भाव है ।

मिथ्यादर्शनका कार्य—

अस्ति जीवस्य सम्यक्त्वं गुणश्चैको निसर्गजः ।
मिथ्याकर्मोदयात्सोपि वैकृतो विकृताकृतिः ॥ ११०१ ॥

अर्थ—जीवका एक स्वाभाविक सम्यक्त्व गुण भी है, वह भी मिथ्यादर्शनके उदयसे विकारी-वैभाविक हो जाता है ।

उक्तमस्ति स्वरूपं प्राङ् मिथ्याभावस्य जन्मिनाम् ।
तस्मान्नोक्तं मनागत्र पुनरुक्तभयात्किल ॥ ११०२ ॥

अर्थ—जीवोंको मिथ्या भाव कितना दुःख दे रहा है उससे जीवोंकी कैसी अवस्था हो जाती है इत्यादि कथन पहले विस्तार पूर्वक किया जा चुका है इसलिये पुनरुक्तिके भयसे यहां उसका थोड़ा भी स्वरूप नहीं कहा है ।

अज्ञान भाव—

अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम् ।
लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥ ११०३ ॥

अर्थ—ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाला अज्ञान भाव भी जीवका औदयिक भाव है ।

अज्ञानका स्वरूप—

अस्त्यात्मनो गुणो ज्ञानं स्वापूर्वार्थावभासकम् ।
मूर्छितं मृतकं वा स्याद्वपुः स्वावरणोदयात् ॥ ११०४ ॥

अर्थ—आत्माका एक ज्ञान गुण है वह अपने स्वरूपका और दूसरे अनिश्चित पदार्थोंका प्रकाशक है, परन्तु ज्ञानावरण कर्मके उदयसे वह ज्ञान गुण मूर्छित हो जाता है अथवा मृतकके समान हो जाता है। भावार्थ जिस प्रकार जीवके चले जानेसे मृतक शरीर जड़—अज्ञानी है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मने आत्माके ज्ञान गुणको इतना ढक दिया है कि वह अज्ञानी प्रतीत होता है। यही अज्ञान अवस्था जीवका अज्ञान भाव कहलाता है। यह भाव जब तक आत्मामें केवलज्ञान नहीं होता है तब तक बराबर उदित रहता है।

अज्ञानभाव बन्धका कारण नहीं है—

अर्थादौदयिकत्वेपि भावस्यास्याऽप्यवश्यतः ।
ज्ञानावृत्त्यादिबन्धेस्मिन् कार्ये वै स्यादहेतुता ॥ ११०५ ॥

अर्थ—यद्यपि अज्ञानभाव औदयिक भाव अवश्य है तथापि वह नियमसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके बन्धका कारण नहीं है।

नापि संक्लेशरूपोऽयं यः स्याद् बन्धस्य कारणम् ।
यः क्लेशो दुःखमूर्तिः स्यात्तद्योगादस्ति क्लेशवान् ॥ ११०६ ॥

अर्थ- अज्ञान भाव संक्लेश रूप भी नहीं है जो कि बन्धका कारण हो, परंतु जो क्लेश दुःखकी मूर्ति समझा जाता है, उसके सम्बन्धसे अवश्य क्लेशवान् है। भावार्थ—अज्ञान भाव बन्धका कारण नहीं है परन्तु दुःखमूर्ति अवश्य है। जो संक्लेश बन्धका कारण समझा जाता है उस संक्लेश रूप अज्ञान भाव नहीं है परन्तु जो क्लेश दुःख स्वरूप समझा जाता है उस क्लेश रूप अवश्य है।

दुःखमूर्तिश्च भावोऽयमज्ञानात्मा निसर्गतः ।
वज्राघात इव ख्यातः कर्मणामुदयो यतः ॥ ११०७ ॥

अर्थ—यह अज्ञान रूप भाव स्वभावसे ही दुःखकी मूर्ति है। क्योंकि कर्मोंका उदय मात्र ही वज्रके आघात (चोट) के समान दुःखदाई है। भावार्थ—यद्यपि बन्धका कारण तो केवल मोहनीय कर्म है परन्तु आत्माको दुःख देनेवाला सभी कर्मोंका उदय है।

शङ्काकार—

ननु कश्चिद्गुणोप्यस्ति सुखं ज्ञानगुणादिवत् ।
दुःखं तद्वैकृतं पाकात्तद्विपक्षस्य कर्मणः ॥ ११०८ ॥

तत्कथं मूर्छितं ज्ञानं दुःखमेकान्ततो मतम्।
सूत्रं द्रव्याश्रयाः प्रोक्ता ये ह्यद्वै निर्गुणा गुणाः ॥ ११०९ ॥
न ज्ञानादिगुणेषूच्चैरस्ति कश्चिद्गुणः सुखम्।
मिथ्याभावाः कषायाश्च दुःखमित्यादयः कथम् ॥ १११० ॥

अर्थ—क्या ज्ञानादि गुणोंके समान कोई सुख गुण भी है? उस सुख गुणका ही वैभाविक भाव–दुःख है? और वह दुःख सुखके विपक्षी कर्मके उदयसे होता है। फिर यहां पर मूर्छित ज्ञानको सर्वथा दुःख कैसे कहा गया है? क्योंकि 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' ऐसा सूत्र है, उसका यही आशय है कि जो द्रव्यके आश्रय रहै और जो निर्गुण हो उन्हें ही गुण कहते हैं। यदि ज्ञानादि गुणोंमें कोई सुख गुण नहीं है तो मिथ्या भाव, और कषाय इत्यादि दुःख क्यों कहे जाते हैं? भावार्थ—शङ्काकारका अभिप्राय यह है कि क्या ज्ञानादि गुणोंके समान कोई सुख गुण भी है? और क्या दुःख उसीकी वैभाविक अवस्था है? यदि है तो फिर अज्ञान भाव, मिथ्या भाव, कषाय भाव इनको ही दुःख क्यों कहा गया है क्योंकि गुणोंमें गुण तो रहते नहीं हैं जब दुःख सुखकी वैभाविक अवस्था है तो वह मूर्छित ज्ञान, वैभाविक दर्शन, वैभाविक चारित्रमें कैसे रह सक्ती है? यदि ज्ञानादि गुणोंके समान कोई सुख गुण नहीं है तो फिर मिथ्याभावादिको दुःख किस दृष्टिसे कहा जाता है?

उत्तर—

सत्यं चास्ति सुखं जन्तोर्गुणो ज्ञानगुणादिवत्।
भवेत्तद्वैकृतं दुःखं हेतोः कर्माष्टकोदयात् ॥ १११ ॥

अर्थ—ठीक है, ज्ञानादि गुणोंके समान इस जीवका एक सुख गुण भी है, उसीका वैभाविक भाव दुःख है, और वह आठों कर्मोंके उदयसे होता है। भावार्थ–सुख गुण भी आत्माका एक अनुजीवी गुण है, उस गुणको घात करनेवाला कोई खास कर्म नहीं है जैसे कि ज्ञान, दर्शनादिके हैं किन्तु आठों ही कर्म उसके घातक हैं, आठों कर्मोंके उदयसे ही उस सुख गुणकी दुःखरूप वैभाविक अवस्था होती है। यहां पर यदि कोई शंका करै कि आठों ही कर्मोंमें भिन्न भिन्न प्रतिपक्षी गुणोंके घात करनेकी × भिन्न २ शक्ति है, फिर उन्हींमें सुखके घात करनेकी शक्ति कहांसे आई? इसीका उत्तर देते हैं–

अस्ति शक्तिश्च सर्वेषां कर्मणामुदयात्मिका।
सामान्याख्या विशेषाख्या द्वैविध्यात्तद्रसस्य च ॥ १११२ ॥

× अघातिया कर्मोंमें प्रतिजीवी गुणोंके घात करनेकी शक्ति है।

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंके उदयमें दो प्रकारकी शक्तियां हैं। एक सामान्य शक्ति, एक विशेषशक्ति। इस लिये उनका रस भी दो प्रकार ही होता है।

सामान्य शक्तिका स्वरूप—

सामान्याख्या यथा कृत्स्नकर्मणामेकलक्षणात्।
जीवस्याकुलतायाः स्याद्धेतु पाकागतो रसः ॥ १११३ ॥

अर्थ—समान्य शक्ति सभी कर्मोंकी एक ही है, और वह यही है कि—सम्पूर्ण कर्मोंका उदय रस जीवकी आकुलताका कारण है। भावार्थ—आठों ही कर्मोंके उदयसे जीव व्याकुल होता है। कर्मोंका उदय मात्र ही जीवकी व्याकुलताका कारण है, और जहां व्याकुलता है वहां सुख कहां? इसलिये सभी कर्मोंमें सामान्य शक्ति एक है, उसीसे सुख गुणका घात होता है। विशेष शक्ति उनमें भिन्न २ गुणोंके घात करनेकी है। एक पदार्थमें दो शक्तियां भी होती हैं इसीको दृष्टान्त पूर्वक दिखाते हैं।

न चैतदप्रसिद्धं स्याद दृष्टान्ताद्विषभक्षणात्।
दुःखस्य प्राणघातस्य कार्यद्वैतस्य दर्शनात् ॥ १११४ ॥

अर्थ—कर्मोंमें सामान्य और विशेष ऐसी दो शक्तियां हैं यह बात अप्रसिद्ध—असिद्ध भी नहीं है। दृष्टान्त भी है—विष खानेसे दुःख भी होता है और प्राणोंका नाश भी होता है। इसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म ज्ञानका घात भी करता है और दुःख भी देता है। अन्यान्य कर्मोंमें भी यही बात है। एक ही विषमें दो कार्य देखनेसे कर्मोंमें भी दो कार्य भलीभांति सिद्ध हैं।

सारांश—

कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च।
अस्ति किञ्चिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक् ॥ १११५ ॥

अर्थ—इसलिये आठों ही कर्म सुख गुणके विपक्षी हैं, कोई जुदा खास कर्म सुख गुणका विपक्षी नहीं है।

वेदनीय कर्म सुखका विपक्षी नहीं है—

वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च।
न यतोस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात् ॥ १११६ ॥

अर्थ—यदि वेदनीय कर्मको सुख गुणका विपक्षी कर्म माना जाय तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैन सिद्धान्तसे यह कर्म अघातिया प्रसिद्ध है। भावार्थ—वेदनीय कर्म अघातिया कर्म है, अघातिया कर्म अनुजीवी गुणोंका घात नहीं कर सक्ता है। सुख गुण

आत्माका अनुजीवी गुण है । इसलिये वेदनीय कर्म उसका घातक-विपक्षी नहीं कहा जा सक्ता है । *

असंयत भाव—

असंयतत्वमस्यास्ति भावोप्यौदयिको यतः ।
पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥ ११७ ॥

अर्थ—चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाला असंयतत्व भाव भी आत्माका औदयिक भाव है । भावार्थ—चारित्रमोहनीय कर्म आत्माके चारित्र गुणका घात करता है । चारित्रका नाम ही संयत-संयम है । जब तक चारित्र मोहनीय कर्मका उदय रहता है तबतक आत्मामें संयम नहीं प्रकट होता है । किन्तु असंयम रूप अवस्था बनी रहती है । इसलिये चारित्रमोहके उदयसे होनेवाला असंयत भाव भी आत्माका औदयिक भाव है । इतना विशेष है कि चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्तरोत्तर मन्दतासे उस असंयत भावमें भी अन्तर पड़ता चला जाता है । जैसे-चौथे गुणस्थान तक सर्वथा असंयत भाव है * क्योंकि वहां तक अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय एक देश संयम भी नहीं होने देती । पांचवें गुणस्थानमें एक देश संयम प्रकट हो जाता है । परन्तु वहांपर भी प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे सकल संयम नहीं होने पाता । छठे गुणस्थानसे दशवें गुणस्थान तक सकल संयम तो प्रकट हो जाता है परन्तु संज्वलन कषायका उदय होनेसे यथाख्यात संयम नहीं होने पाता । यद्यपि बारहवें गुणस्थानमें प्रतिपक्षी कर्मका

* इसी प्रकार मोहनीय कर्म भी सुखका विपक्षी नहीं कहा जा सक्ता है, क्योंकि मोहनीय कर्मका नाश दशवें गुणस्थानके अन्तमें हो जाता है, यदि मोहनीय कर्म ही उसका विपक्षी हो तो वहीं पर अनन्त सुख प्रकट हो जाना चाहिये, परन्तु अनन्त सुख तेरहवें गुणस्थानमें प्रकट होता है, जब कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय ये तीनों कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, इसलिये सिद्ध होता है कि चारों ही घातिया कर्मोंमें सुख गुणके घात करनेकी शक्ति है । ऊपर जो आठों ही कर्मोंको सुखका विघातक कहा गया है वह आत्माके पूर्ण स्वरूपकी अप्राप्तिकी अपेक्षासे कहा गया है, वास्तवमें अनुजीवी गुणोंका घात घातिया कर्मोंसे ही होता है । हां दशवें गुणस्थान तक मोहनीयका सम्बन्ध होनेसे आठों ही कर्म सुखके विघातक हैं । चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दर्शनके साथ कुछ अंशोंमें आत्माका सुख गुण भी प्रकट होता है, वह इसीलिये होता है कि घातिया कर्मोंमेंसे अन्यतम मोहनीयका वहां उपशम अथवा क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है । इससे भी यह बात भलीभांति सिद्ध है कि सुखका घातक कोई एक कर्म नहीं है किन्तु सांम्मालित कर्मोंकी सामान्य शक्ति है ।

* सूक्ष्म दृष्टिसे यहां भी स्वरूपाचरण संयम है और वह अनन्तानुबन्धी कर्मके अभावसे होता है ।

सर्वथा नाश हो जानेसे पूर्ण संयम प्रगट हो जाता है तथापि योगादि आनुषङ्गिक दोषोंके कारण उसकी पूर्ण पूर्णता चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें ही कही गई है। जहां पर पूर्ण संयम है उसीके उत्तर क्षणमें मोक्ष हो जाती है। यहां पर शंका हो सकती है कि जब चारित्रका नाम ही संयम है तब चारित्र मोहनीयके उदयसे होनेवाले कषाय भावोंका नाम ही असंयत है फिर औदयिक भावोंमें कषाय भाव और असंयत भावको जुदा जुदा क्यों गिनाया गया है ? इसका उत्तर यही है कि असंयत व्रताभावको कहते हैं और कषाय आत्माके कलुषित परिणामोंको कहते हैं। यद्यपि जहांपर कलुषित परिणाम हैं वहांपर व्रत भी नहीं हो सक्के हैं तथापि कार्य कारणका दोनोंमें अन्तर हैं। कषाय भाव व्रताभावमें कारण हैं। इसीलिये अन्तर्भेदकी अपेक्षासे दोनोंको जुदा २ गिनाया गया है, अर्थात् आत्माकी एक ऐसी अवस्था भी होती है कि जहांपर वह व्रतोंको धारण नहीं कर सक्ता है और वह अवस्था आत्माके कलुषित भावोंसे होती है। कलुषित भावोंका नाम ही कषाय है।

संयमके भेद—

संयमः क्रियया द्वेधा व्यासाद्द्वादशधाऽथवा।
शुद्धस्वात्मोपलब्धिः स्यात् संयमो निष्क्रियस्य च ॥ ११९८ ॥

अर्थ—क्रियाकी अपेक्षासे संयमके दो भेद हैं। अथवा विस्तारकी अपेक्षासे उसके बारह भेद हैं। तथा अपने आत्माकी शुद्धोपलब्धि—शुद्धताका होना ही निष्क्रिय—क्रिया रहित संयमका स्वरूप है। भावार्थ—निष्क्रिय संयमका लक्षण इस प्रकार है—"संसारकारणनिवृत्तिम्प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः समक् चारित्रम्" संसारके कारणोंको दूर करनेवाले सम्यग्ज्ञानीके जिन क्रियाओंसे कर्म आते हैं उन क्रियाओंका शान्त हो जाना ही निष्क्रिय संयम है, अर्थात् संसारको बढ़ानेवाली बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाओंका रुक जाना ही निष्क्रिय संयम है। जितनी शुभ अशुभ प्रवृत्ति रूप क्रियायें हैं सब बाह्य क्रियायें हैं। तथा आत्माके जो अविरतादिरूप परिणाम हैं वे सब अभ्यन्तर क्रियायें हैं, इन दोनों प्रकारकी क्रियाओंकी निवृत्ति हो जाना ही निष्क्रिय संयम है, और वही आत्माकी शुद्धावस्था है। सक्रिय संयम शुभ प्रवृत्ति रूप है उसके दो भेद हैं, अब उन्हें ही कहते हैं।

इन्द्रियां और मनके रोकनेसे होता है।

पञ्चानामिन्द्रियाणां च मनसश्च निरोधनात्।
[illegible] ॥ १२०० ॥

अर्थ—सक्रिय संयमके पहले भेदका नाम इन्द्रिय निरोध संयम है। वह पांचो इन्द्रियां और मनके रोकनेसे होता है।

सांक्रय संयमका दूसरा भेद—

स्थावराणां च पञ्चानां त्रसस्यापि च रक्षणात् ।
असुसंरक्षणाख्यः स्याद्द्वितीयः प्राणसंयमः ॥ ११२० ॥

अर्थ—सक्रिय संयमके दूसरे भेदका नाम असुसंरक्षण है उसीको प्राण संयम भी कहते हैं । वह पांच स्थावर और त्रस जीवोंकी रक्षा करनेसे होता है ।

प्रश्न—

ननु किं नु निरोधित्वमक्षाणां मनसस्तथा ।
संरक्षणं च किन्नाम स्थावराणां त्रसस्य च ॥ ११२१ ॥

अर्थ—मन और इन्द्रियोंको रोकना तो क्या है और स्थावर तथा त्रस जीवोंकी रक्षा करना क्या है ? अर्थात् इन दोनोंका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—

सत्यमक्षार्थसम्बन्धाज्ज्ञानं नासंयमाय यत् ।
तत्र रागादिबुद्धिर्या संयमस्तन्निरोधनम् ॥ ११२२ ॥
त्रसस्थावरजीवानां न वधायोद्यतं मनः ।
न वचो न वपुः क्वापि प्राणिसंरक्षणं स्मृतम् ॥ ११२३ ॥

अर्थ—इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे जो ज्ञान होता है वह असंयम नहीं करता है किन्तु इन्द्रिय पदार्थके सम्बन्ध होने पर उस पदार्थमें जो रागद्वेष परिणाम होते हैं वे ही असंमयको करनेवाले हैं । उन रागद्वेषरूप परिणामोंको रोकना ही इन्द्रिय निरोध संयम है । तथा त्रस स्थावर जीवोंका मारनेके लिये मन वचन कायकी कभी प्रवृत्ति नहीं करना ही प्राण संयम है भावार्थ–इन्द्रिय संमय और प्राण संयम इन दोनों में इन्द्रिय संयम पहले किया जाता है, प्राण संयम पीछे होता है । उसका कारण भी यह है कि बिना इन्द्रिय संयमके हुए प्राण संयम हो नहीं सक्ता । इन्द्रियों लालसाओंका रुक जाना ही इन्द्रिय संयम कहलाता है । जब तक शक्तियोंकी लालसा नहीं रुकती तब तक जीवोंका रक्षण होना असंभव है । जितने अनर्थ होते हैं सब इन्द्रियोंकी लालसासे ही होते हैं * अभक्ष्य तथा हरितादि सजीव पदार्थोंका भक्षण भी यह जीव इन्द्रियोंकी लालसासे ही करता है । यद्यपि पुरुष जानता है कि कन्द मूलादि पदार्थोंमें अनन्त जीवराशि है, तथा अचार आदि पदार्थोंमें त्रस राशि भी है तथापि इन्द्रियोंकी तीव्र लालसासे उन्हें छोड़ नहीं सक्ता । इसलिये सबसे पहले इन्द्रिय संयमका धारण करनेकी बड़ी आवश्यकता है । बिना इन्द्रियोंको वशमें किये किसी प्रकारका धर्म निर्विघ्न नहीं पल सक्ता है । इसी

* मद्यमांसादि अभक्ष्य पदार्थोंके सेवन करनेवाले अनेक त्रसजीवोंका घात करते हैं,

लिये सचित्त त्याग प्रतिमावाला पदार्थोंको अचित्तबनाकर खाता है। हरीको नहीं खाता है, जलको प्रासुक बनाकर पीता है। यद्यपि ऐसा करनेसे वह जीव हिंसासे मुक्त नहीं होता, तथापि जितेन्द्रिय अवश्य हो जाता है। स्वादिष्ट पदार्थोंको अस्वादिष्ट बनानेसे इन्द्रियोंकी लालसायें कम हो जाती हैं ÷ इन्द्रिय संयम पालनेवाला ही आगे चलकर आठवीं आरंभ त्याग प्रतिमामें प्राण संयम भी पालने लगता है। परन्तु संकल्पी हिंसाका त्यागी पहलेसे ही होता है। आठवीं प्रतिमामें आरंभ जनित हिंसाका भी वह त्यागी हो जाता है।

इत्युक्तलक्षणो यत्र संयमो नापि लेशतः *
असंयतत्वं तन्नाम भावोस्त्वौदयिकः स च ॥ ११२४॥

अर्थ—ऊपर कहा हुआ दोनों प्रकारका संयम जहांपर लेश मात्र भी नहीं पाला जाता है वहीं पर असंयत भाव होता है, वह आत्माका औदयिक भाव है।

शंकाकार—

ननु वाऽसंयतत्त्वस्य कषायाणां परस्परम्।
को भेदः स्याच्च चारित्रमोहस्यैकस्य पर्ययात् ॥ ११२५ ॥

अर्थ—असंयत भाव और कषायोंमें परस्पर क्या अन्तर है क्योंकि दोनों ही एक चारित्र मोहनीयकी पर्याय हैं। अर्थात् दोनों ही चारित्र मोहके उदयसे होते हैं ?

÷ इन्द्रियोंकी लालसा घट जानेसे मनुष्य अपना तथा परका बहुत कुछ उपकार कर सक्ता है। अनेक कर्तव्योंमें सफलता प्राप्त कर सकता है। परन्तु उनकी वृद्धि होनेसे मनुष्यका बहुतसा समय इन्द्रिय भोग्य योग्य पदार्थोंकी योजनामें ही चला जाता है। तथा विषयासक्तता में वह निज कर्तव्यको भूल भी जाता है।

* लेशतः पाठसे यह बात प्रकट होती है कि उक्त दोनों संयम यथाशक्ति जघन्य अवस्थामें भी पाले जाते हैं। इसी लिये जो नियम रूपसे पांचवी प्रतिमामें नहीं हैं वे भी पाक्षिक अवस्थामें भी अभ्यास रूपसे हरितादिका त्याग कर देते हैं। कुछ नये विद्वान् पांचवी प्रतिमासे नीचे हरितादिके त्यागका विषेध करते हैं, प्रत्युतः हरितादि भक्षणका विधान करते हैं यह उनकी बड़ी भूल है, क्योंकि विधानका कहीं उपदेश नहीं है जितना भी कथन है सब निषेध मुखसे है चाहे वह थोड़े ही अंशोंमें क्यों न हो। पांचवी प्रतिमामें तो हरितादिका त्याग आवश्यक है, उससे नीचे यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि अभ्यास रूपसे उसका करना प्रशस्य ही है। जितने अंशोंमें भी त्याग मार्ग है उतना ही अच्छा है। इसलिये जो पुरुष व्रती हैं, यदि वे हरीका पर्वोंमें त्याग करते हैं, उपवासादि धारण करते हैं कन्दमूलका त्याग करते हैं तो ऐसी अवस्थामें अवश्य वे शुभ प्रवृत्तिवाले हैं। भले ही वे मन्द ज्ञानी हों परन्तु अनन्त स्थावर जीवोंके वधसे बच जायँगे। जितनी भी प्रतिमायें हैं सभी त्यागकी मर्यादाको आवश्यक बतलाती हैं परन्तु उनसे नीची श्रेणीवाला भी लेश मात्र त्यागी अथवा अभ्यस्त दशामें पूर्ण त्यागी भी बन सक्ता है।

उत्तर—

सत्यंचारित्रमोहस्य कार्यं स्यादुभयात्मकम् ।
असंयमः कषायाश्च पाकादेकस्य कर्मणः ॥ ११२६ ॥

अर्थ—ठीक है चारित्र मोहनीयके ही दो कार्य हैं। उसी एक कर्मके उदयसे असंयम भाव और कषाय भाव होते हैं।

चारित्र मोहनीयके भेद—

पाकाच्चारित्रमोहस्य क्रोधाद्याः सन्ति षोडश ।
नव नोकषायनामानो न न्यूना नाधिकास्ततः ॥ ११२७ ॥

अर्थ—चारित्र मोहनीय कर्मके पाकसे क्रोधादिक सोलह कषायें और नव नो कषायें होती हैं। इन पचीससे न कम होती हैं और न अधिक ही होती हैं।

कषायोंका कार्य—

पाकात्सम्यक्त्वहानिः स्यात् तत्रानन्तानुबन्धिनाम् ।
पाकाच्चाप्रत्याख्यानस्य संयतासंयतक्षतिः ॥ ११२८ ॥
प्रत्याख्यानकषायाणामुदयात् संयमक्षतिः ।
संज्वलननोकषायैर्न यथाख्यातसंयमः ॥ ११२९ ॥

अर्थ—अनन्तानुबन्धि कषायके उदयसे सम्यग्दर्शनका घात होता है। अ प्रत्याख्यान कषायके उदयसे संयमासंयमका घात होता है। प्रत्याख्यान कषायके उदयसे सकल संयमका घात होता है और संज्वलन और नो कषायोंके उदयसे यथाख्यात संयमका घात होता है।

इत्येवं सर्ववृत्तान्तः कारणकार्ययोर्द्वयोः ।
कषायनोकषायाणां संयतस्येतरस्य च ॥ ११३० ॥

अर्थ—यह सम्पूर्ण कथन कषाय नोकषाय संयम और असंयमके कार्य कारणको प्रकट करता है। भावार्थ—कषाय नोकषायका असंयमके साथ कार्य कारण भाव है, और उनके अभावका संयमके साथ कार्य कारण भाव है। इतना विशेष है कि जहां जितनी कषायें हैं वहां उतना ही असंयम है।

किन्तु तच्छक्तिभेदाद्धा नासिद्धं भेदसाधनम् ।
एकं स्याद्वाप्यनेकं च विषं हालाहलं यथा ॥ ११३१ ॥

अर्थ—किन्तु चारित्र मोहनीयमें शक्ति भेदसे भेद साधन असिद्ध नहीं है। जिस प्रकार विषके विष, हालाहल इत्यादि अनेक भेद हो जाते हैं, उसी प्रकार उक्त कर्म भी एक तथा अनेक रूप हो जाता है।

अस्ति चारित्रमोहे पि शक्तिद्वैतं निसर्गतः
एकस्याऽसंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ॥ ११३२ ॥

अर्थ—चारित्र मोह कर्ममें भी स्वभावसे दो शक्तियां हैं–(१) असंयत (२) कषाय।

शङ्काकार—

ननु चैवं सति न्यायात्तत्संख्या चाभिवर्धताम्।
यथा चारित्रमोहस्य भेदाः षड्विंशतिः स्फुटम् ॥ ११३३ ॥

अर्थ—यदि कषाय और असंयतभाव दोनों चारित्र मोहके ही भेद हैं तो चारित्र-मोहनीयकी संख्याका बढ़ना भी न्याय संगत है। पचीसके स्थानमें असंयत भावको मिलाकर छब्बीस भेद उसके होने चाहिये ?

उत्तर—

सत्यं यज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः।
+ आलापापेक्षयाऽसंख्यास्तत्रैवान्यत्र न क्वचित् ॥ ११३४ ॥
नात्र तज्जातिभिन्नास्ता यत्र कार्माणवर्गणाः।
किन्तु शक्तिविशेषोस्ति सोपि जात्यन्तरात्मकः ॥ ११३५ ॥

अर्थ—ठीक है, जहांपर भिन्न भिन्न जातियोंमें बँटी हुई कार्माण वर्गणायें होती हैं, वहीं पर आलाप (भेद) की अपेक्षासे असंख्यात वर्गणायें भिन्न २ होती हैं। अथवा जहां भिन्न जातिवाली वर्गणायें होती हैं वहीं पर आलापकी अपेक्षासे संख्या भेद होता है, जहां ऐसा नहीं होता वहां कर्मोंकी संख्या भी भिन्न नहीं समझी जाती है। यहां पर भिन्न जातिवाली वर्गणायें नहीं हैं किन्तु एक चारित्र मोहनीयकी ही हैं इसलिये चारित्र मोहकी छब्बीसवीं संख्या नहीं हो सक्ती है परन्तु शक्ति भेद अवश्य है, वह भी भिन्न स्वभाव वाला है। भावार्थ—जहां पर जातिकी अपेक्षासे वर्गणाओंमें भेद होता है वहीं पर कर्मोंके नाम भी जुदे २ हो जाते हैं जैसे–मतिज्ञानावरण श्रुतज्ञानावरण आदि। परन्तु जहां पर जातिभेद नहीं है किन्तु शक्ति भेद है वहां पर कर्मोंकी नाम संख्या जुदी जुदी नहीं होती। जैसे–एक ही मतिज्ञानावरण क्षयोपशमके भेदसे अनेक भेदवाला है। दृष्टान्तके लिये धत्तूरको ही ले लीजिये। धत्तूरकी जड़ भिन्न काममें आती है उसके पत्ते भिन्न काममें आते हैं तथा उसके फल भिन्न काममें आते हैं परन्तु वृक्ष एक धत्तूरके नामसे ही कहा जाता है। इसलिये जहां पर शक्ति भेद होता है वहां पर नाम भेद नहीं भी होता। यदि विना जातिभेदके केवल शक्तिभेदसे ही नाम भेद माना जाय तो चारित्र मोहनीयका ही भेद–अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व और चारित्रको घात करनेकी शक्ति रखता है, उसके भेदसे भी चारित्र मोहनीयके छब्बीस भेद होने चाहिये। इसी प्रकार संज्वलन

+ 'आलापापेक्षया संख्या तत्रैवान्यत्र न क्वचित्' ऐसा संशोधित पुस्तकमें पाठ है। यही ठीक प्रतीत होता है इसीलिये ऊपरसे दूसरा अर्थ लिखा गया है।

कषायके कुछ स्पर्धक प्रमत्त भावको पैदा करते हैं, कुछ नहीं करते वहां भी शक्ति भेदसे चारित्र मोहके अधिक भेद होने चाहिये ? इस लिये जहां जातिभेद होता है वहीं पर संख्या भेद भी होता है यहां पर जातिभेद नहीं है । जहां पर जिस जातिकी कषाय है वहां पर उसी जातिका व्रताभाव—असंयत है ।

कषाय और असंयमका लक्षण—

तत्र यन्नाम कालुष्यं कषायाः स्युः स्वलक्षणम् ।
व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः ॥ ११३६ ॥

अर्थ—जीवके कलुषित भावोंका नाम ही कषाय है यही कषायका लक्षण है । तथा जीवके व्रत रहित भावोंका नाम ही असंयम है । भावार्थ—कषायका स्वरूप गोमट्टसारमें भी इस प्रकार कहा है " सुहदुःखसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स, संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति । सम्मत्तदेससयल चरित्तजहखाद् चरण परिणा॥ घादंति वा कषाया चउसोल असंख-लोगमिदा " जिस प्रकार कोई किसान एक वीघा, दो वीघा दश वीघा खेतको जोतता है, जोतनेके पीछे उसमें धान्य पैदा करता है । उसी प्रकार यह कषाय तो किसान है, जीवका कर्मरूपी खेत है, उस खेतकी अनन्त संसार हद (मर्यादा) है, उस खेतको यह कषायरूपी किसान बराबर जोतता रहता है, फिर उससे सासांरिक सुख दुःखरूपी धान्य पैदा करता है । अर्थात् जो जीवके परिणामोंको हलके समान कषता रहे उसे, कषाय कहते हैं । अथवा सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र रूप जीवके शुद्ध परिणामोंको जो घाते उसे कषाय कहते हैं । कषायें चार हैं–(१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ । ये चारों ही क्रमसे चार चार प्रकारके होते हैं उनके दृष्टान्त इस प्रकार हैं–एक तो ऐसा क्रोध जैसे कि पत्थर पर रेखा । एक ऐसा जैसे पृथ्वी पर रेखा । एक ऐसा जैसे धूलिपर रेखा । एक ऐसा जैसे पानीपर रेखा । पत्थर पर की हुई, रेखा गाढ़ होती है, बहुत काल तक तो ऐसी ही बनी रहती है । पृथ्वीपर की हुई उससे कम कालमें नष्ट होजाती है, इसी प्रकार धूलि और जल-रेखायें क्रमसे अति शीघ्र मिट जाती हैं । क्रोध कषायका यही भेद क्रमसे नरक, तिर्यक्, मनुष्य देवगतियोंमें जीवको लेजाता है । जैसे क्रोधकी तीव्रमन्दादिकी अपेक्षासे चार शक्तियां है उसी प्रकार मान, माया, लोभ की हैं । मानके दृष्टान्त–पर्वत, हड्डी, काठ, वेंत । मान कषायको कठोरताकी उपमा दी गई है । पर्वत बिलकुल सीधा रहता है थोड़ा भी नहीं मुड़ता । इसी प्रकार तीव्र मानी सदा पर्वतके समान कठोर और सीधा रहता है, इससे कम दर्जेवाले मानीको हड्डीकी उपमा दी है । हड्डी यद्यपि कठोर है तथापि पर्वतकी अपेक्षा कम है । काठ और वेंतमें क्रमसे बहुत कम कठोरता है । ये चारो मान कषायें भी क्रमसे नरकादि गतियोंमें ले जानेवाली हैं । माताको वक्रता (कुटिलता–टेढ़ापना–मुड़ा हुआ) की उपमा

दी है उसके दृष्टान्त ये हैं–वेणुके नीचेका भाग, भैंसका सींग, गौका मूत्र, खुरपा। वेणुके नीचेका भाग बहुत गांठ गंठीला होता है तथा उत्तरोत्तर कम कुटिलता है। वे चारों माया कषायें भी क्रमसे नरकादि गतियोंमें ले जानेवाली हैं। लोभकी चिक्कणतासे उपमा दी है। उसके दृष्टान्त ये हैं–कृमि राग, अर्थात् हिरमिजीका रंग पहियेकी ओंगन, शरीरका मल, हल्दीका रंग। ये चारों लोभ कषायें भी क्रमसे नरकादि गतियोंमें ले जानेवाली हैं। जीवके व्रत रहित भावोंका नाम असंयम है, किन्हीं परिणामोंमें यह जीव अष्टमूल गुणोंको भी धारण नहीं कर सक्ता है। किन्हीं परिणामोंमें अष्ट मूल गुणोंको धारण कर लेता है परन्तु अणुव्रतोंको नहीं धारण कर सक्ता है। कहींपर अणुव्रतोंको तो धारण कर लेता है परन्तु उनके अतीचारोंको नहीं छोड़ सक्ता है। कहीं पर महाव्रतोंको धारण नहीं कर सक्ता है। जब तक असंयम भावका उदय रहता है तब तक आत्मा व्रतोंको धारण करनेके लिये तत्पर नहीं होता है।

कषाय और असंयमका कारण—

एतद्द्वैतस्य हेतुः स्याच्छक्तिद्वैतैककर्मणः।
चारित्रमोहनीयस्य नेतरस्य मनागपि ॥ ११३७ ॥

अर्थ—कषाय भाव और असंयम भावका कारण–दो शक्तियोंको धारण करनेवाला केवल चारित्र मोहनीय कर्मका उदय है। किसी दूसरे कर्मका उदय इन दोनोंमें सर्वथा कारण नहीं है।

दोनों साथ ही होते हैं—

यौगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयतत्वयोः।
समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोस्य तथोदयात् ॥ ११३८ ॥

अर्थ—कषायभाव और असंयतभाव ये दोनों साथ साथ होते हैं, क्योंकि समान दो शक्तियोंको धारण करनेवाले चारित्र मोहनीय कर्मका उदय ही वैसा होता है।

दृष्टान्त—

अस्ति तत्रापि दृष्टान्तः कर्मानन्तानुबन्धि यत्।
घातिशक्तिद्वयोपेतं मोहनं दृक्चरित्रयोः ॥ ११३९ ॥

अर्थ—दो शक्तियोंको धारण करनेवाले कर्मके उदयसे एक साथ दो भाव उत्पन्न होते हैं इस विषयमें अनन्तानुबन्धी कषायका दृष्टान्त भी है—सम्यग्दर्शन और सम्यक्-चारित्रको घात करने रूप दो शक्तियोंको धारण करनेवाली अनन्तानुबन्धि कषाय जिस समय उदयमें आती है उस समय सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनों ही गुण नष्ट हो जाते हैं।

शंकाकार—

ननु चाप्रत्याख्यानादिकर्मणामुदयात् क्रमात्।
देशकृत्स्नव्रतादीनां क्षतिः स्यात्तत्कथं स्मृतौ ॥ ११४० ॥

अर्थ—जब कि अप्रत्याख्यानके उदयसे देशव्रतकी और प्रत्याख्यानके उदयसे महाव्रतकी क्रम क्रमसे क्षति होती है तब अप्रत्याख्यानके उदय समयमें महाव्रत क्यों नहीं हो जाता क्योंकि उस समय महाव्रतको रोकनेवाला प्रत्याख्यानका तो उदय रहता ही नहीं और यदि अप्रत्याख्यानके उदयकालमें प्रत्याख्यानका भी उदय माना जाय तो दोनोंका क्रमक्रमसे उदय क्यों कहा है ?

उत्तर—

सत्यं तत्राविनाभावो बन्धसत्वोदयं प्रति ।
द्वयोरन्यतरस्यातो विवक्षायां न दूषणम् ॥ ११४१ ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानके उदयकालमें प्रत्याख्यानका भी उदय रहता है इसलिये तो अप्रत्याख्यानके उदयकालमें महाव्रत नहीं होता और पांचवें गुणस्थानमें अप्रत्याख्यानके उदयका अभाव होनेपर भी प्रत्याख्यानका उदय रहता है इसलिये कथंचित् क्रमसे उदय कहा जाता है तथा अप्रत्याख्यानका उदय कहनेसे प्रत्याख्यानका भी उदय आजाता है क्योंकि अप्रत्याख्यानके बंध उदय और सत्त्व प्रत्याख्यानके बंध उदय और सत्त्वके साथ अविनाभावी हैं, अर्थात् प्रत्याख्यानके बंधोदय सत्त्वके बिना अप्रत्याख्यानके बंध उदय सत्त्व नहीं होसकते। इसलिये चौथे गुणस्थान तक दोनोंका उदय रहते हुए भी अप्रत्याख्यानका उदय कहनेमें कोई दोष नहीं आता। अविनाभावी पदार्थोंमें एकका कथन करनेसे दूसरेका कथन स्वयं होजाया करता है। यहां यह शंका होसकती है कि जब अन्यतरका ही (किसी एकका) प्रयोग करना इष्ट है तब अप्रत्याख्यानके स्थानमें प्रत्याख्यानका ही प्रयोग क्यों नहीं किया जाता अर्थात् जैसे अप्रत्याख्यानके उदयसे प्रत्याख्यानके उदयका बोध होता है उसी प्रकार प्रत्याख्यानका उदय कहनेसे अप्रत्याख्यानके उदयका भी बोध हो जाना चाहिये परंतु इसका उत्तर यह है कि अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यानके उदयकी परस्पर विषम व्याप्ति है क्योंकि चौथे गुणस्थान तक अप्रत्याख्यानका उदय तो विना प्रत्याख्यानके उदयके नहीं रहता किंतु पांचवें गुणस्थानमें प्रत्याख्यानका उदय अप्रत्याख्यानके उदयके विना भी रह जाता है। इसलिये अप्रत्याख्यानकी जगह प्रत्याख्यानका प्रयोग नहीं होसकता।

असिद्धत्वभाव—

असिद्धत्वं भवेद्भावो नूनमौदयिको यतः ।
व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातेः कर्माष्टकोदयात् ॥ ११४२ ॥

अर्थ—असिद्धत्वभाव भी औदयिक भाव है। यह भाव आठों कर्मोंके उदयसे होता है। भिन्न २ कर्मोंके उदयसे भी होता है और आठों कर्मोंके सम्मिलित उदयसे भी होता है।

सिद्धत्वगुण—

सिद्धत्वं कृत्स्नकर्मभ्यः पुंसोवस्थान्तरं पृथक्।
ज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीर्याद्यष्टगुणात्मकम्॥ ११४३॥

अर्थ—सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित पुरुषकी शुद्ध अवस्थाका नाम ही सिद्धत्वगुण अथवा सिद्धावस्था है। वह अवस्था ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, वीर्यादि आठ गुण स्वरूप है। **भावार्थ**—ज्ञानावरण कर्मने आत्माके ज्ञानगुणको ढक रक्खा है। जीवोंमें ज्ञानकी जो न्यूनाधिकता पाई जाती है वह ज्ञानावरण कर्मकी न्यूनाधिकताके निमित्तसे ही पाई जाती है। मूर्खोंसे विद्वानोंमें, विद्वानोंसे महाविद्वानोंमें ज्ञानका आधिक्य पाया जाता है उनसे ऋषियोंमें, तथा उनसे महर्षियों और गणधरोंमें ज्ञानका आधिक्य उत्तरोत्तर होता गया है परन्तु यह सब ज्ञान क्षयोपशमरूप ही है। जहां पर ज्ञानावरणरूपी पर्दा सर्वथा हट जाता है वहीं पर यह आत्मा समस्त लोकालोकको जाननेवाला सर्वज्ञ हो जाता है। उस सर्वज्ञ-ज्ञानमें समस्त पदार्थोंकी समस्त पर्यायें साक्षात् झलकती हैं। हर एक आत्मामें सर्वज्ञ-ज्ञानको प्राप्त करनेकी शक्ति है परन्तु ज्ञानावरण कर्मने उस शक्तिको मेघोंसे ढके हुए सूर्यके समान छिपा दिया है। इसी प्रकार दर्शन गुणको दर्शनावरण कर्मने ढक रक्खा है। संसारमें जो जीव देखे जाते हैं उनमें कितने तो ऐसे हैं जो केवल पदार्थोंको छूना ही जानते हैं, उनके मुह, नाक, आंख, कान, नहीं होते, दृष्टान्तके लिये वृक्षको ही ले लीजिये। वृक्षके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय है उसीसे वह पानीका स्पर्श कर वृद्धि पाता है। इसी कोटिमें पृथिवीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वाले जीव भी हैं। इन जीवोंके पृथिवी आदि ही शरीर हैं इसलिये हम सिवा उस पृथ्वी जल आदि स्थूल शरीरके उनका प्रत्यक्ष नहीं कर सक्ते हैं। उन जीवोंकी चेतना कर्मोंसे गहरी आच्छादित है इसलिये केवल वृक्ष पर्वतादिकी वृद्धिसे उनका अनुमान कर लेते हैं। कुछ जीव पदार्थोंको छूते हैं और चखते हैं। उनके पहले जीवोंकी अपेक्षा एक मुंह (रसना इन्द्रिय) अधिक है। इन जीवोंकी चेतना कर्मोंके कुछ मंद होनेसे पदार्थके रसका अनुभव भी कर सक्ती है। कुछ जीवोंमें पदार्थोंकी गन्ध जाननेकी भी शक्ति है ऐसे जीवोंके नासिका इन्द्रिय भी होती है इस श्रेणीमें चींटियां, मकोड़े आदि जीव आते हैं। इन जीवोंके आंखे कान नहीं होते हैं। भ्रमर, बर्रे, मक्खी आदि जीव देख भी सक्ते हैं। और कुछ जीव सुन भी सक्ते हैं। और कुछ जीव ऐसे होते हैं जो मनमें पदार्थोंका अनुभव भी करते हैं। इस श्रेणीमें मनुष्य पशु आदि आते हैं। यहांपर विचारनेकी यह बात है कि जैसे मनुष्य आंखसे जितना देखता है क्या वह उतनी ही देखनेकी शक्ति रखता है? नहीं, वह सम्पूर्ण आत्मासे समस्त पदार्थोंके देखनेकी शक्ति रखता है, परन्तु देखता क्यों नहीं? देखता इस लिये नहीं, कि वह आंख रूपी झरोखेसे परतन्त्र हो रहा है। दर्शनावरण कर्मने

उसके दर्शन गुणको ढक दिया है केवल थोड़ासा क्षयोपशम होनेसे वह आंख रूपी झरोखेसे देख सक्ता है । जिन जीवोंके इतना भी क्षयोपशम नहीं होता वे विचारे इतना भी नहीं देख सक्ते अर्थात् उनके आंख भी नहीं होती, जैसा कि पहले कहा गया है । इसका दृष्टान्त स्पष्ट ही है जैसे एक आदमी बंद मकानमें बंद कर दिया जाय तो वह बाहरकी वस्तुओंको नहीं देख सक्ता है । परन्तु उस मकानकी यदि एक खिड़की खोल दी जाय तो वह खिड़कीके सामने आये हुए पदार्थोंको देख सक्ता है यदि दूसरी खिड़की भी खोल दी जाय तो उसके सामने आए हुए पदार्थोंको भी वह देख सक्ता है । इसी प्रकार पूर्व पश्चिमकी तरह उत्तर दक्षिणकी तरफकी खिड़की भी यदि खोल दी जाय तो उधरके पदार्थोंको भी वह देख सक्ता है। यदि सब मकानकी भित्तियोंको गिरा दिया जायं और चौपट कर दिया जाय तो वह आदमी चारों ओरके पदार्थोंको देख सक्ता है । दूसरा दृष्टान्त दर्पणका ले लीजिये । एक विशाल दर्पण पर यदि काजल पोत दिया जाय तो उसमें सर्वथा मुंह दिखाई नहीं देता है । परन्तु उसी दर्पण पर एक अंगुली फेर कर उसका अंगुलीके बराबरका भाग स्वच्छ कर दिया जाय तो उतने ही भागमें दीखने लगेगा । यदि दो अंगुली फेरी जायँ तो कुछ अधिक दीखने लगेगा इसी प्रकार तीन चार पांच अंगुलियोंके फेरनेसे बहुत अच्छा दीखने लगेगा । कपड़ेसे अच्छी-तरह पूरे दर्पणको साफ कर दिया जाय तो सर्वथा स्पष्ट और पूर्णतासे दीखने लगेगा । इसी प्रकार आत्मामें सम्पूर्ण पदार्थोंके देखनेकी शक्ति है परन्तु दर्शनावरण कर्मने उस शक्तिको ढक रक्खा है । उसीके निमित्तसे आत्मा इन्द्रियरूपी झरोखोंके बन्धनमें पड़कर पदार्थको स्पष्टतासे नहीं देख सक्ता है । और न सूक्ष्म और दूरवर्ती पदार्थको ही देख सक्ता है । आत्मा जब दर्शनावरण कर्मके बन्धनसे मुक्त होता है तब वह इन्द्रियोंकी सहायतासे नहीं देखता है, किन्तु आत्मासे साक्षात् देखने लगता है उसी समय अखिल पदार्थोंका वह प्रत्यक्ष भी कर लेता है जैसे कि खिड़कीसे देखनेवाला मकानको फोड़ देनेसे खिड़कियोंकी सहायताके विना आसपासके समस्त पदार्थोंको देख लेता है । वेदनीय कर्म अनेक प्रकारसे सांसारिक सुख दुःख देता रहता है । यद्यपि वेदनीय कर्म अघातिया है तथापि रति कर्म और अरति कर्मका सम्बन्ध होनेके कारण वह आत्माको आघात पहुंचाता है* इसीलिये वेदनीय कर्मका पाठ घातिया कर्मोंके बीचमें दिया है। जबतक वेदनीय कर्मका सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा सांसारिक सुख दुःखकी बाधासे बाधित रहता है । वेदनीय कर्मके दो भेद हैं (१) साता (२) असाता । असाताके उदयसे तो इस जीवको असाता होती ही रहती है परन्तु साताके उदयसे जो साता होती है वास्तवमें वह भी असाता ही है। संसारी जीव सदा दुःखोंसे सन्तप्त रहता है इसलिये

* ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें गुणस्थानोंमें रति अरतिका उदय न होनेसे वेदनीय कर्म कुछ नहीं कर सक्ता ।

साताके उदयसे जो सुखसा प्रतीत होने लगता है उसे ही वह सच्चा सुख समझता है। वास्तवमें वह सुख नहीं है किन्तु दुःखकी कमी है। सांसारिक सुखका उदाहरण ऐसा है जैसे किसी आदमीमें कोई मुद्गरकी मार लगावे और लगाते २ थक जाय तो उस समय पिटनेवाला समझता है कि अब कुछ साता मिली है। ठीक इसी प्रकार दुःखकी थोड़ी कमीको ही यह जीव सुख समझने लगता है। सांसारिक सुखके विषयमें स्वामी समन्तभद्राचार्यने कहा है 'कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये। पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता। अर्थात् (१) सांसारिक सुख कर्मोंके अधीन हैं। जब तक शुभ कर्मोंका उदय है तभी तक है। (२) इसी लिये उसका अन्त भी शीघ्र हो जाता है (३) बीच बीचमें उसके दुःख भी आते रहते हैं (४) और पापका बीज है अर्थात् जिन बातोंमें संसारी सुख समझता है वे ही बातें पापबन्धकी कारणभूत हैं इसलिये सांसारिक सुख दुःखका कारण अथवा दुःख रूप ही है। वेदनीय कर्मका अभाव हो जानेसे आत्मा अव्याबाध गुणका भोक्ता हो जाता है। आत्माके उस निराकुल स्वरूप अव्याबाध (बाधा रहितपना) गुणको वेदनीय कर्मने ढक रक्खा है मोहनीय कर्मके विषयमें पहले बहुत कुछ कहा जा चुका है। आठों कर्मोंमें एक यही कर्म अनर्थोंका मूल है। यह कर्म सब कर्मोंका राजा है। यही आठों कर्मोंके बन्धका कारण है। मोहनीय कर्ममें दूसरे कर्मोंसे एक बड़ी विशेषता यही है कि दूसरे गुण तो अपने प्रतिपक्षी गुणोंको ढकते ही हैं परन्तु मोहनीय कर्म अपने प्रतिपक्षी गुणको विपरीत स्वादु बना देता है। यह कर्म आत्माके प्रधान गुण सम्यक्त्व और चारित्रका घात करता है। इसी कर्मने जीवोंको कुपथगामी—भ्रष्ट—अनाचारी तथा रागी द्वेषी बना रक्खा है। इस कर्मके दूर हो जानेसे आत्मा परम वीतराग—शुद्धात्मानुभवी हो जाता है। आयु कर्म बेड़ीका काम करता है। जिस प्रकार किसी दोषीको बेड़ीसे जकड़ देने पर फिर वह कहीं जा नहीं सक्ता, इसी प्रकार यह संसारी जीव भी गतिरूपी जेलखानोंमें आयुरूपी बेड़ीसे जकड़ा रहता है जब तक आयु कर्म रहता है तब तक इसे मृत्यु भी नहीं उठा सक्ती है। नरकगतिमें वर्णनातीत दुःखोंको सहन करता है परन्तु आयु कर्म वहांसे टलने नहीं देता है। आयु कर्मके चार भेद हैं, उनमें तिर्यगायु, मनुष्यायु, देवायु ये तीन आयु शुभ हैं। नरकायु अशुभ है। आयु कर्मके उदयसे यह जीव कभी किसी शरीरके आकारमें बंधा रहता है कभी किसी शरीरके आकारमें बंधा रहता है परंतु अपने वास्तविक स्वरूपका अवगाहन नहीं करता है, अर्थात् अपने स्वरूपमें नहीं ठहर पाता है। इसलिये आयुकर्मने जीवके अवगाहन गुणको छिपा रक्खा है।

नाम कर्मने आत्माके सूक्ष्मत्व गुणको रोक रक्खा है। इस कर्मके उदयसे आत्मा गति, जाति, शरीर, अंग, उपांग, आदि अनेक प्रकारके अनेक रूपोंको धारण करता हुआ स्थूल पर्यायी बन गया है। वास्तवमें गत्यादिक विकारोंसे रहित—अमूर्तिक आत्माका सूक्ष्म स्वरूप

है । परन्तु नाम कर्मने उस सूक्ष्मताको छिपा दिया है । जिस प्रकार किसी कारखानेका एक इञ्जन अनेक कार्योंको करता है, उसी प्रकार नामकर्म भी आत्माको अनेक रूपोंमें घुमाता है । नाम कर्मकी उपमा एक बहु रूपधारी—बहुरूपियासे ठीक घटती है । जिस प्रकार बहु रूपोंको धारण करनेवाला बहुरूपिया अपने असली सूक्ष्म स्वरूपको छिपा रखता है, उसी प्रकार नाम कर्मने आत्माके असली—सूक्ष्म स्वरूपको छिपा रक्खा है और स्थूल पर्यायोंसे उसे बहु रूप-धारी—बहुरूपिया बना रक्खा है ।

आत्मा अनन्त गुणधारी, निर्विकार शुद्ध है उसमें न नीचता है और न उच्चता है वह सदा एकसा है, परन्तु गोत्र कर्मने उसे ऊंच नीच बना रक्खा है । नीच गोत्रके उदयसे यही अनन्त गुण धारी आत्मा कभी नीच कहलाने लगता है और उच्च गोत्रके उदयसे कभी उच्च कहलाने लगता है । गोत्र कर्मका कार्य गोमट्टसारमें इसप्रकार है 'संताणक्कमेणा-गय जीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा, उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं, अर्थात् कुल परम्परासे चला आया जो जीवका आचरण है उसकी गोत्र संज्ञा है । उस कुल परम्परामें यदि उच्च आचरण है तो वह उच्च गोत्र कहलाता है । यदि निंद्य हीन आचरण हो तो वह नीच गोत्र कहलाता है । यद्यपि उच्च नीच गोत्रमें आचरणकी अवश्य प्रधानता है, परन्तु साथ ही कुल परम्पराकी भी प्रधानता अवश्य है । अन्यथा किसी क्षत्रिय राजाके जो पुत्र होता है वह जन्म दिनसे ही उच्च कहलाने लगता है । इसी प्रकार एक चाण्डालके जो पुत्र होता है वह जन्म दिनसे ही नीच कहलाने लगता है । यदि उच्च नीचका आचरणसे ही सम्बन्ध हो तो जन्म दिनसे लोक उन्हें उत्तम और नीच क्यों समझने लगते हैं । उन्होंने अभी कोई आचरण नहीं प्रारंभ किया है । यदि कहा जाय कि उन्होंने आचारण भले ही न किया हो परन्तु उनके माता पिता तो अपने आचरणोंसे उच्च नीच बने हुए हैं, उन्हींके यहां जो बालक जन्म लेता है वह भी उसी श्रेणीमें शामिल किया जाता है तो सिद्ध हुआ कि साक्षात् आचरण उच्च नीचका कारण नहीं है, किन्तु कुल परम्परा ही प्रधान कारण है । गोत्र कर्मका लक्षण बनाते हुए स्वामी पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें भी यही कहा है—यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रं, यदुदयाद्गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्, जिसके उदयसे लोकपूजित कुलोंमें जन्म हो उसे उच्चगोत्र कहते हैं । और जिसके उदयसे निंद्य कुलोंमें जन्म हो उसे नीचगोत्र कहते हैं । इस उच्चगोत्र नीचगोत्रके लक्षणसे यह बात स्पष्ट है कि कुल परम्परासे ही उच्चता नीचताका व्यवहार होता है । साक्षात् आचरणोंसे नहीं होता । इसका कारण भी यही है कि गोत्र कर्मका उदय वहींसे प्रारंभ होजाता है जहांसे कि यह जीव एक पर्यायको छोड़कर दूसरी पर्यायमें जाने लगता

है। अर्थात् विग्रहगतिमें ही उच्च अथवा नीच कर्मका उदय प्रारंभ होजाता है, और जैसा कर्मका उदय होता है वैसी ही इस जीवको पर्याय मिलती है इसीलिये—उस कर्मोदयके कारण ही उस जीवको जन्म समयसे ही संसार उच्च नीचका व्यवहार करने लगता है। लोकमें यह व्यवहार भी प्रसिद्ध है कि कोई आदमी यदि ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर शिल्पीका कार्य करने लगे तो लोग उसे यही कह कर पुकारते हैं कि यह जातिका तो ब्राह्मण है परन्तु हीन कर्म करता है, उसे हीन कर्म करते हुए भी उस पर्यायमें शूद्र कोई नहीं कहता है। यदि साक्षात् आचारणोंसे ही वर्ण व्यवस्था मान ली जाय तो उच्च गोत्र कर्म और नीच गोत्र कर्मका उदय ही निरर्थक है। कर्मोदयको निरर्थक मान लेनेसे संसारका सब रहस्य ही उठ जाता है। आयु कर्मका बन्ध नित्य होता है वह छूटता नहीं है और जीवको उस पर्यायमें नियमसे ले जाता है। यदि इसको भी अकिंचित्कर समझ लिया जाय तो फिर जीवका घूमना ही बन्द हो जाय परन्तु जब तक कर्म हैं तब तक ऐसा होना असंभव है। वे अपना शुभाशुभ फल देते ही हैं। दूसरी बात यह भी है कि एक मनुष्यने जीवनभरमें कोई काम न किया हो, वैसे ही पड़े २ आनंदसे जीवन बिताया हो तो उस जीवनमें संसार उसे किस वर्णका कहकर पुकारेगा? उससे उच्चताका व्यवहार किया जायगा या नीचताका? क्योंकि उसने साक्षात् आचरण तो कोई किया नहीं है। विना साक्षात् आचरणके वर्ण व्यवस्था नहीं मानने वालोंके मतसे उसे वर्ण रहित कहें अथवा चारों वर्णोंसे अतिरिक्त कुल हीन--पञ्चमवर्णवाल, कहें? क्योंकि उसके साथ उच्चता अथवा नीचताका कुछ न कुछ व्यवहार करना ही होगा। उस व्यवहारका आधार वहां आचरण तो है नहीं, इसलिये विना कुल परम्परासे आई हुई उच्चता नीचताको स्वीकार किये किसी प्रकार काम नहीं चल सक्ता। जो लोग कुलागत वर्ण व्यवस्थाका लोप करते हैं वे अविचारितरम्य-कर्म विजयी साहसी हैं। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे लोग भी माता पिताको उपदेश देते हुए कहा करते हैं यदि तुम योग्य पुत्र चाहते हो तो अपने भाव उन्नत रक्खो, तुम्हारे जैसे भाव होंगे पुत्रमें भी वे भाव होंगे, इस उपदेशसे स्वभावकृत संस्कारोंका ही प्राधान्य सिद्ध होता है।* इसलिये गुण कर्मसे नहीं,

* यदि स्वभावकृत उच्चता नीचता न हो, और संस्कारोंको कारणता न मानी जाय तो भारतवासी क्यों लार्ड घरानों—राज घरानोंके शासकोंको चाहते हैं? इसीलिये न, कि वे स्वभावसे उदारचेता होते हैं? स्वभावसे जैसे कुलमें यह जीव उत्पन्न होता है वैसे मार्गपर स्वयं चलने लगता है, इस विषयमें एक दृष्टान्त है कि किसी जंगलमें एक गीदड़का बच्चा सिंहिनीके हाथ लग गया। सिंहिनीने उसे छोटा—प्यारा होनेके कारण पाल लिया। जब सिंहिनीके बच्चे पैदा हुए तब वह गीदड़ उन्हींके साथ खेलने लगा। एकबार सब बच्चे किसी दूसरे

किन्तु स्वभावसे ही गोत्र व्यवस्था न्यायसङ्गत है। परम्परा गुण कर्म भी कारण हैं। इस प्रकारकी उच्चता और नीचता इस गोत्र कर्मके कारण ही आत्मा प्राप्त करता है, गोत्र कर्मके अभावमें वह अगुरुलघु है। न तो बड़ा है और न छोटा है, यह छोटा बड़ा उच्च नीच व्यवहार कर्मसे होता है। गोत्र कर्मने आत्माके उस अलौकिक अगुरुलघु गुणको छिपा दिया है। अन्तराय कर्मने आत्माकी वीर्य शक्तिको नष्ट कर रक्खा है। वीर्य शक्ति आत्माका निज गुण है, उसीको आत्मिक बलके नामसे पुकारा जाता है। शारीरिक बल और आत्मिक बलमें बहुत अन्तर है। शारीरिक बलवालोंसे जो कार्य नहीं हो सक्ते हैं वे आत्मिक बल वालोंसे अच्छी तरह हो जाते हैं। योगियोंमें यद्यपि शारीरिक बल नहीं है वे तपस्वी हैं साथ ही क्षीण शरीरी भी हैं परन्तु आत्मिक बल उनमें बहुत बढ़ा हुआ है उसीका प्रभाव है कि वे इतने साहसी हो जाते हैं कि सिंहोंसे भरे हुए अति भयानक जंगलमें निर्भय होकर ध्यान लगाते हैं। यह उनके आत्मिक बलका ही परिणाम है। बहुतसे विद्वान् मानसिक बलको ही आत्मीक बल समझते हैं उन्हें यह पूंछना चाहिये कि वह मानसिक बल ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तब तो सिद्ध हो चुका कि ज्ञानसे बल दूसरा गुण है, परन्तु ज्ञानमें वह सहायक अवश्य है, उसीके निमित्तसे मानसिक ज्ञानमें उसकी उपचरित कल्पना कर ली आती है। जितनी जिसकी आत्मिक बल शक्ति प्रबल है। उतना ही उसका ज्ञान भी पुष्ट होता है यदि ज्ञानसे वह अभिन्न है तो उसमें बल शब्दका प्रयोग किस आशयसे किया जाता है? इसलिये यह बात निर्धारित है कि ज्ञानसे अतिरिक्त एक वीर्य नामा भी आत्माकी शक्ति है। उस शक्तिका शारीरिक बलसे सम्बन्ध अवश्य है। बाह्य शक्ति अन्तरंग शक्तिमें सहायक है। आत्मा जितना किसी पदार्थका ज्ञान करता है उतनी अन्तरंग बल शक्ति भी साथ ही उसमें सहायता पहुंचाती है। इसीलिये आचार्योंने

जंगलमें निकल गये, वहां हाथियोंका झुण्ड देखकर उनपर वे सिंहिनीके बच्चे, सिंह टूट पड़े, परन्तु इस भयास्पद कौतुकसे गीदड़ डरकर पीछे भागा। सिंहिनीके बच्चे भी अपने बड़े भाईको लौटता हुआ देख लौट तो पड़े परन्तु उनसे न रहा गया, वे मातासे बोले मा! आज हमें बड़े भाईने हाथियोंकी शिकारसे रोक दिया है यह ठीक नहीं किया है। सिंहिनीने मनमें सोचा कि इसका कुल तो गीदड़ोंका है इसलिये इसमें डरपोक स्वभाव मेरे पास रहनेपर भी आ ही जाता है। उसने एकान्तमें उस गीदड़को बुलाकर उसे हितकर यह उपदेश दिया "शूरोसि कृतविद्योसि दर्शनीयोसि पुत्रक! यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्नो गजस्तत्र न हन्यते" हे पुत्र! तू शूरवीर है, विद्यावान् है, देखनेमें योग्य है, परन्तु जिस कुलमें तू पैदा हुआ है उस कुलमें हाथी नहीं मारे जाते इसलिये तू शीघ्र ही अब यहांसे भाग जा, अन्यथा ये मेरे बच्चे तुझे कहां तक बचायें रक्खेंगे। तात्पर्य यही है कि कुलका संस्कार कितना ही विद्यावान् क्यों न हो, आ ही जाता है। वह उस पर्यायमें नहीं मिटता।

केवलज्ञानके अन्तर्गत अनन्त वीर्यका सद्भाव बतलाया है। जहां पर आत्मामें वह अनन्त वीर्य शक्ति प्रकट हो जाती है वहां फिर शारीरिक बलकी उसे आवश्यक्ता नहीं पड़ती है। उस अनन्त वीर्य शक्तिको अन्तराय कर्मने रोक रक्खा है। जितना २ अन्तराय कर्मका क्षयोपशम होता जाता है उतना २ ही आत्मिक बल क्षयोपशम रूपसे संसारी जीवोंमें पाया जाता है। उसी अन्तराय कर्मके दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ऐसे पांच भेद हैं। किसी सेठके यहां बहुतसा धन भी है परन्तु उसके देनेके परिणाम नहीं होते, समझना चाहिये उसके दानान्तराय कर्मका उदय है। दो आदमी एक दिन और एक ही साथ व्यापार करने निकलते हैं, एक उसमें हानि उठाता, एक लाभ उठाता है, समझना चाहिये कि एकका अन्तराय कर्म तीव्र है, एकका मन्द है। भोग्य–योग्य सामग्री रक्खी हुई है परन्तु उसे किसी कारणसे भोग नहीं सक्ता है, समझना चाहिये उसके भोगान्तराय कर्मका उदय है। अन्तराय कर्मने आत्माकी वीर्यादि शक्तियोंको रोक रक्खा है। इस प्रकार आठों ही कर्मोंने आत्माकी अनन्त अचिन्त्य शक्तियोंको छिपा दिया है इसलिये आत्माकी असली अवस्था प्रकट नहीं हो पाती। आत्मा अल्पज्ञानी नहीं है, अल्पदृष्टा भी नहीं है, मिथ्या दृष्टिभी नहीं है, दुःखी भी नहीं हैं, शरीरावगाही भी नहीं है, स्थूल भी नहीं है, छोटा बड़ा भी नहीं है, और अशक्त भी नहीं है, किन्तु वह अनन्त ज्ञानी–सर्वज्ञ है, सम्यग्दृष्टि है, सर्व द्रष्टा है, अनन्त शक्तिशाली है, सूक्ष्म है, अगुरुलघु है, आत्मावगाही है, अव्याबाध–बाधा रहित है। इन्ही अचिन्त्य शक्तियोंसे जब आत्मा विकसित होने लगता है अर्थात् जब ये आठ गुण उसके प्रकट होजाते हैं तभी वह सिद्ध कहलाने लगता है। आत्माकी शुद्ध अवस्थाका नाम ही सिद्ध है। अथवा ज्ञानादि–शक्तियोंके पूर्ण विकाशका नाम ही सिद्ध है। इसी अवस्थाका नाम मोक्ष है। आत्माकी शुद्धावस्था–सिद्धावस्थाको छोड़ कर मोक्ष और कोई पदार्थ नहीं है। कर्म मल कलङ्कसे रहित आत्माकी स्वाभाविक अवस्थाको ही मोक्ष कहते हैं * जब तक कर्मोंका सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा मुक्त नहीं कहा जा सक्ता। अर्हन्त देवके यद्यपि घातिया कर्मोंके नष्ट हो जानेसे स्वाभाविक गुण प्रकट हो गये हैं तथापि अघातिया कर्मोंके सद्भावसे प्रतिजीवी गुण प्रकट नहीं हुए हैं आयुकर्मने अभी तक उन्हें शरीरावगाही ही बना रक्खा है। वेदनीय कर्म यद्यपि अर्हन्त देवके

* निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाध सुखमात्यन्तिकमवस्थान्तरं मोक्ष इति। अर्थात् समस्त कर्म मल कलङ्कसे रहित अशरीर आत्माकी अचिन्त्य–स्वाभाविक ज्ञानदर्शन सुखवीर्य अव्याबाधा स्वरूप अवस्थाका नाम ही मोक्ष है।

कुछ सुख दुःख नहीं पहुंचा सक्ता है क्योंकि उसके परम सहायक मोहनीय कर्मको वे नष्ट कर चुके हैं, अपने सखाके वियोगमें वेदनीय भी सर्वथा क्षीण हो चुका है ÷ तथापि योगके निमित्तसे अभी तक कर्मोंका आना जाना लगा हुआ है, यद्यपि अब उन कर्मोंको आत्मामें स्थान नहीं मिल सक्ता है, स्थान देनेवाली आकर्षण शक्तिको तो वे पहले ही नष्ट कर चुके हैं तथापि योगद्वारके खुले रहनेसे अभी तक वेदनीयके आने जानेकी बाधा सी (वास्तवमें कुछ बाधा नहीं है) लगी हुई है । इस प्रकार अघातिया कर्मोंने आत्माकी प्रतिजीवी शक्तियोंको × छिपा रक्खा है । और घातिया कर्मोंने इसकी अनुजीवी शक्तियोंको छिपा रक्खा है । उपर्युक्त कथनसे यह बात भली भांति सिद्ध हो जाती है कि आठों ही कर्मोंके उदयसे असिद्धत्व भाव होता है और उनके अभावमें आत्मा सिद्ध हो जाता है । *

+ णट्ठाय राय दोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो ।
तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं ॥

गोमट्टसार ।

अर्थात् केवली भगवानके (अर्हन्तके) रागद्वेष सर्वथा नष्ट हो चुका है, इन्द्रियजन्य ज्ञान भी नष्ट हो चुका है, इसलिये उनके साता असाता वेदनीयसे होनेवाला इन्द्रियजन्य सुखदुःख नहीं होता है ।

× सत्तात्मक गुणत्व रहित—कर्मोंके अभावसे होनेवाली अवस्थाको ही प्रतिजीव शक्ति कहते हैं।

* अट्ठवियकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ।

गोमट्टसार ।

अर्थ—सिद्धोंका स्वरूप इस प्रकार है—(१) अष्टकर्मसे रहित (२) वीतरागी-परमशान्त (३) रागद्वेष-मलसे सदाके लिये मुक्त (४) नित्य-फिर संसारमें कभी नहीं लौटनेवाले (५) अष्टगुण सहित (६) कृतकृत्य—निष्क्रिय—सृष्टिके निर्माता नहीं (७) (७) लोकाग्रभागमें निवास करनेवाले । इन विशेषणोंसे परमतोंका खण्डन भी होजाता है । पर मतवाले ईश्वरका स्वरूप—मुक्त जीवका स्वरूप इस प्रकार मानते हैं—' सदाशिवः सदाकर्मा सांख्यो मुक्तं मुखोज्झितं, मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिं । क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो यौगश्च मन्यतेऽकृतकृत्यं तमीशानो मण्डली चोर्ध्वगाभिनम्, अर्थात् शिव मतवाले मुक्त जीव ईश्वरको सदा कर्म रहित मानते हैं, उसे अनादिसे ही कर्म रहित मानते हैं, परन्तु वास्तवमें ईश्वर ऐसा नहीं है । सभी जीवोंके पहले कर्ममल होते हैं पीछे उनका नाश करनेवाले ईश्वरीय अवस्थाको प्राप्त करते हैं । संसार पूर्वक ही मुक्ति होती है । जो कर्मबन्धनसे छूटता है वही मुक्त कहलाता है इसी बातको प्रकट करनेके लिये सिद्धोंका विशेषण—अष्ट कर्म रहित, दिया है अर्थात् पहले वे कर्मोंसे सहित थे पीछे कर्मोंसे छूटे हैं । सांख्य सिद्धान्त मुक्त जीवको सुख रहित मानता है, परन्तु वास्तवमें मुक्त जीवके संसारी जीवोंकी अपेक्षा परम—अलौकिक—अनन्त

जब तक संसार है सिद्धावस्था नहीं होती—

नेदं सिद्धत्वमेति स्यादसिद्धत्वमर्थतः।
यावत्संसारसर्वस्वं महानर्थास्पदं परम् ॥ ११४४ ॥

सुख प्रकट होजाता है–इसीलिये सिद्धोंका परम शान्त–परम सुखी ऐसा विशेषण दिया है। मस्करी–मस्कफूर मतवाले मुक्त जीवका फिर संसारमें आना स्वीकार करते हैं इसको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये सिद्धोंका विशेषण–निरञ्जन दिया है, अब उनके रागद्वेष अञ्जन नहीं है इसलिये अब वे कभी कर्मोंके जालमें नहीं आ सकते हैं। कर्मोंका कारण राग द्वेष है। जब कारण ही नहीं तो कार्य भी किसी प्रकार नहीं हो सक्ता है। इसलिये एकवार मुक्त हुए जीव फिर कभी नहीं संसारमें लौटते। आर्य समाज भी मुक्त जीवका लौटना स्वीकार करते हैं, उनका सिद्धान्त भी मिथ्या है। बौद्ध दर्शन मुक्त जीव (पदार्थ मात्र) को क्षणिक मानता है परन्तु सर्वथा क्षणिकता सर्वथा बाधित है, सर्वथा क्षणिक मानने पर मुक्ति संसार आदि किसी पदार्थकी व्यवस्था नहीं बन सकती है इसीलिये सिद्धोंका नित्य विशेषण दिया है। सिद्ध सदा नित्य है वे सदा सिद्ध पर्यायमें ही रहेंगे। उनमें अनित्यता कभी नहीं आसक्ती है। योगदर्शन मुक्त जीवको निर्गुण मानता है, नैयायिक और वैशेषिक भी मुक्त जीवके बुद्धि सुखादि गुणोंका नाश मानते हैं। ऐसा मानना सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि जीव गुण स्वरूप ही है। गुणोंका नाश माननेसे जीवका ही नाश हो जाता है। दूसरे–गुण नित्य होते हैं उनका नाश होना ही असंभव है। तीसरे–उक्त दर्शनवाले ही जीवका और गुणोंका समवाय सम्बन्ध बतलाते हैं और समवाय सम्बन्ध उन्हींके मतमें नित्य स्वीकार किया है, नित्य भी कहना और नाश भी कहना स्वयं उनके मतसे ही उनका मत बाधित करना है। इसलिये गुणोंका सिद्धोंमें नाश नहीं होता किन्तु उनमें गुण पूर्ण रूपसे प्रकट हो जाते हैं इसीसे सिद्धोंका 'अष्ट गुणसहित' विशेषण दिया है। ईशान मतवाले मुक्त जीवको कृतकृत्य नहीं मानते हैं अर्थात् मुक्त जीवको भी अभी काम करना बाकी है ऐसा उनका सिद्धान्त है इसी सिद्धान्तके अन्तर्गत ईश्वरको सृष्टि कर्ता माननेवाले आते हैं। परन्तु शरीर रहित, इच्छा रहित, क्रिया रहित मुक्त जीवके सृष्टिका करना हरना कुछ नहीं हो सक्ता है। सृष्टि सदासे है। उसका करना, हरना भी असिद्ध ही है। और उपर्युक्त तीन बातोंसे रहित मुक्त जीवके भी उसका करता, हरता असिद्ध है। इसीलिये सिद्धोंका 'कृतकृत्य' विशेषण दिया है। सिद्ध सदा वीतराग–अलौकिक–आत्मोत्थ–परमानन्दका आस्वादन करते हैं उन्हें कोई कार्य करना नहीं है। मण्डली नामक सिद्धान्त मुक्त जीवको सदा ऊर्द्धगमन करता हुआ ही मानता है अर्थात् मुक्त जीव जबसे ऊपर गमन करता है तबसे बराबर करता ही रहता है कहीं ठहरता ही नहीं। इस सिद्धान्तका निराकरण–'लोकाग्रनिवासी, इस विशेषणसे हो जाता है। जहां तक धर्म द्रव्य है वहीं तक अनंत शक्ति होनेके कारण एक समयमें ही मुक्त जीव चला जाता है, धर्म द्रव्यके अभावसे आगे नहीं जा सक्ता। धर्म द्रव्य लोक तक है इसलिये सिद्ध जीव लोकाग्रमें ठहर जाते हैं।

अर्थ—जब तक महा अनर्थोंका घर संसार ही इस जीवका सब कुछ है। तब तक इसके सिद्धत्वभाव नहीं होता है किन्तु असिद्धत्व रहता है भावार्थ–जब तक इस जीवके अष्ट कर्मोंका सम्बन्ध है तब तक इसके सिद्ध पर्याय नहीं होती है। जीवकी अशुद्ध पर्याय संसारावस्था है। इसके छूटने पर उसकी शुद्ध पर्याय प्रकट हो जाती है। उसीका नाम सिद्ध पर्याय है।

लेश्या–भाव—

लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः ।
यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवोदयोद्भवाः ॥ ११४९ ॥

अर्थ—लेश्याओंके छह भेद हैं–१ कृष्ण २ नील ३ कापोत ४ पीत ५ पद्म ६ शुक्ल। इन्हीं छह भेदोंसे लेश्यायें प्रसिद्ध हैं। लेश्यायें भी जीवके औदयिक भाव हैं। क्योंकि लेश्यायें योग और कषायोंके उदयसे होती हैं। कर्मोंके उदयसे होनेवाले आत्माके भावोंका नाम ही औदयिक भाव है। भावार्थ–कषायोंके उदयसे रंजित योग प्रवृत्तिका नाम लेश्या है। गोमट्टसारमें भी लेश्याका लक्षण इसी प्रकार है–जोग पउत्ती लेस्सा कसाय उदयाणु–रंजिया होई। तत्तोदोण्णं कज्जं बंधचउक्कं सुदिट्ठं। अर्थात् कषायोंके उदयसे अनुरंजित (सहित) योगोंकी प्रवृत्तिका नाम ही लेश्या है। कर्मके ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम योग है अर्थात् अंगोपांग और शरीर नाम कर्मके उदयसे मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और कायवर्गणा इन तीन वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणाका अवलम्बन करनेवाली–कर्म ग्रहण करनेकी जो जीवकी शक्ति है उसीका नाम योग है। उस योगके उक्त तीन वर्गणाओंके अवलम्बन करनेसे तीन भेद हो जाते हैं (१) मनोयोग (२) वचनयोग (३) काययोग। जिस वर्गणाका अवलम्बन होता है, योगका नाम भी वही होता है, परन्तु किसी भी एक योगसे कर्म नोकर्म सभीका ग्रहण होता है। इतना विशेष है कि एक समयमें एक ही योग होता है। योगोंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध होते है। जिस जातिकी योगप्रवृत्ति होती है उसी जातिका कर्मग्रहण होता है। इस जीवके प्रति समयमें अनन्तानन्त वर्गणाओंका समूहरूप–एक समय प्रबद्ध ÷ आता है। उसके आनेमें योग ही कारण है। योगके निमित्तसे ज्ञानावरणादि अष्टकर्म और आहारादि नोकर्म अनन्तानन्त परमाणुओंके परिणामको लिये हुए खिंच आते हैं। जो कर्म आते हैं उनमें तीन प्रकारकी वर्गणायें होती हैं (१) गृहीत–जिनको इस जीवने पहले भी कभी ग्रहण किया था (२)

÷ परमाणूहिं अणंतहिं वग्गणसण्णा हु होदि एक्का हु।
ताहि अणंताहि णियमा समयपबद्धो हवे एक्को।

गोमट्टसार।

अर्थात् अनन्त परमाणुओंकी मिलकर वर्गणा संज्ञा है। ऐसी २ अनंत वर्गणाओंका समूह समय प्रबद्ध कहलाता है।

अगृहीत–जिनको पहले कभी ग्रहण नहीं किया था (३) गृहीतागृहीत जिनमेंसे कुछको पहले ग्रहण किया था, कुछको नवीन ग्रहण किया है। योगके साथ ही कषायोंका उदय रहता है। वह आए हुए कर्मोंमें स्थिति अनुभाग बन्ध डालता है। आये हुए कर्म–आत्माके साथ बँधे हुए कर्म कितने काल ठहरेंगे, और उनमें कितना रस पड़ा है यह कार्य कषायोंका है। अर्थात् कर्मोंमें नियमित काल तक स्थिति डालना और उनकी इस शक्तिमें हीनाधिकता करना कषायोंका कार्य है। जिस प्रकार योगोंकी तीव्रतासे अधिक कर्मोंका ग्रहण होता है उसी प्रकार कषायोंकी तीव्रतासे कर्मोंमें स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध अधिक पड़ता है। मन्द कषायोंसे मन्द पड़ता है। इस प्रकार प्रकृतिबंध * प्रदेशबंध योगसे होते हैं। स्थिति बंध अनुभाग बन्ध कषायसे होते है। योग कषायके समुदायका नाम ही लेश्या है। इसलिये लेश्या ही चारों बंधोंका कारण है। लेश्याके दो भेद हैं (१) भावलेश्या (२) द्रव्यलेश्या। वर्णनाम कर्मके उदयसे जो शरीरका रंग होता है उसे ही द्रव्य लेश्या कहते हैं। द्रव्य लेश्या जन्म पर्यन्त एक जीवके एक ही होती है। जिसका जैसा शरीरका रंग होता है वही उसकी द्रव्य लेश्या समझनी चाहिये। द्रव्य लेश्याके रंगोंके भेदसे अनेक भेद होजाते हैं। स्थूलतासे द्रव्य लेश्याके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल ऐसे छह भेद हैं। तथा प्रत्येकके उत्तर भेद अनेक हैं। वर्णकी अपेक्षासे भ्रमरके समान कृष्णलेश्या, नीलमणि (नीलम) के समान नीललेश्या, कबूतरके समान कापोती लेश्या, सुवर्णके समान पीत लेश्या, कमलके समान पद्मलेश्या, शंखके समान शुक्ललेश्या होती है। इनमें प्रत्येकके तरतम वर्णकी अपेक्षासे अथवा मिश्रकी अपेक्षासे अनेक भेद हैं। तथा इन्द्रियोंसे ग्राह्यताकी अपेक्षासे संख्यात भेद हैं। स्कन्धोंकी अपेक्षासे असंख्यात भेद हैं। परमाणुओंकी अपेक्षासे अनन्त भेद हैं। गतिओंकी अपेक्षासे सामान्य रीतिसे द्रव्यलेश्याका विधान इस प्रकार है–सम्पूर्ण नारकियोंके कृष्णलेश्या ही होती है। कल्पवासी देवोंके जैसी भाव लेश्या

* प्रकृति स्वभावको कहते हैं। जैसे अमुक पुरुषका कठोर स्वभाव है, अमुकका सरल है, स्वभावके निमित्तसे उस स्वभावी पुरुषका भी वही नाम पड़ जाता है जैसे–कठोर स्वभाववाले पुरुषको कठोर कह देते हैं। सरल स्वभाववाले पुरुषको सरल कह देते हैं। इसी प्रकार किन्हीं कर्मोंमें ज्ञानके घात करनेकी प्रकृति–स्वभाव है। उस प्रकृतिके निमित्तसे उस कर्मको भी उसी प्रकृतिके नामसे कह देते हैं जैसे–ज्ञानावरण कर्म। यद्यपि ज्ञानावरण–ज्ञानका आवरण करना उसका स्वभाव है तथापि स्वभाव स्वभावीमें अभेद होनेसे स्वभावीको भी ज्ञानावरण कह देते हैं। सभी कर्मोंको इसी प्रकार समझना चाहिये। इस प्रकार आठों प्रकृतियों वाले आठों कर्मोंका बन्ध होना प्रकृति बंध कहलाता है। इतना विशेष है कि आयुकर्मका बंध उदयागत आयुके त्रिभागमें होता है। शेष सातों कर्मोंका प्रति समय होता है।

होती है वैसी ही द्रव्यलेश्या भी होती है । भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, मनुष्य, तिर्यञ्च, इनके छहों द्रव्यलेश्यायें होती हैं । उत्तम भोगभूमिवालोंकी सूर्यके वर्णके समान, मध्यम भोग भूमिवालोंकी चन्द्रके वर्णके समान, जघन्य भोगभूमिवालोंकी हरित द्रव्यलेश्या होती है । विग्रहगतिवाले जीवोंकी शुक्ललेश्या होती है । इस प्रकार शरीर नाम कर्म और वर्ण नाम कर्मके उदयसे यह जीव जैसा शरीर ग्रहण करता है वैसी ही द्रव्यलेश्या इसके होती है। परन्तु द्रव्यलेश्या कर्मबन्धका कारण नहीं है । कर्मबन्धका कारण केवल भाव लेश्या है । कषायोदय जनित–परिष्पन्दात्मक आत्माके भावोंका नाम ही भाव लेश्या है । द्रव्य लेश्याके समान भावलेश्याके भी कृष्णादिक छह भेद हैं, परन्तु द्रव्यलेश्याके समान भावलेश्या सदा एकसी नहीं रहती है किन्तु वह बदलती रहती है । यहांपर भावलेश्याका थोड़ासा विवेचन कर देना आवश्यक है, क्योंकि भावलेश्याके अनुसार ही यह जीव शुभाशुभ कर्मोंका * बन्ध करता है । कषायोंके उदयस्थान असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं । उनमें बहु भाग तो अशुभ लेश्याओंके संक्लेशरूप स्थान होते हैं और एक भाग प्रमाण शुभ लेश्याओंके विशुद्ध स्थान होते हैं। परन्तु सामान्यतासे ये दोनों भी असंख्यात लोक प्रमाण ही होते हैं । कृष्णादि छहों लेश्याओंके शुभ स्थानोंमें यह आत्मा जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त मंद मंदतर मन्दतम रूपसे परिणमन करता है और उन्हींके अशुभ स्थानोंमें उत्कृष्टसे जघन्य पर्यन्त तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र रूपसे परिणमन करता है । इसप्रकार प्रत्येकमें इन छह रूपोंसे हानि वृद्धि होती रहती है । इस आत्माके संक्लेश परिणामोंकी जैसी २ कमी होती है, वैसे २ ही यह आत्मा कृष्णको छोड़कर नील लेश्यामें आता है, और नीलको छोड़कर कापोती लेश्यामें आता है । तथा संक्लेशकी क्रमसे वृद्धि होनेपर कपोतसे नील और नीलसे कृष्ण लेश्यामें आता है । इस प्रकार संक्लेश भावोंकी हानि वृद्धिसे यह आत्मा तीन अशुभ लेश्याओंमें परिणमन करता है । तथा विशुद्धिकी वृद्धि होनेसे क्रमसे पीतसे पद्म तथा पद्मसे शुक्लमें आता है। और विशुद्धिकी हानि होनेसे क्रमसे शुक्लसे पद्म और पद्मसे पीत लेश्यामें आता है, इसप्रकार विशुद्ध भावोंकी हानि वृद्धिसे यह आत्मा शुभ लेश्याओंमें परिणमन करता है । सामान्य रीतिसे चौथे गुणस्थान तक छहों लेश्यायें होती हैं । पांचवे, छठे, सातवें, इन तीन गुणस्थानोंमें पीतपद्मशुक्ल ही होती हैं । ऊपरके गुणस्थानोंमें केवल शुक्ल लेश्या ही होती है । लेश्याओंकी सत्ता तेरहवें गुण स्थानतक बतलाई गई है वह उपचारकी अपेक्षासे बतलाई

---

* लिम्पइ अप्पी कीरइ एदाये णियमपुण्ण पुण्णं च, जीवोत्ति होदि लेस्सा, लेस्सा गुण जाणयक्खादा । गोमट्टसार ।

अर्थात् जिन भावोंसे यह आत्मा पुण्य पापका बन्ध करता है उन्हीं भावोंको आचार्योंने लेश्या कहा है ।

गई है । वास्तवमें लेश्याओंका सद्भाव दशवें गुणस्थानतक ही है क्योंकि वहीं तक कषायोंके उदय सहित योगोंकी प्रवृत्ति है । ऊपरके गुणस्थानोंमें कषायोदय न होनेसे लेश्याओंका लक्षण ही नहीं जाता है । इसलिये ग्यारहवें बारहवें और तेरहवें गुणस्थानोंमें उपचारसे लेश्या कही गई है * उपचारका भी यह कारण है कि इन गुणस्थानोंमें अभी योग प्रवृत्तिका सद्भाव है । यद्यपि कषायोदय नहीं है तथापि दशवें गुणस्थान तक कषायोदयके साथ २ होनेवाली योग प्रवृत्ति अब भी है इसलिये योग प्रवृत्तिके सद्भावसे तथा भूत पूर्व नयकी अपेक्षासे उपर्युक्त तीन गुणस्थानोंमें उपचारसे लेश्याका सद्भाव कहा गया है + चौदहवें गुणस्थानमें योग प्रवृति भी नहीं है इसलिये वहां उपचारसे भी लेश्याका सद्भाव नहीं है । विशेष—नारकियोंके कृष्ण नील कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें ही (भावलेश्या) होती हैं ! मनुष्य तिर्यञ्चोंके छहों लेश्यायें हो सक्ती हैं । भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क देवोंके आदिसे पीत पर्यन्त लेश्यायें होती हैं परन्तु इनकी अपर्याप्त अवस्थामें अशुभ होती हैं । तथा आदिके चार स्वर्गों तक पीत लेश्या होती है तथा पद्मका जघन्य अंश होता है । बारहवें स्वर्ग तक पद्म लेश्या तथा शुक्ल लेश्याका जघन्य अंश होता है । इनसे ऊपर शुक्ल लेश्या होती है । परन्तु नौ अनुदिश और पांच अनुत्तर विमानोंमें शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है । सम्पूर्ण लेश्याओंका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है । कृष्णलेश्याका उत्कृष्ट काल तेतीस सागर है । नील लेश्याका सत्रह सागर है । कापोत लेश्याका सात सागर है । पीत लेश्याका दो सागर है । पद्मलेश्याका अठारह सागर है (शुक्ल लेश्याका कुछ अधिक तेतीस सागर है । छहों लेश्याओं वाले जीवोंकी पहचानके लिये उन लेश्याओंवाले जीवोंके कार्य इस प्रकार हैं—कृष्ण लेश्यावाला जीव—तीव्र क्रोध करता है, वैरको नहीं छोड़ता है । युद्धके लिये सदा प्रस्तुत रहता है, धर्म, दयासे रहित होता है, दुष्ट होता है, और किसीके वशमें नहीं आता है ।* नील लेश्या वाला जीव—मंद, विवेकहीन, अज्ञानी, इन्द्रियलम्पट, मानी मायावी, आलसी, अभिप्रायको छिपाने वाला, अति निद्रालु, ठग, और धन धान्य लोलुप होता है ।×

---

* "मुख्याभावे, सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते" अर्थात् जहां पर मुख्यका अभाव हो परन्तु कोई प्रयोजन अथवा निमित्त अवश्य हो वहीं पर उपचार कथन होता है ।

+ णट्ठकसाये लेस्सा उच्चदि सा भूदपुव्व गदिणाया, अहवा जोगपउत्ती मुक्खोत्ति तहिं हवे लेस्सा । गोमट्टसार ।

* चंडो ण मुचइ वेरं, भंडण सीलो च य धर्मदय रहिओ ।
दुट्ठो णय एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स

× मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलोय ।
माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेज्जो य ।
णिद्दा वंचण बहुलो धण धण्णे होदि तिव्वसण्णाय ।
लक्खणमेयं भणियं समासदो णीललेस्सस्स ।

कपोत लेश्यावाला जीव–क्रोधी, अन्यकी निंदा करनेवाला, दूसरोंको दोषी कहनेवाला, शोक और भय करनेवाला दूसरेकी सम्पत्ति पर डाह करनेवाला, दूसरे का तिरस्कार करनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवाला, दूसरे पर विश्वास नहीं करनेवाला, अपने समान दूसरोंको (दुष्ट) समझनेवाला स्तुति करनेवाले पर प्रसन्न होनेवाला, अपने हानि लाभको नहीं समझनेवाला, रणमें मरनेकी इच्छा रखनेवाला, अपनी प्रशंसा करनेवालेको धन देनेवाला, और कार्य अकार्यको नहीं समझने वाला होता है।+ पीत लेश्यावाला जीव- कार्य अकार्य तथा सेव्य असेव्यको समझनेवाला, सबोंपर समान भाव रखनेवाला, दया रखनेवाला, और दान देनेवाला होता है। * पद्म लेश्यावाला जीव–दानी, भद्र परिणामी, सुकार्यकारी, उद्यमी, सहनशील, और साधु–गुरु पूजक होता है ÷ शुक्ल लेश्यावाला जीव–पक्षपात रहित, निदान बन्ध नहीं करनेवाला समदर्शी इष्ट अनिष्ट पदार्थोंसे राग द्वेष रहित, और कुटुम्बसे ममत्व रहित होता है × छहों लेश्याओंवाले जीवोंके विचारोंके विषयमें एक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है–छह पथिक जंगलके मार्गसे जा रहे थे, मार्ग भूलकर वे घूमते हुए एक आमके वृक्षके पास पहुंच गये। उस वृक्षको फलोंसे भरा हुआ देखकर कृष्णलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं इस वृक्षको जड़से उखाड़कर इसके आम खाऊंगा, नीललेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं जड़से तो इसे उखाड़ना नहीं चाहता किन्तु स्कन्ध (जड़से ऊपरका भाग) से काटकर इसके आम खाऊंगा। कपोतलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं तो बड़ी २ शाखाओंको ही गिरा कर आम खाऊंगा। पीतलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं बड़ी २ शाखाओंको तोड़कर समग्र वृक्षकी हरियालीको क्यों नष्ट करूँ, केवल इसकी छोटी २

+ रूसइ णिंदइ अण्णे, दूसइ बहुसो य सोय भय बहुलो।
असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो॥
णय पत्तियइ परं सो अप्पाणं पिव परंपि मण्णंतो।
थूसइ अभित्थुवंतो णय जाणइ हाणि वड्ढिं वा॥
मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं पि थुव्वमाणोदु।
ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स॥
÷ जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्व समपासी।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स॥
* चागी भद्दो चोक्खो उज्जव कम्मो य खमदि बहुगंपि।
साहु गुरु पूजण रदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स॥
× णय कुणइ पक्खवायं णविय णिदाणं समोय सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा णेहोवि य सुक्कलेस्सस्स॥

गोमट्टसार।

डालियों (टहनियों) को तोड़कर ही आम खाऊँगा। पद्मलेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि मैं तो इसके फलोंको ही तोड़कर खाऊंगा। शुक्ललेश्यावालेने अपने विचारोंके अनुसार कहा कि तुम तो फलोंके खानेकी इच्छासे इतना २ बड़ा आरंभ करनेके लिये उद्यत हो, मैं तो केवल वृक्षसे स्वयं टूटकर गिरे हुए फलोंको ही बीनकर खाऊंगा। इन्ही लेश्यागत भावोंके अनुसार यह आत्मा आयु और गतियोंका बन्ध करता है। जैसी इसकी लेश्या (भाव) होती है उसीके अनुसार आयु और गतिका बन्ध इसके होता है। परन्तु सम्पूर्ण लेश्यागत भावोंसे आयुका बन्ध नहीं होता है किन्तु मध्यके आठ अंशो द्वारा ही होता है। अर्थात् लेश्याओंके सब छब्बीस अंश हैं। उनमें मध्यके आठ अंश ऐसे होते हैं जो कि आयु बन्धकी योग्यता रखते हैं। उन्हींमें आयुका बंध होसक्ता है। बाकीके अंशोंमें नहीं हो सक्ता। ये मध्यके आठ अंश आठ अपकर्ष कालोंमें होते हैं। अपकर्ष नाम घटनेका है अर्थात् मुज्यमान आयुके दो भाग घट जानेपर अवशिष्ट एक भागके प्रमाण अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण कालका नाम अपकर्षकाल है। इन्हीं कालोंमें आयुबन्धके योग्य लेश्याओंके मध्यके आठ अंश होते हैं। परन्तु जिस अपकर्षमें आयुबन्धके योग्य आठ मध्यम अंशोंमेसे कोई अंश होगा उसी अपकर्षमें आयुका बन्ध होगा औरोंमें नहीं। इसीलिये किसीके आठों अपकर्षोंमें आयुका बन्ध होसक्ता है, किसीके सब अपकर्षोंमें नहीं होता किन्तु किसी २ में होता है। किसीके आठों ही अपकर्षोंमें नहीं होता है। जिसको आठों ही अपकर्षोंमें बन्धकी योग्यता नहीं मिलती हैं उसके आयुके अन्त समयमें एक आवलिका असंख्यातवां भाग शेष रह जाने पर उससे पहले अन्तर्मुहूर्त्तमें अवश्य आयु बन्ध होता है। दृष्टान्तके लिये—कल्पना करिये एक मनुष्यकी ६६६१ वर्ष की मुज्यमान (वर्तमान—उदय प्राप्त) आयु है। उसके पहला अपकर्ष काल २१८७ वर्ष शेष रह जाने पर पड़ेगा। इस कालके प्रथम अन्तर्मुहूर्तमें यदि आयुबंधके योग्य आठ मध्यम अंशोंमेंसे कोई अंश हो तो परभवकी आयुका बंध हो सकता है। यदि यहां पर कोई अंश न पड़े तो ७२९ वर्ष शेष रहने पर दूसरा अपकर्ष काल पड़ेगा वहां आयुका बन्ध हो सकता है। यदि वहां भी आयुबंधकी योग्यता नहीं मिली तो तीसरा अपकर्षकाल २४३ वर्ष शेष रह जाने पर पड़ेगा। इसी प्रकार ८१ वर्ष शेष रहने पर चौथा, २७ वर्ष शेष रहने पर पांचवा, ९ वर्ष शेष रहने पर छठा, ३ वर्ष शेष रह जानेपर सातवां और मुज्यमान आयुमें कुल १ वर्ष शेष रह जानेपर आठवां अपकर्षकाल पड़ेगा। उन आठोंमेंसे जहां बंधकी योग्यता हो वहीं पर आयुका बंध हो सकता है। सबोंमें योग्यता हो तो सबोंमें हो सकता है। यदि कहीं भी योग्यता न हो तो मरण समयमें अवश्य ही परभवकी आयुका बंध होता है। इतना विशेष कि जिस अपकर्षमें जैसा लेश्याका अंश पड़ता है उसीके अनुसार शुभ या अशुभ आयुका

बंध होता है। इसीलिये आचार्योंका उपदेश है कि परिणामोंको सदा उज्ज्वल बनाओ, नहीं मालूम किस समय आयुका त्रिभाग पड़ जाय। मरण कालमेंसे तो अवश्य ही क्रोधादिका त्याग कर शान्त हो जाओ क्योंकि मरणकालमें तो आयुबंधकी पूर्ण संभावना है। इसीलिये समाधि मरण करना परम आवश्यक तथा परम उत्तम कहा गया है। *

उपर्युक्त आयुबन्धके योग्य आठ अंशोंको छोड़कर बाकीके अठारह अंश योग्यतानुसार चारों गतियोंके कारण होते हैं। अठारह अंशोंमेंसे जैसा अंश होगा उसीके योग्य गति बन्ध होगा। शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए जीव नियमसे सर्वार्थसिद्धि जाते हैं। उसीके जघन्य अंशसे मरे हुए जीव बारहवें स्वर्ग तक जाते हैं तथा मध्यम अंशसे मरे हुए आनतसे ऊपर सर्वार्थसिद्धिसे नीचे तक जाते हैं। पद्मलेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए जीव सहस्रार स्वर्ग जाते हैं उसके जघन्य अंशसे मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग जाते हैं और मध्यम अंशसे मरे हुए इनके मध्यमें जाते हैं। पीतलेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मरे हुए सनत्कुमार माहेन्द्र तक जाते हैं। उसके जघन्य अंशसे मरे हुए सौधर्म ईशान स्वर्गतक जाते हैं और मध्यम अंशसे इनके मध्यमें जाते हैं। इसप्रकार इन शुभलेश्याओंके अंशों सहित मरकर जीव स्वर्ग जाते हैं। और कृष्णलेश्या, नीललेश्या कापोतीलेश्याओंके उत्कृष्ट जघन्य मध्यम अंशोंसे मरे हुए जीव सातवें नरकसे लेकर पहले नरक तक यथायोग्य जाते हैं। तथा भवनत्रिकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तकके देव और सातों पृथिवियोंके नारकी अपनी२ लेश्याओंके अनुसार मनुष्यगति अथवा तिर्यञ्च गतिको प्राप्त होते हैं। इतना विशेष है कि जिस गति सम्बन्धी आयुका बन्ध होता है उसी गतिमें जाते हैं, बाकीमें नहीं। क्योंकि आयुबन्ध छूटता नहीं है। गतिबन्ध छूट भी जाता है। आयुका अविनाभावी ही गतिबन्ध उदयमें आता है। बाकीकी उदीरणा हो जाती है। तथा गतिबन्धके होनेपर भी मरण समयमें जैसी लेश्या होती है उसीके अनुसार उसी गतिमें नीचा अथवा ऊंचा स्थान इस जीवको मिलता है। उपर्युक्त लेश्याओंके विवेचनसे यह बात भलीभांति सिद्ध है कि अनर्थोंका मूल कारण लेश्यायें ही हैं। इस पञ्चपरावर्तनरूप अनादि अनन्त—मर्यादारहित संसार समुद्रमें यह आत्मा इन्हीं लेश्याओंके निमित्तसे गोते खा रहा है। कभी अशुभलेश्याओंके उदयसे नरक तिर्यञ्च गतिरूप गहरे भ्रमरमें पड़कर घूमता हुआ नीचे चला जाता है, और कभी शुभ लेश्याओंके उदयसे मनुष्य, देव गतिरूप तरंगोंमें पड़कर ऊपर उछलने लगता है, जिस समय यह आत्मा नीचे जाता है उस समय अति व्याकुल तथा चेतना हीनसा होजाता है, जिस समय ऊपर आता,

* देव नारकियोंके भुज्यमान आयुके छह महीना, और भोग भूमियोंके नौ महीना शेष रह जानेपर परभवकी आयुका बन्ध होता है। उनके उतने ही कालमें आठ अपकर्षकालकी योग्यता होती है। इनकी किसी कारण वश अकालमृत्यु नहीं होती है इसलिये इनमें विशेषता है।

है उस समय भी यद्यपि तीव्र तरंगोके झकोरोंसे शान्ति लाभ नहीं करने पाता है तथापि नीचेकी अपेक्षा कुछ शान्ति समझने लगता है। इसी लिये कतिपय विचारशील उस भ्रमरजालसे बचनेके लिये अनेक शुभ उद्योग करते हैं। बुद्धिमान पुरुषोंका कर्तव्य है कि वे छहो लेश्याओंके स्वरूपको उनके कार्योंको उनसे होनेवाले आयु बन्ध और गति बन्ध आदिको समझकर अशुभलेश्याओंको छोड़ दें, और शुभ लेश्याओंको ग्रहण करें। अर्थात् तीव्र क्रोध, धर्महीनता, निर्दयता, स्वात्म प्रशंसा, परनिंदा, मायाचार आदि अशुभ भावोंका त्यागकर समता, दया भाव, दानशीलता, विवेक धर्मपरायणता आदि शुभ भावोंको अपनावें इसी लिये गोमट्टसारके आधारपर लेश्याओंका इतना विवेचन किया गया है। परन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे वास्तविक विचार करनेपर शुभ तथा अशुभ दोनों लेश्यायें इस संसारसमुद्रमें ही डुबानेवाली हैं। अशुभ लेश्या तो संसार समुद्रमें डुबाती ही हैं परन्तु शुभ लेश्या भी उससे उद्धार नहीं कर सक्ती। क्योंकि वह भी तो पुण्य बंधका ही कारण है, और जब तक इस आत्माके साथ बन्ध लग, हुआ है तब तक यह आत्मा परम सुखी नहीं होसक्ता है। इसलिये जो अशुभ तथा शुभ दोनों प्रकारकी लेश्याओंसे रहित हैं वे ही परमसुखी—सदाके लिये कर्मबन्धनसे मुक्त—अनन्त गुण तेजोधाम, वीतराग—निर्विकार—कृतकृत्य—स्वात्मानुभूतिपरमान्दनिमग्न—सिद्ध परमेष्ठी हैं। उन्ही परम मङ्गलस्वरूप सिद्ध भगवानके ज्ञानमय चरणारविन्दोंको हृदय मंदिरमें स्थापित कर तथा उन्हींकी बार बार भावना कर इस ग्रन्थराजकी यह सुबोधिनी टीका यहीं समाप्त की जाती है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुंदकुंदार्यो जैन-धर्मोस्तु मंगलं ॥१॥

(मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी वीर सं० २४४४.)



हमारे यहां

नीचे लीखे ग्रंथ मिलते हैं-

आदिपुराण-

मूल श्लोक और सरल हिंदी भाषानुवाद सहित मोटे मजबूत कागजपर खुले पत्रोंमें छपा हुआ। मूल्य १६) रु.

धर्मप्रश्नोत्तर—सकलकीर्त्याचार्य विरचित धर्मप्रश्नोत्तरका सरल हिंदी अनुवाद। मूल्य २) रु.

धर्मरत्नोद्योत—छंदोबद्ध उपदेशी ग्रंथ। मूल्य १) रु.

जिन शतक—श्री समंतभद्राचार्य विरचित चित्रबद्ध श्लोक, कविवर नरसिंह कृत संस्कृत टीका, सरल हिंदी भाषानुवाद तथा श्लोकोंके चित्र सहित। मूल्य ।।।)

दीवाली पूजन— मूल्य =)

इनका डाक खर्च अलग।

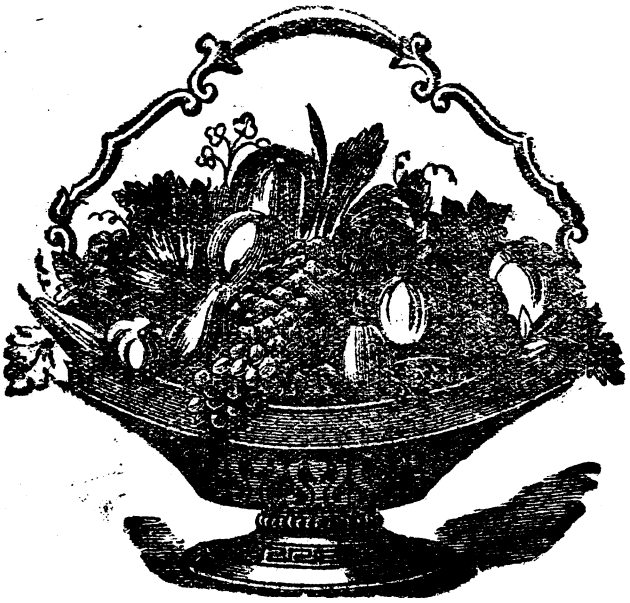
उत्तरपुराण-

सरल हिंदी भाषानुवाद सहित शुद्ध और पवित्र प्रेसमें छप रहा है।

पता—

लालाराम जैन

मल्हारगंज, इंदौर।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org